# साहित्य समीक्षा

## के

## पाश्चात्य मानदण्ड

डा० राजेन्द्र वर्मा

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

प्रथम संस्करण
१९७०

मूल्य:
साधारण संस्करण : आठ रुपये
पुस्तकालय संस्करण : दस रुपये

मुद्रक:
मॉडर्न प्रिन्टरी लिमिटेड
५५, कड़ावघाट मेनरोड
इन्दौर-२

# परिचायिका

प्रस्तुत ग्रंथ—"साहित्य समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड" केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रेरित योजना के अन्तर्गत लिखा गया है। हिन्दी राज्यों में विश्वविद्यालय-स्तर की अच्छी पुस्तकें लिखने के लिए केन्द्र सरकार ने प्रत्येक राज्य को एक करोड़ रुपये का अनुदान दिया है। इस अनुदान से इन राज्यों में स्वायत्त संस्थानों का निर्माण हुआ, जो अपने राज्यों के तथा राज्यों के बाहर के लेखकों को विश्वविद्यालय-स्तर की पुस्तकें लिखने का आमंत्रण देती हैं।

इस ग्रंथ के लेखक डॉ. राजेन्द्र वर्मा अंग्रेजी भाषा के ही लेखक हैं, परन्तु प्रस्तुत रचना उन्होंने हिन्दी में की है। उनका मन्तव्य है कि आलोचना-शास्त्र की ऐसी पुस्तक लिखी जाये जो पाश्चात्य मानदण्ड से हिन्दी साहित्य को परिचित करे। डॉ. राजेन्द्र वर्मा ने अपने हाल ही में प्रकाशित ग्रंथ "टी. एस. ईलियट और राजनीति दर्शन" ('T. S. Eliot and Political Philosophy') की रचना अंग्रेजी में की। इस पर प्रमुख शोध-पत्रों में प्रशंसात्मक टीका प्रकाशित हुई। इंग्लैंड, जर्मनी और फ्रांस में भी इस पर "रिव्यू" निकले और सर्वत्र इसका आदर हुआ। उन्होंने महात्मा गाँधी की शहादत पर अपनी अंग्रेजी कविताओं का संकलन ('Gandhi Killing & other Poems') हाल ही में प्रकाशित किया था। इसके पहले १९६० में उनकी गवेषणापूर्ण पुस्तक 'Tagore Prophet against Totalitarism' प्रकाशित हुई थी, जिसकी पाण्डुलिपि उन्होंने आँक्सफर्ड में तैयार की थी। आजकल वे 'Time Concepts in the poetry of T. S. Eliot' (टी. एस. ईलियट के काव्य में काल और अनन्त) विषय पर ग्रंथ लिख रहे हैं।

अपने अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन और लेखन के कारण, 'साहित्य-समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड' को हिन्दी जगत और विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर तथा शोध छात्रों तक पहुँचाने का उनका प्रस्तुत प्रयत्न साधिकार है।

समीक्षा किसी भी साहित्य का एक सांस्कृतिक प्रहरी की भाँति संरक्षण करती है। हिन्दी साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि और संवर्द्धन के लिए यह आवश्यक है कि इस पर उन समस्त विचार-धाराओं का स्पर्श पहुँचे जो भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य को जीवित किये हैं। साहित्य कुछ अर्थों में स्थानीय है और कुछ में सार्वभौम। पाश्चात्य जगत की मान्यताएं भलीभाँति छन कर हमारे साहित्य को इस प्रकार प्रभावित करें कि वह इससे आत्म-चिन्तन के लिए प्रेरित हो तथा हम

इन प्रभावों की पार्श्वभूमि में अपनी भाषा, विचार तथा मान्यताओं का पुनरीक्षण कर उन्हें आधुनिक संवेदना और अनुभूति के अनुकूल बनायें।

डॉ. वर्मा ने यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिख कर एक बड़ी कमी पूरी की है। अंग्रेजी की समीक्षात्मक शैली में लिखने के वे अभ्यस्त हैं, और इसकी झलक उनकी हिन्दी लेखन शैली में स्पष्ट है। हो सकता है, हिन्दी आलोचना-शास्त्र के लिए पश्चिमी व्याख्याएं हिन्दी शब्द-विन्यास में कुछ अनोखी लगें, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस प्रयास से हिन्दी की समीक्षा-शैली को नयी दिशा मिलेगी।

मैं इस ग्रंथ की सफलता की कामना करता हूँ। मुझे विश्वास है कि हमारे साहित्यकार इसमें समीक्षात्मक स्पष्टीकरण का एक सराहनीय प्रयास पायेंगे।

**रमाप्रसन्न नायक**
मुख्य सचिव,
मध्यप्रदेश शासन

भोपाल,
१५ फरवरी, १९७१

# आमुख

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है, इसी कारण स्वातन्त्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देशमान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयीं उन्होंने एक मत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी—श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव। हम जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीक, अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसंधानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा से शिक्षा पाने वाले अंचलों के पिछड़ जाने की आशंका है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की यह योजना राज्य कर्मचारियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। मध्यप्रदेश में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध करेगी। इस योजना के साथ राज्य के सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि राज्य के सभी शिक्षा-शास्त्री एवं शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

**जगदीशनारायण अवस्थी**

शिक्षा मंत्री

अध्यक्ष: मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
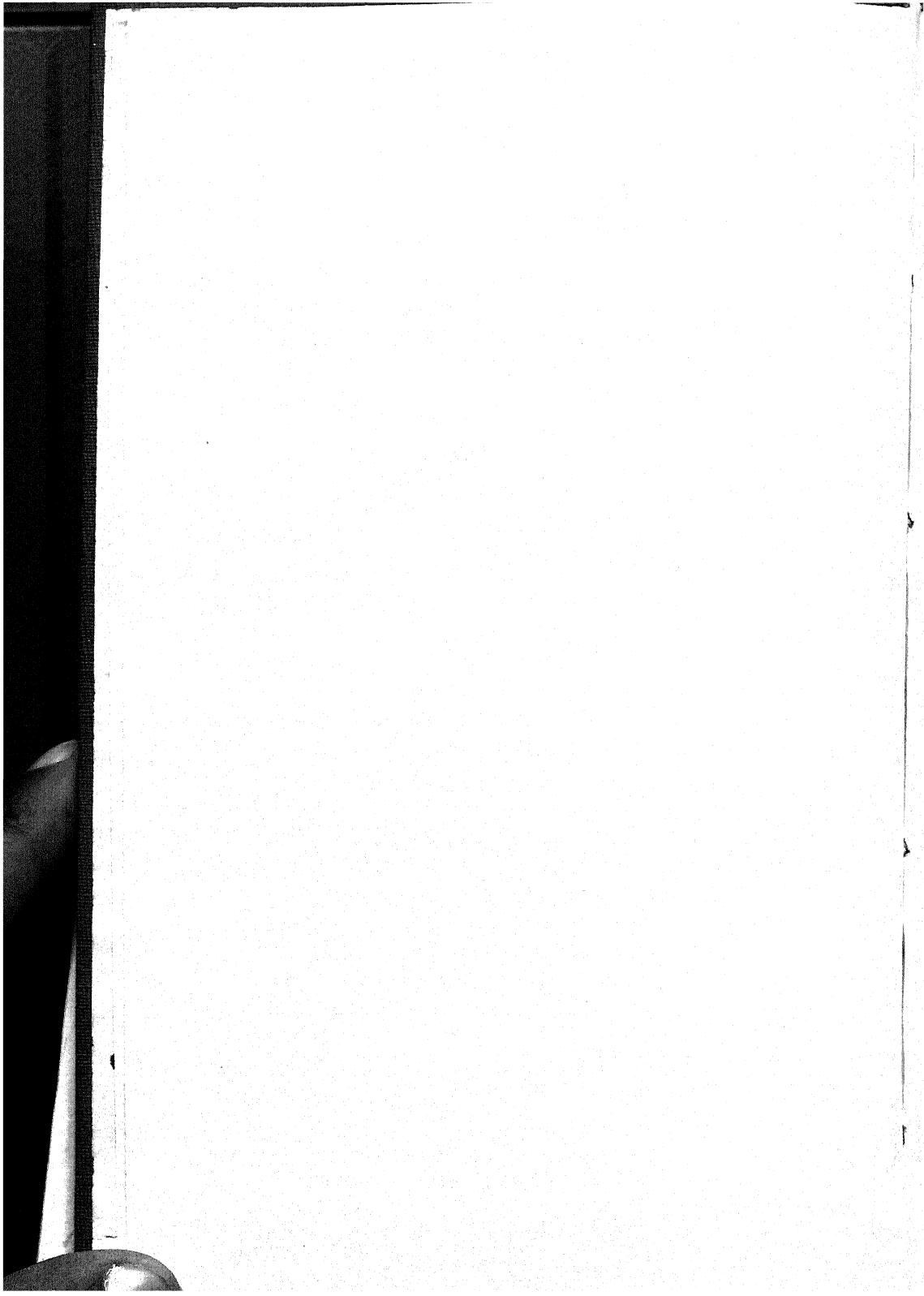
# प्राक्कथन

समीक्षा का प्रारम्भ सम्भवतः साहित्य सर्जना के साथ ही हो गया था। किसी कृति को पढ़कर या सुनकर उस पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करना सामान्य व्यक्ति के लिए भी सरल एवं स्वाभाविक था। धीरे-धीरे सामाजिक रचना के संश्लिष्ट हो जाने पर जैसे-जैसे साहित्यिक कृतियाँ विविधता और विशिष्टता से संकुल होती गयीं, समीक्षा भी नये-नये रूप ग्रहण करती गयीं। रचना तन्त्र के साथ समीक्षा-तन्त्र भी विकसित हुआ। ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी तक भारत में उसने एक निश्चित रूप ग्रहण कर लिया और ईसा की पहली शताब्दी के आसपास भारतीय नाट्य-शास्त्र में हमें इसका अत्यन्त विकसित एवं शास्त्रीय रूप का दर्शन होता है।

जलवायु एवं भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप जैसे भिन्न-भिन्न देशों में विशिष्ट संस्कृतियों का विकास हुआ, वैसे ही साहित्य का भी। हर देश और भाषा की अपनी अभिव्यक्ति-प्रणाली होती है और फलतः समीक्षा-तंत्र भी। प्रारम्भ काल से ही आह्लाद और औदात्य-ये दो तत्व प्रायः सभी देशों और भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य में पाये जाते हैं। रचना-पद्धतियों के समान समीक्षा-पद्धतियाँ और मान-दण्डों में अन्तर होने पर भी ये मूलभूत तत्व सभी देशों के साहित्य को एक दूसरे के निकट बनाये रखते हैं।

वर्तमान शताब्दी ने पिछली शताब्दी की अपेक्षा कहीं अधिक उलट फेर देखा है। दो-दो महायुद्धों तथा उनसे होने वाले विनाश और वैज्ञानिक आविष्कारों ने जहाँ एक ओर मनुष्य की आस्था और चिन्तन-पद्धति में आमूल परिवर्तन ला दिया है, वहाँ राष्ट्रों को एक दूसरे के अधिक समीप भी। साहित्य के क्षेत्र में विशेषतः राष्ट्रीय सीमाएँ टूट चुकी हैं और हर राष्ट्र एक दूसरे देश के उदात्त एवं सक्षम चिन्तन को आत्मसात करने के लिए उत्सुक है। एक छोर पर कही गयी नवीन बात और किया गया प्रयोग दूसरे छोर पर प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। नवीन वस्तुओं को जानने की आकांक्षा और प्रवलतर हो उठी है। पूर्व का सीधा प्रतिरूप पश्चिम है। अतः स्वाभाविक है कि भारतीय प्रबुद्ध वर्ग में उसे जानने-परखने और बनाने की ललक हो। डा० राजेन्द्र वर्मा की यह कृति उसी माँग की प्रतिपूर्ति है।

डा० वर्मा पाश्चात्य साहित्य के निष्ठावान मौन साधक हैं। उनका मौलिक चिन्तन, मनन और समर्पण सुविदित है और उनकी यह कृति उनके गम्भीर अनुशीलन का परिणाम है। आँग्ल-साहित्य के प्रबुद्ध समीक्षक की हिन्दी, हो सकता है कि कहीं-कहीं पाठक को अटपटी भी जान पड़े किन्तु इसमें लेखक का व्यक्तित्व निहित है। यह उसका अपनापन है और इसलिए इसमें किसी प्रकार के कठोर संस्पृश्य का साहस भी नहीं कर पाया।

आशा है, डा० वर्मा की प्रस्तुत कृति "साहित्य-समीक्षा के पाश्चात्य मानदण्ड" उन भारतीय जिज्ञासुओं को संतोष प्रदान करेगी जो हिन्दी के माध्यम से आँग्ल साहित्य के यथार्थ रूप को देखना और समझना चाहते हैं।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

**भोपाल**
१दिसम्बर, १९७०

संचालक,
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

# वक्तव्य

अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी होने के नाते मैं इस लोभ का सवरण नहीं कर सकता कि पश्चिमी साहित्य की रसानुभूति और उसकी रस-संचरण-व्यवस्था को हिन्दी के पाठकों तक पहुँचाऊँ। अंग्रेजी शासन के २०० वर्ष भारत में जैसे भी रहे हों, अंग्रेजी साहित्य से हमारे देशवासियों ने प्रेरणा ली है। शेक्सपीयर और मिल्टन, शैली और कीट्स तथा वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज को बहुत से शिक्षित भारतीयों ने मूल अंग्रेजी में पढ़ा है और उनसे उनके मानवीय स्पन्दनों पर एक मर्म-स्पर्शी प्रभाव पड़ा है। साहित्य देश और युग का होता है और कालातीत भी। जब वह कालातीत होने के तत्त्व लिये रहता है तब अपनी व्यंजना-शक्ति से हृदय और आत्मा को उदात्त कर देता है।

अंग्रेजी भाषा में लेखन के अभ्यस्त होने मात्र से किसी का मातृभाषा से अलगाव नहीं हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी बड़ी ही समृद्ध भाषा है। इसके वर्तमान वैभव में कम से कम चार विदेशी भाषाएँ कारण रही हैं—लैटिन, फ्रेंच, जर्मन तथा ऐंग्लोसेक्सन। इनके प्रचुर तत्सम शब्दों को लेकर या उन्हें तद्भव बनाकर अंग्रेजी ने अपनी अभिव्यंजना शक्ति प्रखर बना ली। केवल लैटिन की धातुओं के आधार पर नाना प्रकार के प्रत्ययों और उपसर्गों के सहारे उसमें शब्दों का यन्त्रवत् उत्पादन नहीं हुआ।

समीक्षा एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है क्योंकि उसके ही माध्यम से समीक्षक कला-वस्तु की इस प्रकार पुनःस्थापना करता है जिससे उसके रस-केन्द्र का संस्पर्श पाठक तक पहुँच पाता है। पश्चिम की साहित्य-समीक्षा का उद्गम प्राचीन ग्रीस के वे नाट्य-सिद्धान्त हैं जिन्हें अरस्तू ने ३०० वर्ष ईसा पूर्व प्रतिपादित किया था। तबसे समीक्षा की यह धारा निरन्तर ऐतिहासिक युगों से होती हुई वर्तमान यूरोप के साहित्य में भी प्रवाहित है।

मैंने इस ग्रन्थ के दो खण्डों में समीक्षा पर विचार किया है। प्रथम खण्ड 'पर्यवेक्षण' समीक्षा के सिद्धान्तों का ऐतिहासिक युग के दृष्टिकोण से विश्लेषण

करता है और दूसरा खण्ड है 'विचारणा', जिसमें आधुनिक साहित्य के आन्दोलनों के सन्दर्भ में व्यक्त होने वाले इन सिद्धान्तों की तर्कयुक्त व्याख्या है। इसमें वर्तमान साहित्यिक धारा के उन 'विचारणाओं' पर पड़ने वाले स्फूर्तिमय प्रभाव का उल्लेख है।

कहीं-कहीं मुझे अंग्रेजी के प्रचलित पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी अनुवाद देने में कुछ कठिनाई हुई। मैंने जानबूझकर क्लिष्ट शब्द-कोश कम से कम बार देखा। कारण यह कि पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद केवल शब्दों और धातुओं के उलटफेर करने से उपयुक्त नहीं होता। उसके पीछे जो मानसिक अथवा वैचारिक पृष्ठभूमि है उसका स्पर्श इस अनुवाद में होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ 'Fancy' के लिए मुझे कोई एक उपयुक्त शब्द नहीं मिला। अतः Imagination को मैंने कल्पना-शक्ति कहा और Fancy को 'कल्पना-तरंग'—क्योंकि Imagination में ही नवीन रचना की शक्ति है परन्तु Fancy में एक लहर है जो नया सृजन नहीं करती, केवल उपमान-उपमेय तक ही सीमित रहती है। इस प्रकार अंग्रेजी समीक्षा में प्रचलित शब्द 'Image' के लिए मैंने 'चित्र-कल्प' उपयुक्त समझा, क्योंकि चित्र जो शब्दों से उद्बोधित हो वह Image अवश्य है, पर Poetic Image होने के लिए उसमें केवल अलंकार के तत्व पर्याप्त नहीं हैं। Poetic Image में एक प्रकार की विधि होती है, विधि या अनुष्ठान का संस्पर्शी शब्द 'कल्प' है। अतः Poetic Image के लिए चित्र-कल्प का उपयोग किया है। उसी प्रकार Myth के लिए 'पौराणिक कथा' या 'कल्पित-कथा' के स्थान पर 'कथा-कल्प' मैंने गढ़ डाला है क्योंकि जहाँ-जहाँ 'Myth' का उपयोग साहित्य में हुआ है उससे सम्बद्ध 'कथा' के पीछे विधि या अनुष्ठान (Ritual) अवश्य होते हैं जो इस को निरन्तरता और सार्थकता देते हैं। इसलिए 'कथा-कल्प' का इस अर्थ में उपयोग है।

एक लम्बे अर्से के बाद अपनी मातृभाषा में लेखन कार्य का प्रारम्भ इस ग्रन्थ से किया है। अंग्रेजी के कुछ ग्रन्थ लिखने के बाद मानसिक प्रक्रिया ऐसी शैली के माध्यम से होती रही है जो हिन्दी की वाक्य-व्यंजना और शैली से मूलतः भिन्न है। इस कठिनाई का मैंने बारम्बार अनुभव किया है। 'तत्सम' शब्दों को मैं भरसक दूर रखने की कोशिश करता रहा हूँ जिससे लेखन में वार्तालाप की दैनिक सहजता और प्रभाव आ सके। इसलिए यदि इस ग्रन्थ की भाषा सरल प्रतीत हो तो इसका कारण यह नहीं कि इसमें 'प्रसाद गुण' है वरन् यह कि मेरा लक्ष्य यह है कि पाश्चात्य समीक्षा सरीखे दुरूह विषय को साधारण समझ के स्तर पर ही

निभाऊँ। दो भाषाओं और साहित्य के बीच की दीवारें बड़ी ही कठोर और ऊँची होती हैं, विशेषकर जब इसकी परम्पराएँ और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दो अलग-अलग सभ्यताओं के कारण भिन्नता रखती हों। ग्रन्थ का प्रमुख ध्येय है कि अंग्रेजी की समीक्षा, जो पाश्चात्य समीक्षा का प्रबल अंग है, हिन्दी साहित्य के समीक्षकों तक पहुँचे, जिससे विचारों के प्रेरणात्मक प्रभाव द्वारा हिन्दी का साहित्यालोचक भली भाँति यथावश्यक साहित्य का पुनर्मूल्यांकन कर सके।

भारतीय साहित्य के अध्येता सम्भवतः पश्चिम के समीक्षा-सिद्धान्तों से अवगत होना चाहते हैं। परन्तु सर्वोपरि महत्व उस समीक्षा का है जो अपनी परम्पराओं के मूल तक पहुँच कर भी बाहरी झकोरों को रोकने का प्रयत्न नहीं करती। पाश्चात्य विचारणाओं की झकझोर से हमारी समीक्षा के पीले पत्ते सम्भवतः गिर जाएँ, परन्तु यह हानिप्रद नहीं होगा। उसके बाद तो नये पल्लव आयेंगे ही, पर उनका जीवन-संचरण मूल स्रोत से होगा, झकोरे तो केवल निमित्त मात्र होंगे।

'जय निलय'
भोपाल
२३ फरवरी, १९७०

राजेन्द्र वर्मा

# विषयानुक्रम



## खण्ड—अ

### पर्यवेक्षण

## खण्ड—ब
### विचारणा

# परिच्छेद—१

पाश्चात्य साहित्य में समीक्षा का वही स्थान है जो किसी वृत्त में केन्द्र का होता है। समीक्षा से ही साहित्य के मानदण्डों का उद्भव, विकास और प्रस्फुटन सम्बद्ध है। जब हम पाश्चात्य साहित्य का उल्लेख करते हैं, तो इसमें हम उन समस्त साहित्यिक धाराओं को भी ध्यान में रखते हैं, जो पश्चिमी यूरोप में समय-समय पर प्रवाहित होती रहीं।

पश्चिमी यूरोप की सभ्यता की अपनी परम्परायें हैं, जो पूर्वी यूरोप की स्लाव ( Slav ) संस्कृतियों से भिन्न हैं। पश्चिमी सभ्यता में संस्कृति का मूल स्रोत यूनान रहा है। विधि, शासन-तंत्र, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के पीछे रोमन विचारधारा रही है। यूनान और रोम, इन दोनों प्राचीन देशों की संस्कृतियाँ तथा दार्शनिक परम्परायें एवं कानून-विषयक विचार पश्चिमी सभ्यता के भवन की नींव हैं। इसलिए जब हम पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन करने बैठते हैं, तब उस मूल्यांकन में समीक्षा का वह दृष्टिकोण निहित रहता है जिसे युगों-युगों से यूनान की प्राचीन विचारधारायें प्रभावित करती रही हैं। इस प्रसंग में ही अंग्रेजी के वर्तमान युग के महान कवि टी० एस० ईलियट ( T. S. Eliot ) का कथन है कि वर्तमान पश्चिमी सभ्यता का अर्थ और केन्द्रीभूत मूल्य तभी स्पष्ट हो सकता है जब यूनानी कवि होमर से लेकर आज तक का पश्चिमी साहित्य एक शृंखलाबद्ध परम्परा माना जाय।

अत: यूनान की प्राचीन सभ्यता के मुख्य स्तम्भ, जिन्होंने वहाँ के दर्शन और सभ्यता पर गहरा प्रभाव डाला है, हमारे अवलोकन की परिधि में आते हैं। यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो से हम भली-भाँति परिचित हैं। यह दार्शनिक एक प्रकार का रहस्यवादी चिन्तक था। वह राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था में नैतिकता का पूर्ण पुट इन व्यवस्थाओं की आत्मा मानता था। वह एक महान शिक्षाविद् भी था, जो राजनीति में प्रवेश करना चाहता था, किन्तु चिन्तनप्रधान व्यक्तित्व होने के कारण उसने दर्शन के क्षेत्र में ही महान कार्य किया।

## प्लेटो

प्लेटो रहस्यवादी दार्शनिक था, जिसने अपने कई ग्रन्थों में काव्य की ओर संकेत किया है। उसकी सर्व प्रसिद्ध उक्ति है कि आदर्श गणराज्य से कवियों को निष्कासित कर देना चाहिए, किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। प्लेटो के सम्बन्ध में यह कथन, जिसे अपने उपयुक्त संदर्भ से पृथक् कर प्रस्तुत किया गया है, उसके प्रति अन्याय है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्लेटो ने अपने ग्रन्थ "रिपब्लिक" ( Republic ) में एक स्थल पर कहा है कि काव्य में भावनाओं को उत्तेजित कर दिया जाता है, जिससे नागरिक का मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। अतः जिस गणराज्य में भावनाओं का उतार-चढ़ाव होता है वहाँ विवेक नहीं रह सकता। फलतः गण-राज्य से कवि को ससम्मान निष्कासित कर देना चाहिए। परन्तु जिस स्थान पर प्लेटो ने कवियों के निष्कासन का प्रस्ताव किया है, वहाँ उसने यह भी कहा है कि अपनी आत्मा के स्वास्थ्य के लिए हम ऐसे कवियों या कथावाचकों को पनपने दें, जो केवल गुणी लोगों के विषय में अपनी कवितायें रचें और नैतिक गुणों का ही बखान करें। ऐसे कवि कलाविहीन हो सकते हैं, परन्तु उसकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिस तरह सैनिकों के लिए शारीरिक व्यायाम आवश्यक है, उसी तरह नागरिक भावनाओं के लिए व्यायाम का प्रावधान गणराज्य में होना चाहिए; और यह कार्य कलाविहीन कवि ही कर सकते हैं। इसलिए काव्य की नफ़ासत या शैली का वैचित्र्य प्रयोजनहीन है; क्योंकि उससे भावनाओं को केवल उत्तेजित किया जाता है, न कि सद्गुणों का सृजन।[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो केवल उसी काव्य को गणराज्य में स्थान देना चाहता है, जो वास्तविक रूप से सद्गुणों को प्रोत्साहित करें और उनको देश में उभारे; क्योंकि काव्य में, जो उस समय प्रचलित था, देवताओं का उप-हासात्मक वर्णन होता था। इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता था कि इसमें किन भावनाओं को उत्तेजना मिल रही है। दार्शनिक प्लेटो, जो अपनी 'विश्वक्' ( Universal ) विचारधारा के लिए प्रसिद्ध है, एक बहुत ही गंभीर तथा नीतिवान विचारक था। उसकी विश्वक् केन्द्रित विचारधारा के अनुसार यह स्थूल जगत् विश्वक् रूप का बिम्बमात्र है। यह स्थूल जगत् यथार्थ नहीं है और जब कभी इस अयथार्थ जगत् को (जो विश्वक् का बिम्ब मात्र है,) कवि अपने काव्य में प्रतिचित्रित करता है तब वह यथार्थ अर्थात् विश्वक् से दूरी अपनाता है, क्योंकि काव्य स्थूल जगत की भावनाओं, प्रणालियों और व्यवहारों की ही अनुकृति है।

१. 'रिपब्लिक'–ग्र.–३.

जब स्वयं स्थूल जगत "विश्वक्" का बिम्ब मात्र है, तब कवि का काव्य दोहरी अनुकृति है; क्योंकि वह स्थूल जगत का अनुकरण काव्य में करता है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित यह अनुकरण (Mimesis) सिद्धान्त, जो प्रमुख रूप से एक दार्शनिक विचार है, काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में ज्यों का त्यों अपना लिया गया है। प्लेटो की यह दार्शनिक समीक्षा काव्य की आत्मा के साथ अन्याय अवश्य लगती है; परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि यह प्लेटो के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का एक अभिन्न अंग है। प्लेटो में सौन्दर्य की भी कल्पना है, परन्तु उस विषय पर जाना विषयान्तर होगा। जो ठोस बात प्लेटो के साहित्यिक विचार में उतरी है, वह है कवि की रचना का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, और यह उसके दृष्टिकोण का एक स्थायी अंग है। यहाँ तक कि वर्तमान पश्चिमी काव्य में कवि को भी बहुत कुछ विक्षिप्त ही माना है, जैसा प्लेटो ने कहा था। अपने ग्रन्थ "आइवान" (Ion) में प्लेटो ने अपने गुरु सुकरात को काव्य के विषय में तर्क करते बतलाया है। उसी संदर्भ में उसने एक स्थान पर कहा है: "कवि एक प्रकार से विक्षिप्त मनुष्य की भाँति अपनी रचना की अभिव्यक्ति करता है।" यथा—

> "कवि एक प्रकाश-पुञ्ज है, कल्पनाशील है एवं एक पावन वस्तु है तथा जब तक वह अभिप्रेरित नहीं होता, अपनी संवेदनाओं से अलग नहीं हो जाता, तथा तर्क शक्ति खो नहीं देता, तब तक सृजन नहीं कर पाता। जब तक वह इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह अपने उद्‌गार अभिव्यक्त करने में असमर्थ रहता है।"

इस तरह हम देखते हैं कि प्लेटो ने कवि को एक मसीहा अर्थात् भविष्यवक्ता के रूप में देखा है, जो अपनी मानसिक शक्ति की परिधि से टूट जाता है और विक्षिप्तों की तरह प्रेरणा की उड़ान में स्वयं को खो देता है।

वर्तमान समीक्षा में प्लेटो की इस व्याख्या का एक बहुत बड़ा महत्व है। वह यह कि कवि जब काव्य का सृजन करता है, तो उसका अपना मानवीय व्यक्तित्व घुल जाता है और एक ऐसे कलाकार का व्यक्तित्व काम करता है, जो निजी व्यक्तित्व से परे होता है और जो मानवीय भावनाओं का परोक्ष रूप से अवलोकन कर सकता है तथा अपने स्फुरण के वेग में नाना प्रकार से उसकी अभिव्यंजना कर सकता है।

## अरस्तू (३८४–३२२ ईसा पूर्व)

प्लेटो के प्रमुख शिष्य अरस्तू ने प्लेटो की काव्य सम्बन्धी धारणाओं का खण्डन किया है। अरस्तू ने काव्य को कला माना है और इस विचार का प्रतिपादन

किया कि कला प्रकृति की केवल अनुकृति नहीं है। अरस्तू ने कलात्मक चित्रांकन को एक सृजनात्मक प्रक्रिया का रूप दिया। उसके कथनानुसार, मानव जन्म से ही शिक्षा की प्राप्ति अनुकरण से करता है। वह अपने आसपास के जीवन का अनुकरण करता है। अतः माईमेसिस (Mimesis) अर्थात् 'अनुकरण' एक हीन अर्थ में नहीं लिया जाय; क्योंकि जब कलाकार प्रकृति का प्रतिचित्रण करता है, तो वह प्रकृति को केवल मात्र दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब की भाँति ही प्रस्तुत नहीं करता है। वह प्रतिचित्रण में अपना व्यक्तित्व तथा अपने चारों ओर की भावना का आभास उसमें सँजोता है और इस कार्य में वह जीवन को तथा प्रकृति को छानता है तथा छानकर ही प्रतिबिम्बित करता है। यह कलात्मक प्रतिक्रिया सृजन की ही एक प्रक्रिया है। अतः प्लेटो का यह कथन कि काव्य प्रकृति की दोहरी अनुकृति है, ठीक नहीं है। और फिर प्लेटो का विश्वक्-केन्द्रित दर्शन कोई सम्पूर्ण सत्य नहीं है। अरस्तु ने काव्य को कला मानकर उसे एक सृजनात्मक प्रक्रिया की संज्ञा दी, और इस तरह काव्य की महत्ता को प्रतिपादित किया।

प्लेटो का कथन था कि गूढ़ ललित काव्य से नागरिक की भावनाओं में उथल-पुथल तथा उफान पैदा होता है, जिससे उसका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। अरस्तू ने इस विचार का भी बहुत सुन्दरता से खण्डन किया है। उसने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से जो प्रतिपादन प्रस्तुत किया, जिसे "विरेचन" अथवा केथारसिस (Katharsis) कहा गया है। इसका साधारण अर्थ है, भावनाओं को उभार कर निकाल देना तथा इस तरह उनका शुद्धीकरण करना। अरस्तू के अनुसार काव्य अर्थात् दुखान्त नाटक (Tragedy) का उद्देश्य है दर्शक की करुणा तथा भय की भावनाओं का शुद्धीकरण। इस प्रसंग पर अगले अध्याय में विस्तार से विचार किया जायगा। इस शुद्धीकरण के फलस्वरूप काव्य का एक सामाजिक उपयोग भी है, यदि नागरिकों की भावनाओं का शुद्धीकरण होता है तो सामाजिक स्वास्थ्य भी बना रहेगा। इस प्रकार अरस्तू ने प्लेटो के इस तर्क का खण्डन किया कि काव्य से नागरिक का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है।

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' (Poetics) अर्थात् "काव्यशास्त्र" में दुखान्त नाटक तथा सुखान्त नाटक दोनों का ही विवेचन किया है। इस प्रकार वह मूल रूप में काव्य का अर्थ नाटक से ही लेता है, क्योंकि कवितायें तो, जिसे हम गीतिकाव्य कहते हैं, नाटक में गीत रूप में विद्यमान रहती हैं। यह ग्रन्थ (Poetics) कोई विशेष रूप से तैयार किया हुआ गवेषणापूर्ण ग्रन्थ नहीं है; परन्तु इसमें ऐसी टिप्पणियाँ हैं, जो काव्य के मर्म पर प्रकाश डालती हैं।

संभवतः अरस्तू ने अपनी शिक्षा-संस्था की कक्षा में दिए गए भाषणों के नोट्स तैयार किए थे और वे ही आगे चल कर एक ग्रन्थ के रूप में सामने आए। इसलिए यद्यपि 'पोइटिक्स' में गम्भीर गवेषणा और सूक्ष्म समीक्षा नाटकों पर हुई है, फिर भी यह कहीं-कहीं एकांगी-सा ग्रन्थ है, और अपूर्ण लगता है।

इस ग्रन्थ के अनुसार दुखान्त नाटक एक स्वरूप (Form) है। कला को एकरूप करना उसकी भावना को संस्थापित करना है। उसने नाटक के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया और उसके विषय में कुछ नए विचार प्रतिपादित किए। नाटक में कथानक अर्थात् प्लॉट को अरस्तू ने नाटक की आत्मा कहा है। चरित्र को उसने गौण माना है। अरस्तू उस नाटक को दुखान्त मानता है, जिसमें नायक उत्थान से पतन की ओर उन्मुख होते हुए दुःख को प्राप्त करता है। नायक की इस हानि से जो भावनायें दर्शक में पैदा होती हैं, वे हैं करुणा और भय की। इस विषय पर भी आगे के अध्याय में विचार किया जाएगा। अरस्तू ने दुखान्त नाटक की परिभाषा इस प्रकार दी है—

> "ट्रेजेडी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्तकार्य की अनुकृति है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आवरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिसमें भय तथा करुणा के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"

अरस्तू ने इस परिभाषा में निम्नलिखित मुख्य तथ्य प्रस्तुत किए हैं—

(१) दुःखान्त नाटक उस क्रिया का प्रतिबिम्ब है जो गम्भीर, पूर्ण तथा विशेष प्रकार के परिमाण से युक्त है;

(२) वह शैली के सौष्ठव से पूर्ण है;

(३) वह क्रिया प्रधान है; उनमें केवल वर्णन नहीं होता;

(४) वह करुणा तथा भय के द्वारा भावनाओं का विरेचन (Katharsis) करता है।

यद्यपि केथारसिस अर्थात् विरेचन के विषय में अनेक मत हैं, फिर भी एक दुखान्त नाटक में उसका यह मनोवैज्ञानिक आधार महत्वपूर्ण बात है। ग्रीक सभ्यता में जिस धर्म का प्रभुत्व था, उसमें नियति (Destiny) का सर्वोपरि स्थान था।

मानव-मात्र देवताओं के हाथ के खिलौने थे और उनके जीवन का सूत्र नियति ही संचालित करती थी। अतः जब दुखान्त नाटक में नायक का दुखपूर्ण पतन बतलाया जाता है, तब दर्शक सोचने लगता है कि नायक तो नियति की इच्छा का शिकार हुआ, और इसी प्रकार मैं भी तो हो सकता हूँ। इस तरह उसके मन में भय का संचार होता है। करुणा का संचार इसलिए होता है कि जब नायक ही जो एक सार्वभौम पुरुष है और जिसकी इतनी ख्याति है, टूटने लगता है, तब उसके लिए हृदय में तीव्र संवेदना और करुणा का संचार होता है। यह दो भावनायें, करुणा तथा भय, तो प्रत्येक नागरिक में विद्यमान रहती हैं और दैनिक जीवन में इनमें उतार-चढ़ाव आया करते हैं। जिस व्यक्ति में भय अधिक मात्रा में होता है, वह भीरु होता है; तथा जो केवल करुणा और संवेदना से जुड़ा रहता है, उसकी इच्छा-शक्ति और महत्वाकांक्षा, दोनों ही, दुर्बल होती हैं। जब व्यक्ति के दैनिक जीवन में इन दोनों भावनाओं की अधिकता हो जाती है, तब उसका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। अरस्तू के अनुसार दुखान्त नाटक के द्वारा, इन भावनाओं को उभार कर निकाला जाता है और इस तरह उनका शुद्धीकरण होता है। इन दोनों भावनाओं में दुखान्त नाटक एक सन्तुलन उत्पन्न करता है। इस संतुलन के कारण ही व्यक्ति और समाज का मानसिक स्वास्थ्य बना रहता है। यद्यपि ये तथ्य ग्रीक समाज में युक्तिसंगत लगते हैं, तो भी परवर्ती समीक्षकों ने इनके महत्व को कम नहीं होने दिया। उन्होंने इसे दूसरे दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने कहा कि करुणा तथा भय के संचरण तथा शुद्धीकरण से दुखान्त नाटक के दर्शकों की आत्मा में एक गहनता उत्पन्न हो जाती है और इस अनुभूति में उन्हें मानव जीवन के विशाल वैभव तथा वीरोचित गुण दृष्टिगोचर होने लगते हैं; क्योंकि जब एक सार्वभौमिक पुरुष अर्थात् नायक अपने से अधिक बलवती परिस्थितियों से, अथवा अपने ही अन्दर की परिस्थितियों से जूझता है और इस तरह वह धीरे-धीरे टूटने लगता है, तब उसमें मानव की वीरोचित और वैभवयुक्त आत्मा का आभास मिलता है। ग्रीक दुखान्त नाटक में शुद्धीकरण, प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान-काल तक प्रमुख स्थान रखता है। जिस तथ्य का प्रतिपादन अरस्तू ने किया, चाहे उसे दूसरे दृष्टिकोण से भले ही देखा गया हो, आज तक उसकी सत्यता अटल रही है।

## कथानक और पात्र

अरस्तू ने कथानक को नाटक की आत्मा कहा है, क्योंकि उसके अनुसार, नाटक में यदि क्रियाकलाप (Action) नहीं है, तो वह नाटक ही नहीं रहेगा। यहाँ तक कि यदि उसमें चरित्र नहीं है, और मात्र कथानक है, तब भी वह नाटक रहेगा। यदि पात्रों के वार्तालाप को शृंखलाबद्ध कर दिया जाय और चरित्र ही प्रधान दिखलाया जाय, तो नाटक आगे बढ़ ही नहीं सकता है, क्योंकि उसमें क्रिया

का अभाव रहेगा। जिस प्रकार किसी चित्र में केवल रंगों का मिश्रण कर उन्हें फैला देने से वह चित्र सजीव नहीं हो जाता, परन्तु यदि रेखाओं से चित्र अंकित है तो वह सजीव हो उठता है। यही स्थिति नाटक की भी है। कथानक जब आगे बढ़ता है तो वह चरित्र के क्रियाकलापों की ओर ही आगे बढ़ता है। कार्यरत चरित्र ही, नाटक के सम्पूर्ण अर्थ में, सार्थक होता है। चरित्र की अभिव्यञ्जना उसके क्रियाकलाप के द्वारा होती है। इसलिए कथानक कार्य और गुणों की शृंखला से चरित्र को अपने में समेटे रहता है। कथानक के अभाव में चरित्र का स्वयं कोई अस्तित्व नहीं रह सकता।

पश्चिमी साहित्य में, १९वीं सदी में, समीक्षा की जो स्वच्छन्दतावादी धारा (Romantic Criticism) प्रवाहित हुई है, वह अपूर्ण समीक्षा थी। इस समीक्षा के अनुसार नाटक से चरित्र को पृथक् कर उसका विस्तार किया जाता था तथा उस पर ही टीकायें लिखी जाती थीं, मानो नाटककार ने किसी चित्र की जीवनी गढ़ डाली हो। यह स्वच्छन्दतावादी समीक्षा एकांगी और भ्रामक सिद्ध हुई; क्योंकि इस तरह नाटक के समचे अर्थ की पकड़ समीक्षक नहीं कर पाते थे और केवल चरित्र-अंकन में फँसे रहते थे।

अरस्तू ने दुखान्त नाटक में कथानक को ही प्रधान माना है और उसे नाटक की आत्मा की संज्ञा दी है। परन्तु, साथ ही, उसने नाटक के नायक के विषय में भी महत्वपूर्ण बातें कही हैं। नाटक तभी दुखान्त होता है, जब घटना-क्रम नायक को उत्थान से दु:खपूर्ण पतन की ओर अग्रसर होता बताए। इस प्रसंग में उसने दो पारिभाषिक शब्दों का उपयोग किया है—पहला है विपरिणाम (Reversal) अथवा कोई अचानक प्रत्यावर्तन जिससे नायक के भाग्य में उतार प्रारम्भ होता है; दूसरा शब्द है प्रत्यभिज्ञा (Recognition) अर्थात् ज्ञान, जिसके द्वारा नायक को उस दशा का ज्ञान होता है, जिसमें उसने कोई भारी दोषपूर्ण कार्य कर डाला है।

ये दो शब्द, विपरिणाम तथा प्रत्यभिज्ञा, दुखान्त नाटक के नायक से सम्बद्ध हैं और उनका नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है। अब प्रश्न उठता है कि अरस्तू ने ये पारस्परिक विरोधी बातें क्यों कहीं कि एक ओर तो कथानक ही सब कुछ है और दूसरी ओर नाटक के प्रमुख पात्र—नायक-से सम्बन्ध रखने वाले ये दो नाटकीय तत्व भी प्रधान हैं। क्या इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि कथानक और पात्र, दोनों ही, समान रूप से नाटक में प्रधान हैं? किन्तु यदि ध्यान से इस तथ्य का परीक्षण किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि ऐसा नहीं है।

कारण यह है कि कथानक में घटना-क्रम चरित्र के कार्यकलाप को ही प्रदर्शित करता है। यह सच है कि नायक, जो प्रमुख चरित्र है, घटनाओं का नेतृत्व करता है; परन्तु कथानक उसके कार्यकलाप को ही प्रदर्शित करता है और इसी में उसकी सच्ची अभिव्यक्ति उतरती है। यदि घटना-क्रम रुक जाए और केवल चरित्र के वार्तालाप तथा उसकी मानसिक स्थितियों का चित्रण गुम्फित करके प्रदर्शित किया जाय, तो अरस्तू की परिभाषा खंडित हो जाएगी। क्योंकि उसने कहा था कि नाटक अर्थात् काव्य उस क्रिया को दर्शाता है, जो पूर्ण, गम्भीर तथा परिमाण वाली है तथा इस नाटकीय क्रिया का उद्देश्य भय तथा करुणा का संचार कर इन भावनाओं का विरेचन करना है।

अतः जिस कथानक में घटना-क्रम इस क्रम से नहीं चलता, कि भय और करुणा अन्त में संचारित हों तो, वह दुखान्त नाटक की श्रेणी में नहीं आता है। कथानक में इसलिए विपरिणाम (Reversal) का महत्व अधिक है। विपरिणाम यह दर्शाता है कि नायक के भाग्य का सूर्य अस्त हो रहा है इससे दर्शक के मन में नायक के प्रति करुणा का उदय होता है और साथ ही भय का संचार भी। विपरिणाम, जो चरित्र-केन्द्रित है, घटना के क्रम को एकसूत्रता देता है।

दुखान्त नाटक का नायक (प्रधान चरित्र) कैसा हो, जिससे दर्शक के हृदय में उसकी विपत्ति के अवसर पर करुणा तथा भय उत्पन्न हो? अरस्तू के अनुसार, नायक न महान आत्मा हो और न दुरात्मा ही हो। क्योंकि, यदि नायक कोई महान आत्मा है, जिसके सब गुण पूर्ण हैं तथा जो सांसारिक संघर्षों से ऊपर है तो उसका दुखद अन्त किस प्रकार की भावनायें दर्शक के मन में उत्पन्न करेगा? स्पष्ट है, ऐसी महान् आत्मा का दुखद अन्त हमें झकझोर देगा और हमारी नैतिक चेतना को सुन्न कर देगा। फलतः दुखान्त नाटक के उद्देश्य की सिद्धि-करुणा और भय का संचार और उनका शुद्धीकरण-ऐसे नाटक में असंभव हो जाएगी। दूसरी ओर, यदि नायक दुरात्मा है, तो उसके अन्त से या भाग्य विपर्यय से दर्शक को एक आत्मिक संतोष ही होगा, किन्तु भय और करुणा की भावनायें संचारित न हो पायेंगी।

इस कारण अरस्तू ने दुखान्त नाटक के जिस नायक की कल्पना की है वह यह है कि, नायक स्वाभाविक रूप से पाये जाने वाले व्यक्तियों में से हो, पर ऐसा भी हो कि उसके भाग्य के साथ दर्शक एक संवेदनशील अपनापन अनुभव करे। इस कारण नायक में एक प्रकार की विशिष्ट सार्वभौमिकता हो, जिससे वह जन साधारण से ऊपर उठ सके। उसमें या तो राजनीतिक या बौद्धिक अथवा नैतिक वैभव हो, जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण उसके भाग्य विपर्यय में स्वयं को दुखी और सन्तप्त अनुभव करे। यदि कोई भिखारी हमारे सामने ही गाड़ी से

कुचल कर मर जाता है, तो उसके लिए हमारे मन में दुःख उत्पन्न होता है। परन्तु इस कारण से भिखारी-सा निस्सहाय, निष्क्रिय तथा नकारात्मक व्यक्तित्व वाला पुरुष नायक की श्रेणी में नहीं आ सकता ? अरस्तू की परिभाषा के अनुसार ऐसा व्यक्तित्व, जो निष्क्रिय और नकारात्मक हो, अपने दुखद अन्त से हमें भयभीत नहीं करता, केवल दया अथवा करुणा संचारित करता है। इसीलिए अरस्तू ने करुणा के साथ भय को भी जोड़ दिया है। भय हमें केवल उसी दशा में होता है, जब हम नायक की सार्वभौमिकता और चारित्र्य वैभव को टूटते और बिखरते देखते हैं। ऐसे नायक के प्रति हमारे हृदय में गहरी संवेदना होती है; यद्यपि वह स्थान और परिस्थितियों के कारण हम से दूर और ऊँचा है, फिर भी हम हृदय से उसके साथ सामीप्य का अनुभव करते हैं और चाहते हैं कि वह हममें से ही एक हो। ऐसे व्यक्तित्व के विघटन से हमारे हृदय में जो करुणा उत्पन्न होती है वह भय-मिश्रित होती है; क्योंकि उसकी नियति में हम अपनी नियति गुम्फित पाते हैं। ऐसा सार्वभौम गुण सम्पन्न नायक अपने कार्यकलापों से हमें विस्मित और विमुग्ध-कर देता है तथा अपने भाग्य के अस्त होने पर अपने दुःख से भयभीत और द्रवित कर देता है।

इस संदर्भ में ऐसे नाटकों का उल्लेख भी किया जा सकता है जिनमें प्रधान चरित्र कोई शहीद होता है। ऐसा नायक अपने चरित्र-गठन से उतना नहीं, जितना अपनी उत्सर्गमयी भावनाओं से हमें प्रभावित करता है। वह एक अत्यन्त संघर्षशील चरित्र होता है, जो अपने से अधिक शक्तिशाली परिस्थितियों से इसलिए जूझता है कि जिससे वह अपने चारों ओर की अनैतिकता को परास्त कर सके। यह संघर्ष-शील तथा उत्सर्गोन्मुख प्रवृत्ति यद्यपि विघटित हो जाती है; परन्तु ऐसा तभी होता है जब अनैतिकता और अन्याय नष्ट हो जाते हैं। इस अन्त से हमारे मन में करुणा और भय उतने उत्पन्न नहीं होते जितना एक ऐसा समीकरण, जिसमें भय, करुणा, विस्मय और आह्लाद मिश्रित रहते हैं। इसका कारण यह है कि जो ध्वंसकारी प्रवृत्तियाँ छायी हुई थीं और जिनके विरोध में शहीद जूझ रहा था वे एक अनैतिकता का प्रतिनिधित्व करती थीं; और अब इस अनैतिक व्याधि का उन्मूलन हो गया है।

इस तरह भय और करुणा यद्यपि दुखान्त नाटक के केन्द्रीभूत रस हैं, फिर भी नाटक के कथानक के अनुसार उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन एवं सम्मिश्रण अवश्यम्भावी है। अरस्तू ने जिन दुखान्त नाटकों को ध्यान में रखते हुए उनकी परिभाषा की थी, वे नियति-प्रधान थे; क्योंकि ग्रीक-धर्म में नियति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में स्पष्ट झलकता है कि आलिम्पस पर्वत पर ग्रीक देवता

मनमौजी होकर रहते हैं। वे मानव जीवन के दु:खों के प्रति उदासीन रहते हैं तथा मानव को केवल अपने मनोरंजन का प्रसाधन समझते हैं। मानव जीवन की पृष्ठभूमि इस संदर्भ में नियति की विकराल काली छाया से सहमी-सहमी प्रतीत होती है। ग्रीक नाटकों में नियति ही दुखान्त नाटकों की घटनाओं को संक्रमण की ओर बढ़ाती है तथा अनेक परिस्थितियों में, वह चरित्र की दोषपूर्ण त्रुटियों के लिए भी उत्तरदायी है। नियति का ऐसा गम्भीर घटाटोप आवरण प्राचीन ग्रीक व्यक्ति को ग्रसित किए रहता था और इसी की झलक हमें अरस्तू की परिभाषा तथा ग्रीक दुखान्त नाटकों में मिलती है।

नायक के सम्वन्ध में जिन दो नाटक सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अरस्तू ने किया है और जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उनमें से दूसरा है प्रत्यभिज्ञा (Recognition)। अरस्तू के अनुसार इसके छ: भेद हैं। इनमें सबसे गौण और उथला प्रत्यभिज्ञान वह है जो किसी शारीरिक लक्षण के द्वारा प्रकट होता है। उत्तम प्रत्यभिज्ञान वह है जो कथानक से उत्पन्न होता हो और जिसकी व्युत्पत्ति नैसर्गिक ढंग से प्रतीत होती हो। इस नाटकीय कार्य से नायक की उस सत्यता का आभास होता है जो उसकी आन्तरिक त्रुटि को प्रकाश में लाता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कथानक में घटनाओं का क्रमबद्ध प्रदर्शन इस तरह होता है जिससे चरित्र की गहरी अभिव्यक्ति हो सके। इसलिए 'विपरिणाम' और 'प्रत्यभिज्ञा', यद्यपि ये दोनों नायक से सम्बन्धित होते हैं, फिर भी, कथानक को सुचारू रूप से अग्रसर करते हुए संक्रमण-बिन्दु तक पहुँचाने के आवश्यक माध्यम हैं। अरस्तू का कथन है कि नाटक में चरित्र गौण होता है और कथानक मुख्य। यह इसलिए कि मुख्य चरित्र का आन्तरिक अर्थ कथानक द्वारा ही उद्घाटित होता है और उसमें ही वह निहित है। इस तथ्य की पुष्टि 'विपरिणाम' और 'प्रत्यभिज्ञा' द्वारा होती है। इस तरह इन दो पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से कथानक में परिमाण आ जाता है। इस परिमाण का उल्लेख अरस्तू ने अपनी परिभाषा में किया है। चरित्र का विकास कार्यकलाप और घटनाओं की क्रमबद्धता के माध्यम से होता है; तथा इसका नैसर्गिक विकास चरित्र के आत्म-विश्वास, आन्तरिक त्रुटि, प्रत्यभिज्ञा तथा उसकी दु:खपूर्ण स्थिति से होता है।

## आन्तरिक दोष (Hamartia)

अरस्तू के अनुसार कथानक का वास्तविक स्वरूप वह है जिसमें आरम्भ है, मध्य है और अन्त है। इन तीनों का खण्डबद्ध होकर फिर एक सूत्र में होना ही कथानक को एकरूपता प्रदान करता है। प्रत्यभिज्ञा तथा विपरिणाम इस एक सूत्रता के लिए कथानक में होना आवश्यक है, अन्यथा कथानक का आरम्भ तथा

अन्त भलीभाँति नहीं हो सकेगा; और न ही घटनाएँ अपने संक्रमण-बिन्दु तक पहुँच सकेंगी। भय तथा करुणा एक ओर दुखान्त नाटक के उद्देश्य हैं तो दूसरी ओर प्रत्यभिज्ञा और विपरिणाम ऐसे तकनीकी माध्यम हैं, जो कथानक को पात्र के द्वारा वास्तविकता प्रदान करते हैं। करुणा से भय सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है और प्रत्यभिज्ञा से विपरिणाम। परन्तु प्रकृति इस प्रकार की भिन्नताओं में स्वयं सामञ्जस्य स्थापित कर उसे उपयोग में लाती है। कला यहाँ पर प्रकृति का अनुकरण करती है और दो भिन्न समूहों के बीच सामंजस्य स्थापित कर मानवीय अनुभूति को एक गहन और सौष्ठवपूर्ण स्वरूप देती है। इस तरह दुखान्त नाटक ललित कलाओं की कोटि में आ बैठता है।

नायक के सन्दर्भ में प्रत्यभिज्ञा और विपरिणाम का विश्लेषण करते समय हमने नायक के सम्बन्ध में एक विशेषता का उल्लेख किया था, वह थी उसकी नियति। नायक एक आन्तरिक त्रुटि के कारण ही कुछ ऐसा कर बैठता है कि जिसके फलस्वरूप वह पतन की ओर अग्रसर हो जाता है। अरस्तू का पारिभाषिक शब्द 'हमार्शिया' (Hamartia) अर्थात् आंतरिक दोष इसे स्पष्ट करता है। जैसा कि अरस्तू के विचारों की विवेचना करते समय हमने देखा कि नाटक किसी कार्यकलाप और जीवन की अभिव्यक्ति है न कि चरित्र की, तो उस समय हमने यह भी देखा कि कार्यकलाप का माध्यम पुरुष या स्त्री ही हो सकती है। चरित्र, यद्यपि कथानक में गौण है, फिर भी उसके माध्यम से ही कार्यकलाप आगे बढ़ता है। इसी अर्थ में अरस्तू ने कहा था कि दुखान्त नाटक मानवीय कार्यकलाप और जीवन का चित्रण है, जिसका नायक वास्तविक और साधारण मनुष्यों से श्रेष्ठतर है अथवा वैसा ही है। सुखान्त नाटक या कॉमेडी ऐसे व्यक्तियों का चित्रण है जो वास्तविकता में पाए जाने वाले साधारण मनुष्यों से निम्न हैं, क्योंकि निम्न श्रेणी के मनुष्यों के चित्रण से ही व्यंग्य और हास्य उत्पन्न किया जा सकता है। वीर-रस और करुण-रस, जो दुखान्त नाटक में सम्मिश्रित पाए जाते हैं, किसी निम्न श्रेणी के मनुष्य के सम्बन्ध में चित्रित नहीं किए जा सकते। इसलिए दुखान्त नाटकों में चरित्र ऐसे पुरुषों का चित्रण करता है जो सामान्यत: पाए जाने वाले मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं या वैसे ही कुछ हैं, परन्तु निम्न श्रेणी के नहीं हैं।

ऐसी दशा में हम यह जानना चाहेंगे कि अरस्तू ने नायक में आन्तरिक दोष अथवा हमार्शिया (Hamartia) का उल्लेख करके किस प्रकार के गम्भीर दोष की ओर संकेत किया है। हमार्शिया (Hamartia) शब्द ग्रीक भाषा में उस क्रिया का वर्णन है जब कोई तीर से निशाना लगाए परन्तु निशाना चूक जाए। शब्द का धात्वार्थ है कि भूल या चूक तो हो, परन्तु उसमें चूकने वाले की नैतिक

जिम्मेदारी नहीं है और न ही यह चूक कोई भयंकर अनैतिकता का परिणाम है। अपने दूसरे ग्रन्थ (Ethics) अर्थात् 'नीतिशास्त्र' में अरस्तू ने इस शब्द का भिन्न-भिन्न प्रकार से विवेचन किया है। उसके आधार पर इस आन्तरिक त्रुटि के निम्न-लिखित स्वरूप हो सकते हैं—

(१) जब कोई चोट अकारण ही पहुँचाई जाय, तब इसे दुर्गति कहेंगे, जो एक अभाग्यपूर्ण स्थिति है।

(२) जब यह ऐसी है, जिसकी अपेक्षा की जा सकती है तब वह केवल त्रुटि है।

(३) जब व्यक्ति जानते हुए भी ऐसा करता है परन्तु ऐसा करने में उसका कोई सुनिश्चित उद्देश्य नहीं होता, तब इसे अन्याय का एक रूप कह सकते हैं; क्योंकि वह यह कार्य क्रोध अथवा अन्य तामसिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप करता है। इस तरह से किए गए कार्य अन्यायपूर्ण होते हैं क्योंकि इन्हें क्षणिक आवेश में किया जाता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि करनेवाला अन्यायी है।

(४) जब कोई व्यक्ति जानबूझकर ऐसा कृत्य करता है जिसे वह चाहे तो न करता और जिसे करना अन्याय है, तब वह व्यक्ति, सचमुच ही, अन्यायी है और उसमें दुष्टता है।

इन चार प्रकार के दोषों का अरस्तू ने अपने ग्रन्थ (Ethics) "नीतिशास्त्र" में विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु दुखान्त नाटक के संदर्भ में जब वह नायक के आन्तरिक दोष का उल्लेख करता है, तब उस दोष का विस्तृत विवेचन न कर हमारे अनुमान पर ही छोड़ देता है।

अरस्तू ने काव्य की परिभाषा द्वारा नाटक के स्वरूप का जो विवेचन किया है तथा जो ग्रीक नाट्य-साहित्य उस समय उपलब्ध था, उनके सन्दर्भ में हम इस पारिभाषिक शब्द 'आन्तरिक दोष' के विषय में कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यदि आन्तरिक दोष केवल बाहरी परिस्थितियों अथवा नियति के द्वारा पैदा होते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि चरित्र केवल नियति की ही अभिव्यक्ति है। कहीं कहीं, समीक्षा में यह कहा जाता है कि चरित्र नियति है (Character is destiny); परन्तु, यदि विशेषकर नाटक के स्वरूप तथा उद्देश्य को ध्यान में रखा जाए तो हमें यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि द्वन्द्व के अभाव में नाटक की क्रिया तथा चरित्र का विकास सम्भव नहीं। यह द्वन्द्व या तो नायक की बाह्य परिस्थितियों से हो सकता है अथवा आन्तरिक। इस द्वन्द्व में अपने आन्तरिक दोषों के कारण वह धीरे-धीरे टूट जाता है और अन्त में दुखान्त स्थिति तक पहुँच जाता है। यह

विचारणीय है कि यदि नायक का आन्तरिक दोष नियति के कारण है तो फिर उसका द्वन्द्व उसके अपने ही अन्दर की भावनाओं, इच्छाओं तथा अभिलाषाओं से हो सकता है। ऐसे आन्तरिक द्वन्द्व में केन्द्रित नाटक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक सूक्ष्म और कलात्मक होते हैं। इसलिए 'चरित्र नियति है' इस विचार को बदलना होगा। आन्तरिक दोष चरित्र में निहित त्रुटियों के कारण भी आ सकता है। परन्तु, यदि वाह्य (बाहरी) परिस्थितियाँ इसके लिए उत्तरदायी हों तो नायक का अपना व्यक्तित्व, बाह्य (बाहरी) परिस्थितियाँ और आन्तरिक दुर्बलतायें, यह सब मिलकर उसकी नियति का रूप धारण कर सकती हैं; क्योंकि उसमें जो आन्तरिक दोष है, वह इन सब परिणामों की समष्टि है। शैक्सपीयर के "ओथोलो" नाटक में नायक एक वीरोचित व्यक्ति है, परन्तु उसमें ईर्ष्या बहुत बड़ी मात्रा में है; और प्रेम भी वह चरम सीमा तक अनायास ही कर सकता है। नीग्रो जाति का होने के कारण उसमें ऐतिहासिक हीनता के चिह्न हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से उसमें भावनाओं का अतिरेक भी है। इसलिए वह कुछ असंतुलित-सा व्यक्ति है। उस दोष के कारण वह अपनी पत्नी की हत्या कर देता है, जो ऐसे वीर और ख्याति प्राप्त पुरुष के लिए एक अनहोनी-सी बात कही जा सकती है। यह दोषपूर्ण व्यक्तित्व ही उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करता है जिसे सामान्य परिस्थितियों में वह नहीं करता। इसलिए उसका यह आन्तरिक दोष कोई इच्छा से किया हुआ या जाना हुआ दोष नहीं है। जहाँ तक नाटकीय द्वन्द्व का प्रश्न है, जब नायक अनेक आन्तरिक या बाह्य शक्तियों से जूझ कर जब टूट जाता है तो वहाँ उसके पीछे यह दोष ही सक्रिय रहता है। परन्तु यह दोष पाप की श्रेणी का नहीं है, और न ही वह ऐसा है जिसके प्रति नायक पूर्ण सचेत रहता है अथवा जिसके साथ उसका लगाव रहता है।

नायक इस द्वन्द्व में आबद्ध रहता है और अन्त में दुखद स्थिति तक पहुँच जाता है। तब यह ज्ञात होता है कि नायक ने, जो दुर्गति को पहुँच चुका है, कुछ ऐसा कार्य किया है जिसका परिणाम दोष के अनुपात से अधिक दुर्भाग्यपूर्ण रहा। तब हम यही कहते हैं कि यह दुखद परिणाम उसके लिए उपयुक्त नहीं है अथवा वह स्वयं उसके लिए उत्तरदायी है।

अतः हम भावना में उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं, संवेदना से ओतप्रोत हो जाते हैं और उसकी सार्वभौमिकता के कारण हमारे हृदय में भय का भी संचार हो जाता है। यह भय आदर सँयुक्त होता है, इसलिए इसे कभी-कभी हम भयपूर्ण आदर (Awe) की संज्ञा दे देते हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'विपरिणाम', 'प्रत्यभिज्ञा' और 'आन्तरिक दोष' तीनों ही तत्व नायक के कार्यकलाप और उसके मनोवैज्ञानिक

जीवन को बहुत गहराई तक प्रभावित करते हैं। हम देख ही चुके हैं कि पहली दो स्थितियाँ, 'विपरिणाम' और प्रत्यभिज्ञा' (Reversal and Recognition), कथानक को विकसित करने और प्रकाश में लाने के लिए नितान्त आवश्यक हैं, तथा वे नायक के चरित्र में केन्द्रित हैं। दोषपूर्ण स्थिति नायक की अपनी मानसिक दुर्बलता है और नायक जिस सीमा तक कथानक के साथ सम्बद्ध रहता है, उसी सीमा तक यह मानसिक दोष कथानक के साथ जुड़ा रहता है। अरस्तू का यह कथन कि कथानक ही प्रमुख है तथा चरित्र कार्यकलाप द्वारा ही स्पष्ट होता है, एक महत्वपूर्ण नाटकीय सत्य है।

## ऐक्य त्रयी–(संकलन-त्रयी–Three Unities)

अरस्तू के विषय में बहुचर्चित समीक्षा उसके ऐक्य सिद्धान्तों पर है। ये 'काल-ऐक्य' (काल-संकलन—Unity of Time), 'स्थान-ऐक्य' (स्थान-संकलन—Unity of place), तथा 'कार्य-ऐक्य' (Unity of Action—कार्य-संकलन) कहलाते हैं। इनमें से द्वितीय ऐक्य अर्थात् स्थान-ऐक्य (Unity of Place) का उल्लेख अरस्तू ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कहीं नहीं किया है। प्रथम ऐक्य अर्थात् काल-ऐक्य वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार जो घटनाएँ घटित होती हैं, ऐसी हैं जो एक दिन के भीतर ही घटित होती हैं। 'कार्य-ऐक्य' (Unity of Action) वह है, जिसके अनुसार प्रधान विचार अर्थात् कथानक के मुख्य प्रकरण (Theme) से हटकर, उससे भिन्न अथवा कोई विरोधी विषय का समावेश न किया जाए। अरस्तू की इस परिभाषा के अनुसार दुखान्त नाटक में न तो कोई हास्य का प्रसंग हो और न ही कोई प्रासंगिक कथानक (Sub-plot) ही हो। अरस्तू की परिभाषा में दोनों ऐक्यों का जो स्थान है, वह गौण नहीं है। यदि नाटक एक गम्भीर और गहरी दु:खपूर्ण चेतना दर्शक के मन में छोड़ना चाहता है, और उसे इस दु:ख की भावना के बाद भी नाटकीय रस में विभोर कर देना चाहता है तब उस स्थिति में यह आवश्यक है कि कथानक में कार्य-ऐक्य (Unity of Action) हो। जब कथानक 'विपरिणाम' की स्थिति से आगे बढ़ता है और पात्र 'प्रत्यभिज्ञा' अर्थात् 'पहचान' की स्थिति में आ जाता है, तब कथानक में करुण-रस का वेग एक ऐसा मोड़ लेकर प्रवाहित होने लगता है जो दर्शक के मन में उत्कंठा और जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है। यदि इस नाटकीय तनाव को किसी प्रासंगिक कथानक या हास्य-रस द्वारा विपथ करने की चेष्टा हुई तो नाटक का उद्देश्य भयमिश्रित करुणा का उदय—पराजित हो जाएगा। अरस्तु के बाद की समीक्षा और वर्तमान समीक्षा में नाटक के युगों-युगों के परिवर्तित स्वरूपों के बाद अब समीक्षक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि नाटक में 'प्रभाव-ऐक्य' (Unity

of impression ) बहुत आवश्यक है, विशेषकर दुखान्त नाटक में। सभी समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि वही कथानक सुदृढ़, सुगठित और श्रेष्ठ होता है जो अपने प्रभाव को दर्शक के मन पर छोड़ देता है।

## विरेचन (कथार्सिस-Katharsis)

पिछले पृष्ठों में विरेचन-क्रिया ( Katharsis ) की ओर इंगित किया जा चुका है। विरेचन-सिद्धान्त अरस्तू की काव्य सम्बन्धी विचारधारा की धुरी है। इसके विवेचन के पूर्व अरस्तू की एक और काव्य सम्बन्धी व्याख्या पर ध्यान देना आवश्यक है। उसने कहा था: 'काव्य और इतिहास में मौलिक भेद है। काव्य अधिक दार्शनिक और सर्वव्यापी (युनिवर्सल) है और इतिहास केवल वस्तुस्थिति एवं अमुक-अमुक का वर्णन करता है। अत: काव्य, इतिहास से श्रेष्ठतर वस्तु है। काव्य का यह कार्य नहीं कि जो घटित हो चुका है उसे कहे, वरन् जो हो सकता है उसे कहे—जो सम्भव हो और आवश्यकता के नियम के अनुसार सम्भाव्य हो।'

यहाँ भी अरस्तू अपने गुरु प्लेटो के इस विचार का खण्डन कर रहा है कि काव्य जब ललित कला की कोटि में आ जाता है, तब उससे भावात्मक तथा मानसिक सन्तुलन अस्तव्यस्त हो जाता है। अत: वह एक हीन मनोदशा का जनक है। अरस्तू ने इसे अधिक दार्शनिक तथा सार्वलौकिक कह कर ललित कला की ऊँची मान्यता दी।

परन्तु, साथ ही, अरस्तू ने दुखान्त नाटक (काव्य) की एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक और सामाजिक उपादेयता की प्रतिस्थापना भी विरेचन (कथार्सिस) की परिभाषा द्वारा की है, जिसका निहित सत्य कला के दार्शनिक होने के साथ जुड़ा हुआ है। विरेचन और 'निकाल फेंकना' तथा इसके द्वारा ही शुद्धीकरण, प्राचीन ग्रीक समाज में प्रचलित कुछ धार्मिक गूढ़ संस्कारों तथा आचारों से, आंशिक रूप से, प्रभावित हैं। साथ ही, वह पश्चिमी चिकित्सा-शास्त्र के जनक 'हिपोक्रिटीज—(Hippocrates)' की चिकित्सा प्रणाली का एक अंग था।

तत्कालीन कुछ गूढ़ सम्प्रदाय ऐसे आचारों तथा रीतियों का आयोजन करते थे जिसमें विरेचन अपने आप ही क्रियाशील हो जाता था। उदाहरणार्थ, 'डायनोसियस पूजा' में जिन आचारों का विधान था उनमें एक यह भी था कि इस देवता के श्रद्धालु पीकर तथा धार्मिक रीतियों में उन्मत्त हो, मदहोश हो जाते थे। उनकी इस मदमाती दशा में ही उन्मत्त कर देने वाला संगीत बजाया जाता था। इसके सुनने से उन मदहोश भक्तों के मानस में विरेचन क्रिया सक्रिय हो जाती थी।

उन्मत्त और तीव्र संगीत तथा ताण्डव जैसे नृत्य उनके अन्दर ही सुप्त विकराल चेष्टाओं तथा मनोवृत्तियों को उभार देते थे। फिर अन्तर-प्रक्रिया के अनुसार उसके मन से एक बोझ-सा उतर जाता था। यही विरेचन क्रिया है। अनुपात से अधिक मात्रा में विद्यमान तथा निरोध किए हुए वे सारे विचारों और भावनाओं का समूह उफन कर समाप्त हो जाता था।

हिपोक्रिटीज भी अपनी चिकित्सा प्रणाली में इस प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए कहता है कि व्याधि को उस संक्रमण की दशा तक पहुँचाया जाय जहाँ इसमें व्यर्थ तथा आवश्यकता से अधिक पाए गए रोग तन्तु उभर आएँ और फिर निकाल फेंके जाए।

आगे की एक विशेष चिकित्सा प्रणाली, जिसे जर्मनी के चिकित्सक हाइनमैन ने जन्म दिया, होमियोपैथी कहलाती है। इसकी प्रणाली भी बहुत कुछ विरेचन पर आधारित है।

अरस्तू के समय में यह एक सर्वमान्य पद्धति थी कि समान तीव्रता से ही तीव्रता को निकाला जाय और फिर सन्तुलन लाया जाय। यहाँ तक कि प्लेटो ने भी इस प्रणाली का एक तरह से समर्थन किया था। अपने ग्रन्थ 'कानून' (Laws) में उसने लिखा है कि धर्म-संस्कारों में जो भक्त मदहोश हो जाते हैं, उनका उपचार तीव्र तथा प्रचण्ड संगीत से ही हो सकता है। एक दैनिक उदाहरण देते हुए उसने कहा कि जब शिशु रोने लगे और अस्थिर हो जाए तब उसे बाहों में लेकर निश्चल न रखें, वरन् उसे यदि बाहों में ही झुलायें तो वह शान्त हो जा सकता है। इस तरह बाह्य आन्दोलन से आन्तरिक आन्दोलन को शान्त किया जा सकता है। अरस्तू, जो दार्शनिक के अतिरिक्त एक प्रयोग-सिद्ध-वैज्ञानिक भी था; जीवन की उन समस्त भिन्न दीख पड़नेवाली क्रियाओं में समन्वय के तत्व देखा करता था। काव्य को ललितकला के समकक्ष लाकर उसने उसे दार्शनिकता की ऊँची श्रेणी में बिठलाया। फिर, अपने इस दृष्टिकोण को मनोवैज्ञानिक रूप से सुदृढ़ करने के लिए उपयोगिता का उल्लेख किया। अपने एक पूर्व रचित ग्रन्थ 'राजनीति शास्त्र' (Politics) में उसने एक स्थान में लिखा है—

> "संगीत का प्रभाव उन सब भावुक तथा भय-करुणा प्लावित व्यक्तियों पर होता है जो इन भावनाओं से शीघ्रता से प्रभावित हो जाते हैं। संगीत उन भावनाओं को उफान में लाकर निकाल देता है। उसके बाद वे व्यक्ति आनन्द-जनित राहत का अनुभव करते हैं।"

विरेचन (कथार्सिस) का उद्देश्य एक आनन्द-जनित राहत ( Pleasurable Relief) देने का है। यह बात अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'राजनीति' में कही है। उसने अपने ग्रन्थ "काव्य शास्त्र" में इसे ही दुखान्त नाटक के संदर्भ में उपयोग में लाते हुए 'विरेचन' का कलात्मक उद्देश्य स्थापित किया है। विरेचन के पश्चात् एक आनन्दमयी, काव्यमय राहत की अनुभूति ( Tragic Relief ) होती है। अब देखना यह है कि भय तथा करुणा जैसी भावनाओं का किस प्रकार विरेचन होता है और इस विरेचन के पश्चात् आनन्दमय, और कलात्मक राहत का अनुभव क्यों होता है।

मोटे रूप से यह कह सकते हैं कि दैनिक जीवन में भय और करुणा, दोनों ही, ऐसी भावनायें हैं जिनमें पीड़ा का एक तत्व रहता है। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पीड़ा के इस तत्व से, भय और करुणा के निष्कासन पर ही हमें राहत मिल सकती है, परन्तु, यह राहत क्या उस श्रेणी की नहीं होगी, जो हमें कोई पीड़ा-हरण एस्पिरिन या नींद लाने वाली गोली देती है? यदि ऐसा है, तो नाटक के इस उद्देश्य में कलात्मक आनन्द (Pleasurable Relief) का ध्यान ही न होगा। अतः भय तथा करुणा का विश्लेषण कर यह देखना उचित होगा कि किस प्रकार दुखान्त नाटक में उनके विरेचन से कोई कलात्मक आनन्द प्राप्त हो सकता है।

अपने एक अन्य ग्रन्थ 'अलंकार शास्त्र—'( Rhetoric )' में अरस्तू ने भय की निम्नलिखित परिभाषा दी है—

> 'यह एक प्रकार की पीड़ा है जो इस आभास से उत्पन्न होती है कि बहुत शीघ्र ही हम पर कोई विपत्ति टूटने वाली है जिससे कोई हानि या व्यथा हो सकती है। यह विपत्ति कोई दूर भविष्य में नहीं परन्तु बहुत ही निकट काल में आभासित होती है।'

इसी प्रकार उसने करुणा की परिभाषा देते हुए लिखा है—

> 'करुणा एक ऐसी व्यथा या पीड़ा है जो किसी ऐसे व्यक्ति पर विपत्ति टूटते देख कर होती है जो ऐसी विपत्ति का पात्र नहीं है और यह विपत्ति ऐसी है कि हम पर भी आ पड़े।'

इस तरह करुणा और भय में बहुत निकट का सम्बन्ध है। करुणा भय में भी परिणत हो जाती है, क्योंकि जिसके प्रति करुणा का संचार हुआ है, वह हमसे इस तरह सामीप्य में बँधा हुआ है कि उसकी व्यथा और पीड़ा हमें अपनी ही लगने

लगती है। यहाँ सार्वभौमिकता की प्रतिच्छाया जो नायक से उतरती है, दिखलाई पड़ती है।

जिस दुखान्त नाटक में केवल भय ही हो और करुणा न हो, वह पूर्ण रूप से दुखांत नाटक नहीं है। यहाँ तक कि, उसे 'ट्रेजेडी' कहना भी एक विडम्बना है। इसी प्रकार, केवल करुणा से प्लावित नाटक ट्रेजेडी नहीं रह जाता, वरन् वह भावुकतापूर्ण कामेडी का रूप ले लेता है।

इसका कारण यह है कि जब हमें केवल भय ही भय रहता है और करुणा नहीं, तब हम अपने अहम् से पूर्ण, दैनिक जीवन की खुरदरी यथार्थता में डूबे रहते हैं और किसी कलात्मक परिदर्शन की सम्भावना हमारे जीवन से लुप्त हो जाती है।

यह देखा गया है कि जब हम दूसरे के लिए करुणा से द्रवित होते हैं, तब उन्हीं परिस्थितियों में यदि हम हों, तो अपने लिए भय का अनुभव करेंगे। जिन्हें कभी भय नहीं होता है वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके हृदय में करुणा भी कभी नहीं उत्पन्न होती। इस तरह करुणा के मूल में भय है, और इस द्वन्द्वात्मक प्रकाश में वे एक दूसरे के अर्थ के पूरक हैं।

इन दो भावनाओं का संयोग कर अरस्तू ने एक बड़े नाटकीय तत्व की ओर संकेत किया है; और वह यह है कि भय और करुणा दर्शक में, इस संदर्भ में, तभी उत्पन्न होते जब एक सफल दुखांत नाटक में नायक के कार्य-कलापों और उसके अस्तंगत भाग्य से हम अपने को एक गहराई से संबद्ध पाते हैं। भय इसीलिए होता है कि इस प्रधान-चरित्र पर आई हुई विपत्ति, जिसने हमें झकझोर दिया है, हम पर भी आ सकती है। इस पृष्ठभूमि में, इन भावनाओं के अन्तर्द्वन्द्व में हमारा 'अहम्' (Self) पूरी तौर से बिंधा हुआ है। इसलिए, इस नाटकीय करुणा में कोई शुद्ध, निःस्वार्थ करुणा नहीं है; अर्थात् ऐसी करुणा (Compassion) नहीं, जिससे हम किसी दूसरे व्यथित व्यक्ति की सहायता के लिए दौड़ पड़ने को प्रेरित हो जाते हैं क्योंकि हमारा अहम् इसमें पूरी तरह संबोधित है, चाहे कितने ही परोक्ष रूप से क्यों न हो। यह हमें प्रधान-चरित्र के कार्यकलापों में अर्थ-मनोचेतना के माध्यम से, सम्वेदना और करुणा के सम्मिश्रण के झिलमिल परिवेश में झलकता दीखता है।

प्रधान चरित्र कोई असाधारण रूप से उत्तम प्रकार का पुरुष नहीं होता, वह साधारण कोटि का विशिष्ट पुरुष होता है। साधारण और विशिष्ट ये दो परिभाषायें हैं, केवल विशेषण नहीं; 'साधारण' क्योंकि हमारी ही तरह गलतियाँ

कर सकने वाला; 'विशिष्ट' इसलिए कि वह एक ऐसी श्रेणी का है जिसका बौद्धिक, सामाजिक अथवा नैतिक प्रभाव हम पर पड़ता है और उसके विस्तृत नियति-तंत्र में हम स्वयं को भी आबद्ध पाते हैं। वह मानवीय दोष और संभावित महानता का प्रतिनिधि है। नायक के गुणों की इस परिकल्पना में, अरस्तू ने ग्रीक-सभ्यता के प्रमुख आचार का सहारा लिया है। वह है—'मध्यम-मार्ग', हर वस्तु को चरम-सीमा तक न ले जाना—दुखान्त नाटक का नायक, जिसमें उसके कार्यकलाप ही मुख्य हैं, इस मध्यम-मार्ग का एक संकेत है।

क्योंकि, नायक, जिसके कार्यकलाप, हम में भय और करुणा का सञ्चार अपनी पतनशील नियति के द्वारा करते हैं, एक प्रकार से हमारा ही प्रतिनिधि है। हम उसकी अन्तिम नियति में सम्पूर्ण मानवता की नियति को उलझी हुई देखते हैं।

दुखान्त नाटक को देखने से हमारे मन में भय और करुणा का जो उदय होता है उसमें हमारा स्वयं का 'अहम्' अवश्य है, परन्तु वह ऐसा नहीं कि इससे हमारे दैनिक जीवन की घटनाओं पर कोई प्रभाव हो। नायक के जीवन का उतार हमें उदास तो करता है, और व्यथित भी; परन्तू चूँकि वह उस नियति का प्रतिनिधित्व करता है जो सम्पूर्ण मानवता की हो सकती है, हम एक विस्तृतक्षितिज का अनुभव करते हैं जिसमें विशाल तथा दारुण तन्तु समस्त मानवता के भाग्य का ताना-बाना बुनते हैं; उसे तोड़ते हैं और फिर बुनते हैं। इस विशालता का एक विलक्षण दर्शन है; यही दर्शन (Vision) हमें नाटक की व्यथा, करुणा और भय मिश्रित झंकार में तिरता हुआ दीख पड़ता है।

अरस्तू के समय में, ग्रीक-सभ्यता में, कोई स्वतंत्र स्कूल नहीं था जिसे सौन्दर्य-शास्त्र (Aesthetics) कहा जा सके। उसके साहित्य में केवल दुखान्त नाटक, सुखान्त नाटक और महाकाव्य ही थे और वे अपने अपने स्थान पर तत्कालीन धर्म-संस्कारों से प्रभावित थे। फिर इस समस्या का समाधान कहाँ ढूँढा जाय कि विरेचन (कथार्सिस) से शुद्धीकरण होकर, एक प्रकार की आनन्दमयी राहत मिलती है? यह 'ट्रेजिक रिलीफ' हमारे मन की अतिरिक्त भावनाओं—भय और करुणा—के उफान के बाद विरेचन द्वारा प्राप्त होता है। इसका स्पष्ट संकेत यही है कि दुखान्त नाटक, हमें अपनी संकीर्ण परिधियों से उठाकर, नियति के उस विलक्षण कार्य का दर्शन कराता है जिसमें समस्त मानवता अपनी दुर्बलताओं, साहसों, दोषों तथा महानताओं के साथ गतिशील है। ऊँची शक्तियों और अवरोधों से टकराकर टूटती हुई भी वह अपने पीछे एक ऐसा वैभव छोड़ देती है, जिसे हम भय और करुणा के मिश्रण से विस्मित होकर आदर से देखते हैं। यहाँ नाटक कला

की परिधि में आ जाता है—कला एक दर्शन ( Vision ) ही तो है—और हमारे मन में एक ऐसी विमुक्ति का अनुभव होता है जो उफान के बाद होती है ।

## सुखान्त नाटक अथवा कॉमेडी

अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र' का दूसरा भी खण्ड था, जो अब लुप्त हो चुका है और जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सुखान्त नाटक का भी विश्लेषण और विवेचन किया था। प्रथम खण्ड में भी, जो प्राप्य है और जिस पर यह टीका लिखी जा रही है, सुखान्त नाटकों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है, परन्तु कोई विस्तृत चर्चा नहीं है । उसने कहा है कि सुखान्त नाटक ऐसे मनुष्यों का चित्रण करता है जो सामान्यतः पाए जाने वाले मनुष्यों से निम्नतर कोटि के होते हैं और उनके इस चित्रण में नाटक का उद्देश्य हास्य और व्यंग्य पैदा करना होता है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'फिलीबस—(Philebus) में यह तर्क प्रस्तुत किया है—

> 'सुखान्त नाटक, घृणित और उपद्रवी चरित्रों को रंगमंच पर अत्यन्त सीधे बनाए गए देखकर, एक प्रकार के द्वेषपूर्ण हर्ष अथवा अहम्वृद्धि की भावना को उकसाता है ।

परन्तु अरस्तू इतना कठोर दृष्टिकोण नहीं अपनाता है और सुखान्त नाटक अर्थात् कॉमेडी की परिभाषा इस प्रकार करता है—

> 'सुखान्त नाटक या हास्य नाटक निम्न श्रेणी के मनुष्यों को चित्रित करते हैं। ऐसे मनुष्य को किसी पूर्ण अर्थ में बुरे नहीं हैं, केवल उनमें ऐसी चेष्टायें और प्रवृत्तियाँ हैं जो हास्यास्पद हैं; और यह अभिहस्य 'कुरूप' का ही एक अंग हैं । इस चरित्र में एक ऐसा दोष होता है अथवा उनके कार्य या चेष्टाओं में ऐसी कुरूपता होती है जो पीड़ा देने वाली नहीं होती और न ही विनाशकारी होती है । उदाहरणार्थ जो हास्य के मुखौटे होते हैं (Comic Mask) वे देखने में कुरूप और विकृत अवश्य लगते हैं परन्तु उनसे पीड़ा नहीं पहुचती ।"

दसवीं सदी में रचित "Tractatus Cuistinianus" ग्रन्थ में अरस्तू के दुखान्त नाटक की परिभाषा के समान ही सुखान्त नाटक की परिभाषा भी की गई है। यह अरस्तू ने तो नहीं की है पर उसके विचारों के ही अनुसार दीख पड़ती है ।

सुखान्त नाटक या हास्य नाटक उस कार्यकलाप को प्रतिबिम्बित करता है, जो अभिहस्य या अपूर्ण हो, तथा वह सुख और हास्य के द्वारा इन्हीं भावनाओं का, उफान कर निष्कासित कर, शुद्धीकरण करता है। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'नीति-शास्त्र' में लिखा है कि आनन्द मनोरंजन से नहीं आता है, वरन् बौद्धिक कार्यों से आता है। प्लेटो तथा अरस्तू, दोनों ने ही, हास्य को एक हानिकारिक मनोविकार माना है। अरस्तू ने अपने अन्य ग्रन्थ 'राजनीति' में लिखा है कि विधायकों को चाहिए—

> "वे नौजवानों को हास्य नाटक न देखने दें, जब तक कि वे इस उम्र के न हो जायँ कि तेज शराब पीकर उसे सहन कर लें।"

सुखान्त हास्य नाटकों में भी विरेचन होता है जो लगभग उसी प्रकार का है जैसा दुखान्त नाटक में। यहाँ हास्य और सुख की भावनाओं का निष्क्रमण और शुद्धीकरण होता है। अपने ग्रन्थ 'काव्यशास्त्र' में अरस्तू ने कुछ तुलनाएँ भी की हैं; जैसे, बहुत प्राचीनकाल की वे हास्यनाटिकाएँ, जो ओछे और तीखे व्यंग्य पर आधारित थीं और जिनका जनक अरिस्टोफेनिस (Aristophanes) था एवं नए हास्य नाटक जिन्हें "मनेन्द्रीय" (Manandrian Comedy) कहते हैं। हास्य नाटक का उद्भव डायोनीश्यस देवता की प्रशस्ति में गाए गए अश्लील गीतों में मिलता है; क्योंकि ये उसके श्रद्धालु जन लिंग-प्रशंसा पर गीत गाते और निम्न स्तर का हास्य करते थे। अरस्तू ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि कवि होमर ने हास्य नाटक की रूपरेखा तैयार की और हास्यास्पद स्थितियों और व्यक्तियों का नाटकीय चित्रण किया। परन्तु, आगे चलकर व्यक्तिगत व्यंग्य लिखे जाने लगे। इस तरह के चुटीले और ओछे किस्म के व्यंग्य लिखने वाले हास्य नाटक लिखने लगे तथा महाकाव्य लिखने वाले दुखान्त नाटक।

ओछे और तीखे व्यंग्य, जो आरम्भ में केवल निन्दा-लेख (Lampoon) थे, अब वे ओछे व्यक्तिगत आक्षेपों में ढल गए। आगे चलकर अरस्तू ने कहा—

> "सुखान्त या हास्य नाटक में नाटककार पहले सम्भावनाओं के आधार पर कथानक की रूपरेखा तैयार करते हैं और फिर उसमें विशिष्ट नामों द्वारा पात्रों का समावेश करते हैं, जो प्रतिनिधि रूप में (Type) होते हैं; दूसरी ओर, निन्दा लेख लिखने वाले अमुक अमुक व्यक्तियों की निन्दा और उन पर व्यंग्य करते हैं।"

हास्य नाटक की यह परिभाषा रोम भाषा में अनुवाद हुए 'टेरेन्स' तथा 'प्लाटस' जैसे हास्य नाटककारों पर उतरती है। इस परिभाषा के अनुसार, हास्य

नाटककार विशिष्ट और प्रतिनिधि नाम अपने कथानक में रखते हैं, जो एक लेबिल की तरह होते हैं; जैसे, 'आरटोट्रोबस' अर्थात् 'रोटी तोड़' या 'पोलीप्रैगाम' अर्थात् 'दूसरों के कार्य में हाथ डालने वाला मनुष्य।' परन्तु, ऐसे नाम यद्यपि नाटक में उपयोग होते आए हैं, फिर भी वे नाटकों के मुख्य तत्व नहीं हैं। ग्रीस में जो नीति विषयक मान्यतायें थीं उनके अनुसार अवगुण (Vice) तथा साथ हीनगुण, इन दोनों का रेखा-चित्रण नाटक में हुआ करता था। अवगुण और हास्य नाटक में सम्बन्ध है। जबकि, नाटक में जो गौण प्रधान रहते हैं उनमें उद्देश्य की शक्ति और साहस तथा लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का वेग होता है। वहीं, हास्य नाटक में जिस नीच और शठ पुरुष का चित्रण हुआ है, उसमें न तो क्रियाशीलता होती है और न वेग ही। वह स्थिर चरित्र होता है और शनैः शनैः शठता और नीचता का परिचय देना स्वयं का लक्ष्य मानने वाला। जैसा कि "काव्यशास्त्र" के प्रसिद्ध टीकाकार बुचर ने कहा है—

> "ग्रीक दुखान्त नाटक में एक बहुत ही सुन्दर सामंजस्य व्यक्ति तथा प्रकार (Type) के बीच की स्थिति स्थापित करता है, परन्तु सुखान्त और हास्य नाटक व्यक्ति को प्रकार में लीन करता है।"

अरस्तू ने काव्य की परिभाषा करते समय जिस अनुकरण अथवा माईमेसिस तत्व का उल्लेख किया था, उसके द्वारा प्रतिचित्रण तथा सृजनात्मक क्रिया कला की सौन्दर्यप्रणाली के रूप में आई। यह सौन्दर्य एक दार्शनिक-बोध है जो चित्रण की सर्वव्यापीकरण-शक्ति (Universalising Power) पर अवलम्बित है। काव्य में सर्वव्यापीकरण एक निहित क्रिया है। परन्तु अरस्तू ने दुखान्त नाटक तथा सुखान्त नाटक (कॉमेडी) में इस सर्वव्यापीकरण शक्ति का कोई तुलनात्मक सम्बन्ध नहीं बतलाया। जिस ओछे व्यंग्य की उसने भर्त्सना की, वह व्यक्तिगत तथा छिछला था। उसमें मानव मात्र की उपहासनीय तथा विकृत त्रुटियों का चित्रण नहीं था। न ही, उसमें वह कलात्मकता थी जो किसी प्रतिचित्रण में उस समय निखर उठती है जब उसमें अनावश्यक, अमार्मिक और उथले तत्त्व पृथक् करके उसके अस्तित्व की सत्यता को उभार कर, ऐसा प्रस्तुत किया जाता है कि वह समय तथा परिधि की खींचतान में तटस्थ हो। इसका यह अर्थ नहीं कि कॉमेडी में जो चरित्र-चित्रण है वह उस मानव का है जो त्रुटिहीन है। यह सुखान्त नाटक में, जिसका उद्देश्य हास्य और आनन्द है, सम्भव ही नहीं।

मानव जीवन में ऐसे चरित्र होते हैं जो अपने कार्य-कलाप से मानव स्वभाव की विकृतियों को स्वयं के माध्यम से अभिव्यंजित कर देते हैं। ये विकृतियाँ इस

प्रकार प्रस्तुत की जाती हैं कि उनमें एक सर्वव्यापकता का वातावरण रहता है। उनकी मूर्खताओं, विकृतियों और हास्यास्पद चेष्टाओं को सुखान्त नाटक में इस तरह प्रस्तुत करता है कि हमारे मन में घृणा के स्थान पर हास्य और मनोरंजन की भावना हो जाती है। ऐसा होना तभी संभव है, जब सुखान्त नाटक में कला की सार्वभौमिकता प्रवेश करती है। इस दशा में विकृतियाँ, अपना विषैलापन केंचुली के समान त्यागकर, नए रूप में आती हैं। ये विकृतियाँ मानवता की विस्तृत भूमिका में समाज अथवा संस्थाओं की उन हास्यास्पद विषमताओं की ओर इंगित करती हैं जो दैनिक जीवन में हमें क्षोभ से भर सकती हैं। यहाँ व्यंग्यकार, जो साधारणतः स्वयं को समाज से ऊपर समझता है, हमारे बीच बैठकर हास्य, और मनोरंजन में साथ देता है।

सर्वव्यापीकरण का काव्य में महत्वपूर्णस्थान निर्देशित करते हुए, अरस्तू सुखान्त नाटक में ऐसे पात्र की कल्पना करता है जो जनसाधारण के प्रतीक हों। प्रतीक इसलिए कि अपने मुखौटों के द्वारा ही वे कार्यकलापों का पूर्व-परिचय स्वयं ही रंगमञ्च पर दे देते हैं।

अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' के सभी प्रसिद्ध टीकाकार इस सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दुखान्त नाटक पात्र को व्यक्तिप्रधान बनाकर प्रस्तुत करता है। परन्तु, सुखान्त नाटक (कॉमेडी) पात्र को जन-साधारण का एक प्रकार (Type) बनाकर प्रस्तुत करता है। यह मत उन परिस्थितियों में ठीक उतरता है जिनमें दुखान्त नाटक के नायक की परिकल्पना और मीमांसा की गई है। सुखान्त नाटक के पात्रों में कोई एक विशेष मनोविकार इस तरह अतिरंजित किया जाकर प्रस्तुत किया जाता है कि इस दोष-चित्रण से हमारे मन में ग्लानि के स्थान पर हास्य और मनोरंजन की भावना उदित हो जाती है। उदाहरणार्थ, कंजूसी, लालच, भ्रामक प्रेम आदि ऐसे मनोविकार हैं, जो सुखान्त नाटक के पात्रों को केवल कंजूस, लालची और मूर्ख प्रेमी के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। इस तरह पात्र व्यक्ति न होकर प्रतीक बन जाता है।

आगे की सदियों में, हास्य नाटक की स्थिति इसी प्रकार की थी। सुखान्त नाटक में अंग्रेजी-साहित्य में 'कॉमेडी आफ मैनर्स' अथवा 'कॉमेडी आफ ह्यमर्स' (Comedy of Manners & Comedy of Humours) का रूप लिया। इन सुखान्त नाटकों का विवेचन आगे चलकर किया जाएगा तथा उन सुखान्त नाटकों का भी जिन्हें शैक्सपीयर ने लिखा; और जो वास्तव में सुखान्त नाटक (कॉमेडी) की श्रेणी में नहीं आते वरन् रोमांस कहलाते हैं।

दुखान्त नाटक और सुखान्त नाटक (कॉमेडी) में कुछ तत्व, परस्पर रूप से भिन्न होते हुए भी, अनुपात में समान अधिकार क्षेत्र वाले हैं। उनकी एक सूची नीचे दी जा रही है। यह सूची आधुनिक समीक्षक श्री एलफ्रेड कुक के ग्रन्थ 'The Dark Voyage and the Golden Mean' से ली गई है। इस सूची में भिन्न-भिन्न तत्वों के अधिकार क्षेत्र उनके प्रतीकों के अनुसार (Antimomy of Symbols) दर्शाए गए हैं—

| दुखान्त नाटक | सुखान्त नाटक (कॉमेडी) |
|---|---|
| १. विलक्षण | १. सम्भाव्य |
| २. कल्पना | २. बुद्धि |
| ३. सदाचार | ३. आचार-व्यवहार |
| ४. व्यक्ति | ४. समाज |
| ५. चरम-सीमा | ५. मध्यम-मार्ग |
| ६. प्रतीक | ६. विचार |
| ७. मृत्यु | ७. राजनीति, लिंगभेद |
| ८. शिव और अशिव | ८. अनुपालन या निष्कासन |
| ९. सुन्दर पात्र | ९. कुरूप पात्र |
| १०. असफलता | १०. सफलता |
| ११. सर्वोपरि मानव | ११. अधम, पशु |
| १२. रईस | १२. मध्यमवर्ग |
| १३. असत्याभास | १३. अन्तर |

उपरोक्त प्रतीक हैं, स्पष्ट विचार नहीं, परन्तु इनके ही प्रकाश में इन दोनों प्रकार के नाटकों का तुलनात्मक क्षेत्र, परिधि और अधिकारी-भावना पर विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

## कथानक के तीन ऐक्य (संकलन-त्रय) और महाकाव्य

"काव्यशास्त्र" (Poetics) के १८ वें परिच्छेद में अरस्तू ने लिखा है—

> "हरएक दुखान्त नाटक दो भागों में बँटा रहता है—गुत्थी और सुलझन। घटनायें जो कार्यकलाप के लिए बाहरी हैं, कभी कभी कार्यकलाप के किसी अंग से सम्बद्ध कर दी जाती हैं जिनसे कथानक के प्रारम्भिक भाग में गुत्थी (Complication) पैदा हो जाती है। कथानक का शेष अंग 'सुलझन' (Unravelling) कहलाता है। 'गुत्थी' में कार्यकलाप के प्रारम्भ

से विपरिणाम (Reversal) के प्रारंभिक बिन्दु तक का विस्तार निहित होता है। 'सुलझन' (Unravelling) विपरिणाम के साथ प्रारम्भ होकर उसके अन्त तक व्याप्त रहती है।

इस प्रकार, 'गुत्थी' और 'सुलझन' का कथानक में तनाव तथा नाटकीय परिवर्तन के लिए बड़ा महत्व है। साथ ही, इन दोनों नाटकीय तत्वों का सम्बन्ध अरस्तू के उस सारगर्भित कथन से है, जिसमें उसने कहा था कि 'कथानक' तभी पूर्ण होता है जब उसमें आरम्भ, मध्य और अन्त हो।"

आरम्भ, मध्य और अन्त के बिना कोई कथानक पूर्ण नहीं कहा जा सकता और न ही उसमें कोई कला का रूप (Form) ही आ सकता है। कथानक का आरम्भ वह है जो कार्य-कारण के अनुसार किसी का परिणामस्वरूप हो और जिसके पश्चात् ही कुछ हो पाना सम्भव हो। अतः वह आरम्भ जिसका प्रारम्भ कहीं और हुआ हो, आरम्भ नहीं रह पाता है। 'अन्त' वह है जो किसी के परिणामस्वरूत घटित हुआ हो; परन्तु उसके पश्चात् और कुछ न हो। अन्त, इस तरह, स्वयं में पूर्ण हो। वह अन्त अकलात्मक है, जिसमें दर्शक 'और भी' की प्रतीक्षा करता रहता है। 'मध्य' वह है जो किसी वस्तु के बाद हो तथा कोई वस्तु उसके बाद हो।

एक श्रेष्ठ गठित कथानक वह है जिसमें आरम्भ, मध्य और अन्त होता है तथा जिसमें कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुसार तारतम्य हो। कार्यकलाप का आरम्भ इस प्रकार हो जिससे अनावश्यक घटनायें छँट जाएँ और वे ही घटनायें समाविष्ट हो सकें जिनसे 'गुत्थी' उत्पन्न हो। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, दुखान्त नाटक कार्यकलाप-केन्द्रित होता है। पात्र तो केवल क्रिया के माध्यम हैं। इसलिए, एक अच्छे नाटक का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि पात्र के जीवन-चरित्र का वह सूत्र, जो कथानक के बाहर होता है, नाटककार तथा दर्शक के लिए कोई महत्व न रखे।

यदि ये तीन अवस्थायें—आरम्भ, मध्य और अन्त—नाटक में न हों, तो वह केवल घटनात्मक (Episodic) हो जायगा। केवल कुछ शक्तिशाली दृश्यों तथा घटनाओं से पिरोया कथानक बिलकुल प्रभावशून्य होगा; उसमें न तो तनाव होगा, न परिवर्तन, न करुणा और न ही भय का सञ्चार।

'गुत्थी', इस प्रकार, नाटक के 'आरम्भ' के साथ ही प्रदर्शित की जाए, जिससे आरम्भ से ही दर्शक का ध्यान कथानक की उलझनपूर्ण रूपरेखा में केन्द्रित हो

जाए, और उत्कंठा, अपेक्षा आदि की उत्तरोत्तर प्रगति में वह कथानक को नाटकीय परिवेश के भ्रामक जन-जीवन में ओत-प्रोत पाए। 'सुलझन' विपरिणाम के साथ ही शुरू हो जाती है। भाग्य की निरन्तर असंगत प्रवृत्ति, कार्यकलाप का वेग से उस संक्रमण बिन्दु की ओर बढ़ना, जिसके बाद ही 'अन्त' होता है, तथा 'दुख और करुणा' की लालिमा दीख पड़ना ही दर्शक के लिए आकर्षण का केन्द्र होता है।

ग्रीक नाटक, इसीलिए, ऐसे आरम्भ होते हैं कि उनमें उलझन अपनी सम्पूर्ण क्रियाशीलता के साथ उपस्थित रहती है। ये नाटक संक्रमण-बिन्दु के अत्यन्त निकट से प्रारम्भ होते हैं, जिससे पश्चिम का अर्वाचीन नाट्य-साहित्य अरस्तू की बुद्धिमत्तापूर्ण परिभाषाओं का कायल प्रतीत होता है। अतः, अब नाटक संक्रमण-बिन्दु के बहुत पास से आरम्भ होकर, स्वयं में 'उत्कंठा' और 'विपरिणाम' का ऐसा विस्फोटक पुँज रखते हैं कि नाटक की प्रभावमयी शक्ति एक गहरी भावनात्मक रेखा अपने सम्पूर्ण ऐक्य के वैभव में खींच देती है। प्रभाव, वास्तव में नाटकीय प्रभाव तब होता है, जब उसमें ऐक्य अंकित करने को शक्ति होती है और जिसके सम्पुट में हमारी जागरूक चेतना कुछ समय के लिए जीवन की दुख-करुणा से पूर्ण भ्रामक परिकल्पना को वास्तविक मान स्वयं को खो देती है।

ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रभाव का जीवन में तो वास्तविकतापूर्ण अर्थ है ही, परन्तु इसे सार्थक करने में नाटक किन सफल तकनीकी तत्वों का प्रयोग करता है, इसका विवेचन भी आवश्यक जान पड़ता है।

आरम्भ, अन्त और मध्य अपने-अपने स्थान में नाटकीय महत्व रखते हैं। अन्त का आरम्भ एक अनिवार्य आवश्यकता के फलस्वरूप होता है और इस अन्त में हम सम्पूर्ण कथानक की आद्योपान्त सत्यता की विविध अभिव्यंजना देखते हैं।

समीक्षकों में साधारणतः यह धारणा है कि अरस्तू ने तीन ऐक्य (संकलनों) का प्रतिपादन किया है—(१) काल-ऐक्य, (२) कार्य-ऐक्य और (३) स्थान-ऐक्य। ये तीनों ऐक्य ऐक्य-त्रयी (The Three Unities) संकलन-त्रयी कहलाते हैं। वास्तव में अरस्तू ने विस्तार से केवल एक ही ऐक्य का उल्लेख किया है जिसे कार्य-ऐक्य (Unity of Action) कहते हैं। स्थान-ऐक्य (Unity of Place) का "काव्यशास्त्र" में कहीं उल्लेख है ही नहीं, और काल-ऐक्य के सम्बन्ध में उसने केवल एक स्थान पर लिखा है कि घटनाओं का केवल ऐसा चित्रण हो जिससे वे सूर्य के एक परिवर्तन में समाप्त होती दिखाई जाएँ। अर्थात् या तो बारह घण्टे या चौबीस घण्टे के भीतर घटित घटनाओं का ही चित्रण हो। आगे के

समीक्षकों में सम्भवतः दो ऐक्यों 'कार्य एवं काल ऐक्य' के परिणामस्वरूप स्थान-ऐक्य की कल्पना भी थी ।

इस ऐक्यत्रयी (संकलन-त्रयी) में जो अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐक्य है वह है 'कार्य-ऐक्य'। ग्रीक मंच की जो स्थिति थी, उसमें कार्य-ऐक्य एक आवश्यक तथ्य था; क्योंकि नाटक अंकों में विभाजित नहीं होता था और न ही मंच पर सीनरी आदि होती थी। अतः कार्यकलाप का तारतम्य से होना स्वाभाविक ही था। परन्तु इसके साथ ही साथ यह ध्यान में रखने योग्य है कि इस कार्य-ऐक्य से कथानक की अभिव्यंजनात्मक शक्ति बढ़ जाती है। कार्य-ऐक्य में विपरिणाम, प्रत्यभिज्ञा, गुत्थी, सुलझन, सब अपने-अपने स्थान पर एक दूसरे से सम्बद्ध होकर कथानक की एकता को गति देते हैं। यदि उसमें कोई उप-कथानक हुआ अथवा हास्य-पुट दिया गया तो नाटक का उद्देश्य—करुणा और भय का उद्रेक—सफल नहीं हो सकेगा।

ग्रीक मंच की एक और विशेषता थी—उसमें कोरस (Chorus) का स्थान। कोरस ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह था जो मंच के एक ओर खड़े होकर, कथानक की घटनाओं पर टिप्पणी करता था। उसका कार्य था विगत घटना का साराँश में उल्लेख करना, वर्तमान में हो रही घटनाओं पर टीका करना तथा ऐसी उक्ति कहना जो एक दार्शनिक संदर्भ में, मानव को उसकी नियति के विषय में सचेत कर दे। इसलिए कथानक में ऐसे दृश्यों की आवश्यकता नहीं थी जो पूर्व घटित घटनाओं पर प्रकाश डाले अथवा भविष्य पर टिप्पणी करे। कोरस कार्यकलाप के मुख्य भागों में तालमेल रखने वाली एक कड़ी थी।

कोरस के व्यक्ति, नाटक में जो धार्मिक रीति एवं संस्कार का स्वरूप होता था, प्रतिनिधित्व करते थे। घटनाचक्र से विलग होकर भी, वे उस पर एक मसीहा की तरह छाए रहते थे। वाद्य और गीत के संगीत में उनके द्वारा उच्चरित शब्द दुःखान्त नाटक के प्रधान रस को एक गम्भीरता एवं घनत्व देते थे। नाटक में, इस कारण, स्थान के परिवर्तन की न तो गुँजाइश थी और न आवश्यकता ही। इसलिए स्थान-ऐक्य, कार्य एवं काल ऐक्य में निहित था।

स्थान-ऐक्य, काल-ऐक्य व कार्य-ऐक्य के तकनीकी प्रावधान से ग्रीक नाटक का जो एक सुगठित स्वरूप का था, काव्यशास्त्र के केन्द्रीभूत दर्शन से सम्बन्ध था। आगे चलकर सत्रहवीं सदी में अंग्रेजी-साहित्य में नाटककारों के दो दल हो गए, जिनमें एक तो संकलन-त्रयी का पालन करता था, और दूसरा दल स्वच्छन्दतावादियों का था जिन्होंने इनकी चिन्ता न कर एक स्वतन्त्रस्वरूप का नाटक लिखना प्रारम्भ किया। इन स्वच्छन्दतावादी नाटककारों में शैक्सपीयर प्रमुख था।

संकलन-त्रय कथानक को विशेष रूप से प्रभावशाली बना देते हैं। इनके महत्व को प्रकाश में लाने के लिए अरस्तू ने इनकी तुलना महाकाव्य से की। महाकाव्य (Epic) में उन कथाओं का वर्णन होता है जो किसी राष्ट्र की वीरतापूर्ण उपलब्धियों की अभिव्यक्ति करते हैं। कवि जब इसे एकत्रित जनसमुदाय के समक्ष पढ़ता है या गाता है तो उसका उद्देश्य दर्शकों का मन वीरता और गौरव की भावना से भर देना होता है। महाकाव्य में भी ऐक्य होता है परन्तु वह दुखान्त नाटक के ऐक्य से भिन्न है। महाकाव्य में समय का कोई ध्यान नहीं रहता। घटनाओं का वर्णन इस प्रकार होता है कि उनकी समस्त एकसूत्रता विविध प्रकार के वर्णनों में आ जाय। ये घटनायें, जिनका वर्णन कवि करता है, बहुत समय पहले की होती हैं और वर्षों पहले लिखी गयीं। अनन्त की पृष्ठभूमि में इन घटनाओं का वर्णन कवि करता है, और उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि किसी अवधि विशेष के अन्दर की घटनाओं का ही वर्णन करे। अर्थात्, उसे काल ऐक्य का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

जबकि दुखान्त नाटक में एक दिन की घटने वाली घटनाओं का कार्यकलाप में समावेश होता है; परन्तु महाकाव्य में इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं होने से आवश्यकतानुसार उपयोगी, अनुपयोगी, परोक्ष अथवा अपरोक्ष सब प्रकार की घटनायें, कम या अधिक महत्व के अनुसार, अपने वर्णन में कवि पिरो देता है। उसके वर्णन में कभी-कभी ऐसी घटनायें भी आ जाती हैं जिनसे महाकाव्य का केन्द्रीभूत रस और आख्यान एक ओर रह जाता है तथा कुछ समय के लिए उन्हीं भिन्न घटनाओं का वर्णन प्रमुख हो जाता है। इस तरह महाकाव्य के वर्णन के वेग में बाधा उत्पन्न होती है। परन्तु बाधा क्षणिक होती है और मुख्य वर्णन पुनः अपनी लीक पर चलने लगता है। दुखान्त नाटक में इस प्रकार के व्यवधान सहन नहीं किए जा सकते; क्योंकि इस तरह उनके समस्त नाटकीय तथ्य और तकनीकी प्रसाधन, जो अपने अपने स्थान में यंत्र की तरह काम करते हैं, अवरुद्ध हो जायेंगे।

काल के प्रतिबन्ध से महाकाव्य मुक्त है। वह ऐसे कार्यकलाप भी चित्रित कर सकता है जो समानान्तर चलते हैं, क्योंकि उसके सामने वर्णन की ही समस्या है जिसे वह चाहे जिस तरह हल कर ले। महाकाव्य अतीत का चित्रण करता है। दुखान्त नाटक भी अतीत का चित्रण कर सकता है, परन्तु अभिव्यंजित कार्यकलाप ऐसा लगता है जैसे अभी-अभी वह हो रहा हो। महाकाव्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो मौखिक और दूसरे साहित्यिक। लिखित महाकाव्य की परम्परा ग्रीक साहित्य में नहीं है; उसका उद्गम रोमन साहित्य में है। ग्रीक साहित्य के प्रमुख महाकवि होमर की रचनाओं 'इलियड' और 'ऑडेसी' ('Iliad' and 'Odesey')

के सदृश ही मौखिक महाकाव्य का कवि अपने वर्णनों को तुरन्त ही छन्दोबद्ध करता जाता है, और इस तरह वह आशु कवि की श्रेणी में आता है। महाकाव्य हमेशा ही छन्दोबद्ध होता है परन्तु दुखान्त नाटक इससे अछूते होते हैं। उनके कथोपकथन में छन्द हैं या नहीं, इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। महाकाव्य, जो मौखिक हैं, ऐसे अलंकारों का प्रयोग करते हैं जो तुलनात्मक शक्ति में काफी विस्तृत होते हैं। उदाहरणार्थ, कवि होमर की तुलनाएँ बहुत विस्तृत होती हैं और तुलना किए जाने वाले विषय से अतिरेक कर जाती हैं। दुखान्त नाटक में कथोपकथन चरित्र को दर्शाता है और कार्यकलाप को आगे बढ़ाता है। उसका महत्व अलंकारों में नहीं है, वरन् नाटकीय संघर्ष और उसमें निहित मर्म को आगे लाना ही, उसका उद्देश्य है।

इस तरह, नाटक में ऐक्य (संकलनत्रय) का महत्व प्रतिपादन कर अरस्तू ने सुगठित कलापूर्ण और तकनीकी विशेषणों से युक्त ऐसे नाटकीय ऐक्य का प्रतिपादन किया है, जिसे युगों-युगों से नाटक के समीक्षक मानते आए हैं।

परिच्छेद–२

# क्लासिकल समीक्षा : होरेस की 'काव्य कला'
## (६५–८ ईसा पूर्व)

जिस प्रकार प्लेटो तथा अरस्तू ने कला के ऐक्य पर बल दिया, उसी तरह रोम के महाकाव्य-शास्त्री होरेस ने भी। होरेस का जन्म ६५ वर्ष ईसा पूर्व में हुआ था और अपना बचपन उन्होंने रोम के अनुशासनबद्ध स्कूलों में बिताया। वहाँ से वे स्नातक अध्ययन के लिए ग्रीस गए और वहाँ भी उन्होंने शिक्षा पाई। इस प्रकार यदि रोमन समाज के कठोर अनुशासन का उन्होंने बाल्यकाल से ही अनुभव किया तो ग्रीक दर्शन का अध्ययन करके उनमें मानसिक तथा बौद्धिक अनुभूति का परिमार्जन हुआ। इन दो सांस्कृतिक धाराओं का उनमें सम्मिश्रण है। समीक्षा-साहित्य में एक विचार जो प्रचलित है और जो 'क्लासिकल स्कूल' नामक ऐतिहासिक साहित्य-धारा के उद्गम में है, उसके प्रतिष्ठाता होरेस ही थे। 'क्लासिक' शब्द तथा 'क्लासीकल' (उसके विशेषण), यह दोनों ही पश्चिमी साहित्य में बहुर्चाचित शब्द हैं। 'क्लासिकल' साहित्य की वह धारा है जिसमें बौद्धिक के अंकुश में भावना रहती है तथा मर्यादा और रीतियों का इसमें गहराई से पालन होता है। सम्भवतः इसका पर्यायवाची शब्द 'रीतिपूर्ण' है जैसे रोमांटिक शब्द का पर्यायवाची 'वैचित्र्यपूर्ण' हो सकता है।

होरेस ने अपने समय के सम्राट अगस्तस की मित्रता तथा संरक्षण प्राप्त किया था और इस सम्राट की स्तुति में उन्होंने बहुत सी कविताओं की रचना की। होरेस का साहित्यिक सम्बन्ध रोम के महाकवि वर्जिल (Virgil) से भी था। इस प्रकार रोमन साहित्य जगत में उनकी बहुत ख्याति थी और लोग उनकी साहित्यिक उक्तियों की बहुत प्रशंसा करते थे तथा अनुपालन भी। होरेस ने 'व्यंग्य', 'कवितायें' और 'समीक्षकों को पत्र' लिखे हैं। सम्राट अगस्तस को भी उन्होंने पत्र लिखा जो साहित्यिक पत्र के रूप में था। उसमें उन्होंने उन विचारकों और समीक्षकों का उपहास किया तथा कड़ी आलोचना की जो अर्वाचीन साहित्य को बहुत कम महत्व देते थे और केवल प्राचीन साहित्य को ही महत्वपूर्ण मानते थे। अपने

प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य कला' (Ars Poetica) में उन्होंने ग्रीक और रोमन कविताओं की तुलना की है। उन्होंने नाटक तथा नाटक के श्रोताओं की भी आलोचना की है कि वे केवल प्रभावशाली दृश्यों की प्रशंसा करते हैं और अच्छे अभिनय की नहीं। "अगस्तस को पत्र" में उन्होंने सम्राट की सुरुचि की प्रशंसा की और उन्होंने आग्रह किया कि नाटक के सिवाय वह काव्य के दूसरे अंगों पर भी अपनी कृपा-दृष्टि डालें। इस पत्र में होरेस का स्वतन्त्र चिन्तन झलकता है। उस प्राचीन काल में, जब ग्रीक साहित्य को सर्व प्रधान समझा जाता था तथा प्राचीन को वर्तमान की तुलना में सम्पन्न समझा जाता था, सांस्कृतिक दृष्टि से होरेस ने उसकी आलोचना की। उन्होंने कहा कि कविता का मूल्यांकन उसमें निहित मूल्यों के आधार पर किया जाए, न कि केवल इसलिए कि वह प्राचीन है। दूसरे पत्र में "जूलियस फ्लोरस" को, जो उन्होंने १५ वर्ष ईसा पूर्व लिखा था, अपने विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने यह बतलाया कि उस ढलती उम्र में उन्होंने गीतिकाव्य (Lyrics) लिखना क्यों छोड़ दिया। जो महत्वपूर्ण तथ्य इस पत्र में है, वह है लेखकों को संबोधन; जिसमें उन्होंने लेखकों से कहा है कि वे परिश्रम करके बार-बार अपने लेख की परीक्षा करें और तब तक ऐसा करते रहें, जब तक कि उन्हें यह आत्म-सन्तोष न हो कि उन्होंने उत्तमोत्तम शब्द उत्तम प्रकार से और उत्तम क्रम से लिखे हैं (The best words in the best order)। इस उक्ति ने युगों-युगों तक समीक्षकों को प्रभावित किया है। यहाँ तक कि अंग्रेजी के कवि कोलरिज (Coleridge) ने इसकी पुनरावृत्ति करते हुए कहा है कि कविता वह है, जिसमें उत्तम शब्द उत्तम क्रम से लिखे गए हों। साहित्यिक कला में यही प्रधान वस्तु है, जिसे शैली कहते हैं, और यही साहित्य का सार है।

उनका ग्रन्थ 'काव्यकला' (Ars Poetica) मूलतः साहित्यिक पत्र का ही रूप है। यद्यपि उनका मूल नाम 'पिसोनस को पत्र' है; किन्तु आगे चलकर उसका नामकरण दूसरा हो गया और वह 'काव्यकला' कहलाने लगा। इस पत्र में, पिता अपने पुत्र को साहित्य के विषय में कुछ उपदेश देता है। पिता अपने उपदेश में अपनी परिपक्व रुचि का परिचय देता है। इस पत्र से यह ज्ञात होता है कि पुत्र नाटक की रचना में संलग्न था। इस पत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण बात यह कही कि साहित्यिक साधना दो वस्तुओं पर निर्भर है—वे हैं प्रकृति और कला अर्थात् स्फुरणा तथा परिश्रम। इस प्रकार इनके पहले जिन समीक्षकों ने कहा था कि काव्य प्रकृति का प्रतिचित्रण है, उनकी इस विचारधारा का यह एक प्रकार का विस्तृतीकरण है। केवल प्रकृति का अनुकरण काव्य में नहीं होना चाहिए, वरन् साथ में परिश्रम भी हो। इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्यकार को ऐसी साधना में रत होना चाहिए जिससे वह अपने से पूर्व के ख्यातिप्राप्त साहित्यिकों को मानदण्ड

समझे और उनका गहन अध्ययन करे तथा परिश्रम से उनका अनुकरण करे। इसमें लेखक को परिश्रम के कारण विचार के अनुशासन में रहना होता है तथा केवल प्रकृति का अनुसरण करने वाला नहीं रह जाता। एक मर्यादा के अन्दर साहित्य सीमित हो जाता है और इस प्रकार उसमें जीवन का संचार होता है, वह उच्छृंखल या स्वच्छन्द नहीं हो पाता। इस प्रकार होरेस ने मर्यादा के महत्व को स्थापित किया। शैली के विषय में हम उनके विचारों का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं। इस संदर्भ में हमें एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य होरेस की समीक्षा में मिलता है, और वह है शब्दों के विषय में उनकी धारणा। अपने ग्रन्थ 'काव्यकला' में उन्होंने लिखा है—

> "मैं यह मानता हूँ कि अनुभवी कवि एक अनुकरण प्रधान कलाकार की हैसियत से मानव जीवन और चरित्र को अपना आदर्श समझे तथा इस अनुकरण में वह ऐसे पदों का सृजन करे जो विषय के उपयुक्त हों। शब्दों का अपना जीवन है और उनका अस्तित्व साहित्यिक चक्र में धुरी के समान है। केवल वही शब्द उपयोग में नहीं लिए जायँ जो नए हैं, अपितु पुराने शब्दों को भी नवजीवन देकर, साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान दें।"

होरेस केवल मर्यादा या सुरीति को ही महत्व नहीं देते हैं, वरन् नए नए परीक्षणों को भी। परन्तु, उन सबका उद्देश्य एक ही है कि ऐसे शब्दों का व्यवहार हो जो विषय और कला के अनुसार हैं, तथा जिनका एकमात्र उद्देश्य है सुरुचि का निर्माण करना और मर्यादा की तरह ही नई कार्य-प्रणालियों और नए प्रयोगों को प्रोत्साहन देना।

होरेस का ग्रन्थ 'काव्यकला' व्यावहारिक ज्ञान से पूर्ण है, और साथ-साथ इसमें समीक्षा के सूक्ष्म सिद्धान्तों का वर्णन है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही होरेस ने मर्यादा (Decorum) एवं सुरीति का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

> "जो कुछ भी लिखो, उसके लक्ष्य में एकाग्रचित होना चाहिए।"

कुछ साधारण दोष मर्यादा का उल्लंघन करने से प्रविष्ट हो जाते हैं और यदि लेखन कला का अभाव हुआ तो भयंकर भूल का रूप धारण कर लेते हैं।

जो लेखक अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही अपना विषय खोजता है, वह कभी भी शब्दों के अभाव से नहीं भटकेगा। काव्य का शृंगार तथा गुण यह है कि उसमें औचित्य तथा क्रम के अनुसार शब्दों का चयन हुआ हो। क्रम, मर्यादा तथा सुरीति

के पालन करने से काव्य में 'अनावश्यक' का सुचारु रूप से विलगाव हो सकता है; कवि इस दशा में यह दर्शा सकता है कि कौन सा रस उचित है और कौन हीन।

"काव्यकला" एक बड़े ही मार्मिक तथ्य का प्रतिपादन करता है; होरेस ने 'शब्द' के लालित्य और व्यवहार पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

> "तुम बहुत प्रभावशाली हो सकते हो यदि तुम परिचित शब्द को नवीन अर्थ प्रदान कर सकते हो।"

यह कितना सारगर्भित निरूपण है। शैक्सपीयर की महत्ता इसमें ही है कि उसने जीर्ण-शीर्ण शब्दों में हरित जीवन संचारित किया और व्यवहार के सन्दर्भ में, परिवर्तन के माध्यम से, उसने शब्दों का नवीन चयन किया जिससे उनमें मौलिकता आ गई। नए गढ़े हुए शब्द यदि ग्रीक (कोई भी प्राचीन) भाषा से धातु लेकर बने हैं, तो उनका उपयोग कम से कम हो।

वृक्षों के सूखे पत्ते झर जाते हैं और तव नव पल्लवों से वही वृक्ष फिर हरा हो जाता है। होरेस ने कहा—

> "ऐसे पद, जो अब निष्क्रिय हो चुके हैं, किन्तु यदि साहित्यिक प्रयोग में उनकी आवश्यकता फिर है, तो पुनर्जीवित किए जाएँ। और ऐसे पद जो प्रचलित तो हैं, किन्तु व्यवहार में उनकी माँग नहीं, तो उनका बहिष्कार कर दिया जाए।"

साहित्य के विभिन्न अंगों पर दृष्टिपात करते हुए होरेस का कथन है—

(१) होमर ने हमें बतलाया है कि किन छंदों में युद्ध के वीरोचित गुण तथा विभीषिकाएँ दर्शाई जाएँ।

(२) शोक-दोहे, जो पहले दुःख की अभिव्यंजना करते थे, अब स्तुति गीतों के छन्द हैं।

(३) पंचपदी छन्द (Iambic Pentameter) का उस प्रसंग में उपयोग हो जहाँ व्यंग्य काव्य रचे जाएँ। दुखान्त नाटक और सुखान्त नाटक (कामेडी) में भी इनका उपयोग हो; क्योंकि इस छन्द में कहीं गई

कविता कैसे भी कोलाहल में सुनी जा सकती है इसलिए कि यह तेज और वेग का उपयुक्त साधन है।

(४) काव्य के लिए सौन्दर्यपूर्ण होना ही सब कुछ नहीं है। उसमें मोहकता भी हो। यदि तुम मुझे शोक से ग्रस्त्र करना चाहते हो, तो स्वयं पहले सच्चाई से शोक की अनुभूति करो।

(५) यदि तुम नाटक में नए चरित्र का निर्माण करो, तो यह निश्चय कर लो कि उस चरित्र में स्थिरता (Consistency) हो।

(६) सुलेखन की आधारशिला है स्पष्ट और गहन चिन्तन शक्ति। किसी विषय को जितनी ही स्पष्टता से समझ लोगे उतनी ही तुम्हारी शैली प्रसादगुण से सम्पन्न होगी।

(७) कवि का लक्ष्य आनन्द लेने के साथ ही, उपदेश देना भी है; परन्तु उपदेश के शब्द ऐसे हों जिन्हें मस्तिष्क ग्रहण कर ले। अतः यह आवश्यक है कि वे बहुत थोड़े हों और थोड़े में ही बहुत कह दें।

(८) काव्य प्रकृति का अनुकरण करता है, या केवल कला है, इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। परन्तु कला, बिना परिश्रम के, काव्य में परिणत नहीं हो सकती। अतः यह आवश्यक है कि कड़ी मेहनत और सतत साधना से ही कला का काव्य में आवश्यक विनिमय हो सकता है।

उपरोक्त सूत्रों का रोमन साहित्य पर बड़ा गहरा और स्थायी प्रभाव रहा है। यही नहीं, आगामी युगों में पाश्चात्य साहित्यकार इन उक्तियों को लेकर, तरह-तरह की चर्चाएँ करते आए हैं। अब हम इस प्रश्न का विवेचन करें कि होरेस किन साहित्यिक कलाओं में निपुण था और किस प्रकार उनका मूल्यांकन आज के मापदण्ड से किया जाय। होरेस ने अपने साहित्यिक पत्र लिखने के पहले चार पुस्तकों का प्रकाशन कर काफी ख्याति अर्जित कर ली थी। इनमें से चार ओड (Ode) थे, एक इपोड (Epode) और दो व्यंग्य काव्य तथा दो साहित्यिक पत्र। व्यंग्य का महत्व इसलिए अधिक है कि उसकी गिनती ललित-कला में होती थी; जबकि उसमें बुद्धि-तत्व प्रधान था। अर्वाचीन पाश्चात्य समीक्षा में भी यह मापदण्ड प्रयुक्त होता है और व्यंग्यात्मक कविता, जो बुद्धि प्रधान है, ललित कला की कोटि में गिनी जाती है। अंग्रेजी के अठारहवीं सदी के कवि ड्रायडन और पोप (Dryden & Pope) हैं; विशेषतः, ड्रायडन की कविताओं का पुनः परीक्षण

करने पर यह पाया गया कि उनमें गीति-काव्य (Lyrical Poetry) के तत्व विद्यमान हैं।

होरेस पर ग्रीक विचारकों का प्रभाव तो था ही, परन्तु उनकी साहित्यिक देन के प्रति कभी-कभी उसने कुछ विरोध भी प्रकट किया है, इसके फलस्वरूप प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। सिसेरे ने कहा था कि यदि मेरा जीवन-काल दुगुना होता तो भी मैं गीति-काव्य के लिए समय न देता। यहाँ तक कि रोमन सम्राट सीजर ने भी कहा था कि शब्द-वैचित्र्य की इस तरह उपेक्षा करो, जिस तरह मार्ग में पड़े हुए पत्थर के टुकड़े की। होरेस ने जब लिखना आरम्भ किया उस समय रईसी रुचि का प्रभाव था और राज्य-संरक्षण के कारण लेखकों को सुरुचिपूर्ण तथा मँजे हुए साहित्य निर्माण के लिए प्रोत्साहन मिलता था। उसके समय में कोई ऐसी राजनीतिक समस्याएँ भी नहीं थीं, जिसके लिए बलवती वाक्शक्ति की आवश्यकता हो; वरन् स्थिति ऐसी थी कि सम्राट आगस्टस के शासन काल में सभी सुख और समृद्धि का अनुभव करते थे। एक तरह की संतुष्टि का वातावरण था; और इस सन्दर्भ में लोग बड़ी-बड़ी घटनाओं को लेकर उनकी स्तुति में काव्य-रचना के लिए प्रेरित होते थे। सैनिक-विजय, और साथ ही, शान्तिपूर्ण, कृपापूर्ण राज्य के लिए हृदय में जो भक्ति का संचार होता था उसकी अभिव्यंजना काव्य में की जाती थी। अतः होरेस की समीक्षात्मक विचारधारा में क्लासिकल (Classical) अथवा रीतिवादी परम्परा का गहरा प्रभाव है। इस रीति और व्यवस्थापूर्ण समीक्षा ने अर्वाचीन लेखकों का मार्गदर्शन किया। ग्रीक लोगों की जो कला थी उसमें दार्शनिकता, नैतिकता और विचारों की सार्वभौमिकता, प्रेरणा का मूल स्रोत थी; परन्तु साथ ही, ग्रीक कला में नियंत्रण, संतुलन और बुद्धिवाद भी था। होरेस के समय के रोमन साहित्य में और उसके स्वयं के साहित्य में संतुलन, नियंत्रण, व्यवस्था आदि तो थे ही, परन्तु आदर्श की वह विश्व-व्यापकता नहीं थी, जो ग्रीक कला में विद्यमान थी। होरेस अपने समय के लेखकों के लिए जो कुछ निर्धारित करता है, उसे करने में अधिकार की भावना से प्रेरित होकर करता है; क्योंकि उसने ऐसे साहित्य का सृजन किया जो बुद्धि-तत्व से तथा क्रम, शृंखला, परम्परा व्यवस्था, संतुलन आदि गुणों से भी विभूषित था। यही कालान्तर में समीक्षा का प्रचलित वाद बन गया, जिसे रीतिवादी-युग (क्लासिकल—Classical Age) का मूल तत्व कहा जाता है।

यद्यपि ग्रीक दर्शन की सार्वभौमिकता होरेस की साहित्य समीक्षा में नहीं है, फिर भी उसके तत्व समीक्षा के केन्द्र-बिन्दु ग्रीक दार्शनिक प्लेटो की प्रधान विचारधारा से अभिप्रेरित है। प्लेटो के सिद्धान्त को, जो विश्वक् का सिद्धान्त (Idea)

है, होरेस ने ग्रहण किया। होरेस ने इस तथ्य का निरूपण किया कि साहित्यकार को किसी भी लेखक या लेखन के स्वरूप की तह में जाना चाहिए, और उसके पीछे जो स्थायी 'विश्वक्' (Idea) है उसे ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिए। एक बार जब यह सार तत्व पकड़ में आ जाता है, तब लेखक के लिए अपनी शैली को परिमार्जित करने तथा स्पष्ट रूप से विचार करने तथा सृजन में एकोन्मुख होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह विश्वक् के मापदण्ड को अपने लेखन में अपनाए। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'रिटोरिक' अर्थात् 'अलंकार-शास्त्र' में कहा है कि शैली को कथानक के अनुरूप होना चाहिए। उसने अलंकार सम्बन्धी तीन शैलियों का, तीन प्रकार से, विश्लेषण किया है:—

"विधि की शैली, परामर्श की शैली और काव्य की शैली।"

अरस्तू के पश्चात् रोमन साहित्य में कई सम्प्रदाय अथवा स्कूल प्रकाश में आए। ग्रीक साहित्य में तो केवल महाकाव्य, दुखान्त नाटक और सुखान्त नाटक ये तीन ही, साहित्य के अंग माने जाते थे; परन्तु होरेस के काल में उनकी संख्या बढ़ गई थी और साहित्य में अब महाकाव्य, दुखान्त नाटक, सुखान्त नाटक, गीतिकाव्य, व्यंग्य, शोक-गीत और चुभते दोहे आदि का प्रचलन होने लगा। इसलिए समीक्षा का उद्देश्य होरेस के समय में यह हो गया कि इन साहित्यिक विधाओं का लक्ष्य निरूपित हो। अपने ग्रन्थ "काव्यकला" में उसने स्थूल रूप से इन उद्देश्यों का निरूपण किया ही है जिसका सारांश हम अन्यत्र दे चुके हैं। अरस्तू ने जिस अनु-करण-सिद्धान्त (Mimesis) का प्रतिपादन किया था, उससे हटकर, होरेस ने एक दूसरे ही मार्ग का निर्देशन किया; जिसके मुख्य तत्व हैं—मर्यादा तथा सार मर्यादा और सार तत्व दोनों के ही मिश्रण से काव्य की सृष्टि होती है। ऐसा श्रेष्ठ काव्य, जिसमें शैली प्रसाद गुण से अलंकृत रहती है, कला और प्रकृति के सामञ्जस्य से ही लिखा जा सकता है। और यह तभी संभव है, जब कवि प्रेरणा के साथ ही परिश्रम करने तथा साधक होने की क्षमता रखे। इसमें यह संकेत भी निहित है कि प्रकृति के अनुकरण के स्थान पर, जिस पर अरस्तू ने अधिक बल दिया था, आदर्श लेखकों का अनुकरण और उनके साहित्य के सार तत्वों का अध्ययन अधिक आवश्यक है। आदर्श लेखकों के अनुकरण से मर्यादा का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है। मर्यादा और सुरुचि मिलकर ही एक उन्नत और परिष्कृत अभिरुचि का निर्माण कर सकते हैं क्योंकि नियत्रण सम्पूर्ण रूप से स्वनियंत्रण नहीं हो सकता है, उसके लिए सतत साधना और जागरूकता आवश्यक है।

मर्यादा के साथ परम्परा (Tradition) जुड़ी हुई है और इसलिए, यह विचार-णीय है कि प्रकृति और परम्परा क्या पृथक्-पृथक् हैं, अथवा सम्बद्ध। होरेस के

अनुसार प्रकृति और परम्परा पारस्परिक रूप से क्रियाशील हैं और इन दोनों के ही अन्तर-सहयोग से कला का स्वरूप निश्चित होता है। यदि केवल प्रकृति का ही सहारा कवि ने लिया तो उसके उच्छृंखल हो जाने का भय है। यदि केवल उसने परम्परा को ही अपनाया तो काव्य निर्जीव और रूढ़िवादी हो जायगा। अतः होरेस के अनुसार परम्परा प्रकृति की दी हुई प्रेरणा तथा अनुशासन के जो परिश्रम से आते हैं, नियंत्रण में ही रहे।

होरेस ने अपने ग्रन्थ "काव्यकला" तथा अन्य ग्रन्थ "आगस्टस को पत्र" में यह स्वीकार किया है कि सुखान्त नाटक ही सच्चा काव्य है, यदि वह परिमार्जित किया गया है और उसमें रीति तथा व्यवस्था के अनुसार उसका रूप निर्धारित हुआ है। इसी तरह व्यंग्य भी काव्य में बहुत ऊँचा स्थान रखता है जिसका हम बहुत अंशों में विवेचन कर चुके हैं। होरेस ने शैली के अन्तर्गत उच्च तथा निम्न शैलियों का विवेचन किया है और वह शैली के वैभव और आभा को प्रणाम करता है; क्योंकि उनसे ही साहित्य में स्थायित्व आता है। पोप ने, जो अठारहवीं सदी का अंग्रेज कवि है, होरेस का अनुवाद किया है और एक स्थान पर उसके अनुवाद में लिखा है—

> "पुराने शब्दों को, जो युगों से सो रहे थे, जगा दो; ऐसे शब्द जिन्हें विद्वान बेकन अथवा वीर रेले बोला करते थे। कुछ नवीन शब्द ऐसे गढ़े जायें जो भविष्य में उपयोग में आते रहें; क्योंकि व्यवहार ही साधारण ज्ञान का जनक है।"

होरेस की यह उक्ति कि "पुराने शब्दों में नवीन जीवन प्रदान करो", बहुत दिनों तक प्रभावशील रही। एक भाषा में दूसरी भाषाओं से शब्द लिए जाकर उन्हें अपनी भाषा में कुछ परिवर्तन के पश्चात् प्रचलित कर देना अच्छी शैली के निर्माण में सहायक होता है। वैसे उसने कहा था कि किसी प्राचीन भाषा, जैसे ग्रीक तथा कोई और क्लासिकल भाषा, की धातु से यदि कोई शब्द बनाया जाय, तो उसे बहुत ही कम उपयोग में लाया जाय। जिस बात पर वह बल देता है वह है शब्दों का पुनर्जीवन। ऐसा पुनर्जीवन, जिसे व्यवहार के द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है तथा प्रसिद्धि दी जा सकती है। इसके इस विचार का केन्द्र है जीवित भाषा—ऐसी भाषा जिसके शब्द न तो प्राचीन हैं और न अर्वाचीन। परन्तु उपयोग अथवा व्यवहार से प्राचीन नए हो जाते हैं, और अर्वाचीन, यदि असंगत हुए तो, लुप्त हो जाते हैं। इस जीवित भाषा में ही किसी प्रखर और तेजमयी शैली का निर्माण हो सकता है। उसने लिखा है—

"ऐसे शब्द जो लुप्त हो गए हैं, पुनरुज्जीवित हों और शब्द, जिनका आज चलन है, वे भी लुप्त हो जायेंगे यदि व्यवहार और उपयोग इसकी माँग नहीं करता है। व्यवहार ही अंतिम निर्णायक है और उसका ही विधान हर क्षेत्र में चलता है।"

उपरोक्त साहित्यिक विचार का तालमेल पूर्व लिखित अंशों के संदर्भ में देखा जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जायेंगे कि मर्यादा और सुरुचि, जो लेखक की सतत् साधना और आदर्श साहित्यकारों के अनुसरण पर आधारित है, तभी सजीव हो सकती है जब शब्दों का पुनर्जीवन तथा पुनर्मूल्यांकन हो तथा संदर्भ और पृष्ठ-भूमि में वह अपने-अपने स्थान पर चुम्बक की भाँति एक दूसरे को आकृष्ट कर दृढ़ रहें।

शब्दों के विषय में इस गम्भीर विवेचन से हमें आधुनिक समीक्षाकाल की जागरूक प्रवृत्तियों का भी आभास हो जाता है। वर्तमान युग के पाश्चात्य साहित्य में 'शब्द विज्ञान' (Senmantic) का भी प्रभाव बढ़ चला है। बहुत से आधुनिक कवियों ने शब्दों का काल, अनन्त और वर्तमान से, संबंध जोड़ा है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ "फोर क्वार्टेट" (Four Quartets) में कवि ईलियट ने इन सम्बन्धों की चर्चा की है। इस काव्य के चार खण्डों में से तीन खण्डों में उसने शब्दों का महत्व, संस्कृति और साहित्य के लिए दर्शाया है। किस तरह शब्दों से एक प्रकार की सुदृढ़, सुगठित और आदर्श अभिरचना (Pattern) का निर्माण हो जाता है, जिसका आभास अनन्त के आभास की तरह लगता है; परन्तु काल के आक्षेपों से शब्द हमेशा बनते और बिगड़ते रहते हैं और यदि उनमें कोई केन्द्री-भूत जीवन तत्व न रहे तो बिखर जाते हैं। अपनी इस समस्या का हल उसने उस आदर्श शब्द-रचना में निकाला है, जिसका वर्णन वह क्वार्टेट (Four Quartets) के एक खण्ड में करता है—

"शब्द जो न तो भीरु हैं और न ही भड़कीले,<br>
उनमें है आदान-प्रदान नवीन और पुरातन का,<br>
दैनिक शब्द जो बहुत उपयुक्त हैं बिना किसी भोंडेपन के,<br>
साधारण शब्द जो अपने लक्ष्य भेदें बिना किसी पाण्डित्य कीडींग मारे।"

काव्य में अलंकरण के अतिरिक्त, जिस मुहावरे का उल्लेख ईलियट ने किया है, वह साधारण कवियों के लिए दुरूह है। होरेस ने दो और उक्तियाँ, परोक्ष रूप से, "काव्यकला" में कही हैं और वे हैं—

"क्रम तथा संधि (Order and Juncture) इस प्रणाली से हों कि जिससे संधि-स्थल बड़ा ही पेचीदा हो जाए ।"

इससे यह स्पष्ट है कि होरेस शब्दों के चयन में क्रम को बहुत अधिक महत्व देता है, परन्तु साथ ही, काव्य की श्रेष्ठता आँकने में वह शैली के उस संधिस्थल की ओर संकेत करता है, जहाँ आकर पद-योजना या तो उच्च-शैली में मुखरित हो जाती है, अथवा गिरकर निम्न-शैली में परिणत हो जाती है । वर्तमान युग के विचार-वातावरण में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि रूढ़ोक्ति अर्थात् पिटे-पिटाए शब्द (Cliche), जिसकी यूरोपीय साहित्य में चर्चा है, अपना स्थान सांस्कृतिक श्रेणी में नीचे की ओर लें । तात्पर्य यह है कि रूढ़ोक्तियों (Cliche) के उपयोग का एक सीधा और सरल रास्ता है, इससे अनुभूति और विचार की मौलिकता को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिलता । बने-बनाए, पिटे-पिटाए शब्द या शब्द-रचना राजनीतिक नारों की तरह ही उत्तेजक अथवा विपथ करने वाले हैं । उनकी ओट में लेखक अपनी रचना तथा शब्द-जाल को बिछाता है, जिसमें न तो कोई केन्द्र-बिन्दु होता है और न ही लालित्य का उद्‌गम । वरन् सोचने की शक्ति या तो कुण्ठित हो जाती है अथवा निर्जीव । इसलिए इन विचारों के भ्रामक मुखौटे सामने आते हैं । परन्तु जिस साहित्य की शैली में जीवित शब्द अपनी प्रचलित और, फिर भी स्थिर प्रकृति के साथ कलात्मक सृजन में होते हैं उस साहित्य में असीम का स्पर्श होता है; क्योंकि शब्द उस स्वचालित प्रणाली के अनुसार कार्य करते हैं जिसमें व्यवहार और उपयोग के बाद एक अंग लुप्त होकर दूसरे को अनुप्राणित करता है । शैली के सौष्ठव और अन्तर्जीवन के लिए ऐसा विवेक साहित्यकार में जागरूक हो, यह होरेस का मत था ।

जहाँ होरेस ने कव्य की साधना तथा अनुकरण को संधि-स्थान माना है, वहीं उसने कवि के लिए यह भी कहा है कि उसमें आनन्द प्रदान करने की क्षमता के अतिरिक्त यह क्षमता भी हो कि जनता को उपदेश भी दे सके । परन्तु यह उपदेश, जो कविता के आनन्द के माध्यम से दिया जाय, बहुत ही सूक्ष्म हो । इस तारतम्य में यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि किस प्रकार के कवि के लिए होरेस के मन में श्रद्धा थी । वह है ऐसा कवि, जो प्राचीन साहित्यकारों को आदर्श मानकर उनका अनुकरण करता चले, और फिर भी, प्राचीन का केवल इसलिए अनुकरण न करे, कि वह प्राचीन है, वरन् प्राचीन भाषाओं से धातु लेकर शब्द गढ़े परन्तु फिर भी उनका यदाकदा ही उपयोग करे । इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अरस्तू के प्रकृति के अनुकरण के सिद्धान्त के स्थान पर आदर्श साहित्यकारों का परिश्रम के साथ अनुकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । निष्कर्ष यह निकलता है कि

साहित्यकार परम्परा बनाए रखने के साथ ही साथ, परीक्षण करने के लिए भी सक्षम हो; क्योंकि परम्परा से तारतम्य तो आता है, परन्तु जब तक रूढ़ि का विरोध करके मृत को पुनर्जीवन के माध्यम से सजीव न रखा जाय तब तक साहित्य केवल अतीत की स्तुति बनकर ही रह जाएगा। शब्दों का चयन और उनके अर्थों का पुनरुद्धार, यही वह क्षेत्र है जिसमें कवि नए नए परीक्षण कर सकता है। परम्परा और विद्रोह के इस घात-प्रतिघात से ही साहित्य की धारा अविरल और निर्मल होकर प्रवाहित होती रहती है।

## परिच्छेद—३

# लाँजाइनस : 'उदात्त सिद्धान्त'

सम्राट आगस्टस के राज्यकाल में जो शान्ति, समृद्धि और प्रतिष्ठा थी तथा जिसकी छत्र-छाया में होरेस ने अपनी समीक्षा लिखी, वह आगामी राज्यकाल में लुप्त हो गई। प्रायः उनके विपरीत प्रवत्तियाँ आगामी काल में पाई जाने लगीं जिनमें भ्रष्टाचार तथा अधिकार लिप्सा के भयंकर रूपों का परिचय मिलता है। फलतः लेखकों में भी एक प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति (Decadence) आ गई और वह ऐसे उद्देश्यों से प्रेरित होने लगे जिनका सच्ची अनुभूति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह कोरी नवीनता, अवास्तविकता और कृत्रिमता से प्रभावित होने लगे और येही त्रुटियाँ उनकी साहित्यिक रचनाओं में भी पाई जाने लगीं। इसके विरोध में लाँजाइनस ने, (संभवतः तीसरी सदी) जिसके जीवन के बारे में बहुत कम ही मालूम हो सका है, प्रतिक्रिया आरम्भ की। हीन प्रकार की रचना अथवा भावनाओं की अतिशयोक्ति का उसने साहित्य में विपरीत परिणाम देखा, जिससे तत्कालीन संस्कृति तथा रचनाओं के रस का पराभव हो चला। अवनति के इस सन्दर्भ में लाँजाइनस ने एक नवीन विचारणा को जन्म दिया जिसको वह पहले "उदात्त" (Sublime) कहता था और जो आगे चलकर एक प्रचलित शब्द "भव्यता" बनकर साहित्यिक समीक्षा में प्रयुक्त होने लगी।

### भव्यता (Grandeur)

"भव्यता" को उसने लेखक की पठनीयता और मननशीलता से, उस ओज का सम्बन्ध बतलाया, जो साहित्यिक रचना के सृजन की आभा के रूप में प्रस्फुटित होती है। जब आह्लाद कलाकार के मन को परिप्लावित कर देता है, तभी एक ऐसे प्रकाश से कलाकार भर जाता है जिसकी किरणों में ही वह स्फुरणा प्राप्त करता है। यह सृजनात्मक प्रतिस्थापना है और आह्लाद के ही द्वारा रस धारा बनकर फूटती है। वैसे यदि आवेश मात्र (Elevation) की प्रतिक्रिया मानवीय मस्तिष्क में हो तो वह मनुष्य केवल भावनाओं के अतिरेक में रँग जाएगा तथा अतिशयोक्ति कर बैठेगा। परन्तु यही आवेश जब कला में प्रविष्ट होकर एक उदात्त रूप लेता

है, तब यह भव्यता के रूप में निखर उठता है। परन्तु यह भव्यता किन गुणों पर आधारित है, इसका निरूपण लांजाइनस ने पहले नकारात्मक रूप से और फिर उसका विस्तृत विवेचन करके किया है। उसने कहा—

> "यह प्रकृति का सत्य है कि सच्ची भव्यता के द्वारा आत्मा ऊँची उठ जाती है तथा एक श्रेष्ठ पद प्राप्त करती है। आनन्द से यह पूर्ण हो जाती है, जैसे मानों मानव, जिस कृति को वह सुन रहा है, उसका स्वयं उसने ही सृजन किया हो। वास्तव में महान काव्य वही है, जो नई विचारणा के लिए सामग्री देता है और जिसके आकर्षण का प्रतिकार असम्भव है। आनन्द का ऐसा चमत्कारिक प्रभाव ही भव्यता का केन्द्रित सुख है।"

## लेखक और दोष

इस तरह से आनन्द और आनन्द से उत्पन्न उदात्त भाव, जिनके फलस्वरूप आत्मा में भव्यता आ जाती है, और जिस भव्य आत्मा की ही झंकार तथा भाव, शैली में देखने को मिलते हैं, उसकी अभिव्यंजना करने के पूर्व लांजाइनस ने कुछ दोषों की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें उनके सम्बन्ध में सचेत किया। ये दोष सारांश में इस प्रकार हैं—

(१) यद्यपि दुखान्त नाटक में, जो स्वभाव से ही भव्यतापूर्ण होता है, किसी प्रकार के केवल प्रभावकारी शब्दों का उपयोग क्षम्य हो सकता है, परन्तु साहित्य में अतिशयोक्ति (Turgidity) एक अक्षम्य दोष है। जिस प्रकार शरीर में कोई शोथ उत्पन्न हो जाए तो उसका निवारण बहुत कष्ट-साध्य हो जाता है। उसी प्रकार कष्टसाध्य या अनुपचारणीय अतिशयोक्ति का वह दोष है जो साहित्य के शरीर में एक शोथ की तरह बढ़ जाता है।

(२) दूसरा दोष है क्षुद्रता (Purility) जो एक हीनता की द्योतक है। यह प्रवृत्ति उन लेखकों में पाई जाती है जिनका रुझान केवल असामान्य, कृत्रिम और खोखले तथा आडम्बरपूर्ण शब्दों, पद-व्यंजनाओं, भाव और भावनाओं की ओर रहता है। यह दोष ऐसा है, जैसा किसी वयस्क पुरुष का बाल-चेष्टाएँ करना, जो अत्यन्त ही उपहासास्पद है।

(३) तीसरा दोष है भावुकता प्रधान पद-समूह की रचना। इसके रचयिता ऐसे भावावेश में मस्त हो जाते हैं कि औचित्य, मर्यादा तथा सन्तुलन

का उन्हें कोई ध्यान ही नहीं रहता; और न ही वे इस से सचेत रहते हैं कि उनकी शैली और भावावेश का श्रोताओं पर कोई असर भी पड़ रहा है, या केवल वे ही मस्त हो रहे हैं। इस तरह फैलने वाले भावावेग में वे स्वयं तो आनन्दित रहते हैं, परन्तु श्रोता इससे बिल्कुल प्रभावित नहीं होते और उपेक्षा करते रहते हैं। इस दोष को अनन्विता का दोष (Parenthyusus) कहते हैं। इसमें फँसकर लेखक को स्थान के उचित-अनुचित का कोई विचार नहीं रहता और जो भाव यथास्थान होना चाहिए वह विपरीत स्थान पर होता है। ऐसी रचना केवल व्यक्तिगत होती है और कला की तटस्थता और अवैयक्तिक आत्मा का इसमें अभाव रहता है।

## शैली की भव्यता और विशेषताएँ

इन दोषों का विश्लेषण करने के पश्चात् लांजाइनस अपनी मुख्य विचारणा, जिस पर उसका सम्पूर्ण समीक्षा-शास्त्र आधारित है, की प्रतिस्थापना करता है। यह उस भव्य शैली के विशेषताओं का विवेचन करता है जो उदात्तताजनित आह्लाद के संस्पर्श में लेखक की रचना को स्फुरणा देती है।

(१) भव्यता (Grandeur) के लिए यह आवश्यक है कि लेखक की आत्मा महान विचारणाओं की (Grand Conception) सृष्टि करने, ग्रहण करने और बुद्धिगम्य होने की क्षमता रखती हो।

(२) एक शक्तिशाली और तेजोमय भावना का जिस आत्मा में सृजन होता रहता हो और मस्तिष्क उससे परिप्लावित होता रहता हो।

(३) तीसरी विशेषता है काव्यालंकारों का उचित प्रयोग। इसमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों सम्मिलित हैं। इनका प्रयोग शैली को भव्यता प्रदान करने की शक्ति से सम्पन्न हो। इनका स्वरूप ऐसा हो जिससे शैली की गम्भीरता, उदात्तता एवं प्रवाह को बल मिले।

(४) उदात्त पद-योजना के अंग हैं—'शब्द-चयन', 'असामान्य कथन' और 'व्यास पद'। शब्द चयन ऐसा हो जिससे क्षुद्र तथा हीन कोटि के शब्द ऐसे शब्दों के साथ नियोजित न हों जो अपने मूल में गाम्भीर्य और भव्यता लिए हुए हैं। क्योंकि इससे शैली में एक नकारात्मक अन्तर्द्वन्द्व पैदा हो जायगा। असामान्य कथन ऐसा तत्व है जिसका एक परिष्कृत शैली के लिए होना आवश्यक है क्योंकि यदि रूढ़

शब्द-योजना लेखन में पिरोई जाती रही तो उससे साहित्य प्रभावहीन और शुष्क होगा। नवजीवन के लिए यह आवश्यक है कि शैली में असामान्य रूप से निरूपण हो और अभिव्यंजना की विशिष्टता हो। इस तरह सामान्य तथा तुच्छ तत्व स्वयं ही शैली से निष्काषित हो जायेंगे। व्यास-पद (Elaboration) बुद्धि की वह प्रक्रिया है जिससे शैली में क्रम, स्तर, तर्क और सरलता किसी पद के अनुसार आगे बढ़ती है।

(५) पाँचवा तत्व जो औदात्य पूर्ण शैली के लिए आवश्यक है, वह है, शालीनता प्रधान रचना (Dignified Composition)। शालीनता उस अभिव्यंजना में उत्पन्न होती है जिसमें उपरोक्त चारों विशेषताएँ विद्यमान हों। यह गुण ऐसा है जिसने आगे चलकर अंग्रेजी साहित्य में गरिमा मण्डित शैली (Grand Style) का रूप धारण कर लिया। चारों तत्वों के समावेश से इसमें वह भव्यता तभी सम्भव है जब तत्व, श्रृंखला, क्रम और किसी उच्चता से उनका निर्वाह किया जाय। शैली में इस उच्च प्रवृत्ति के होने के लिए आवश्यक है कि लेखक स्वयं शालीनतापूर्ण हो और क्षुद्रता तथा अतिशयोक्ति के दोषों से मुक्त हो।

जिन विशेषताओं का उल्लेख उपर किया जा चुका है वे ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध तत्कालीन अलंकारशास्त्र (Rhetoric) से है। कुछ प्राचीन समीक्षकों ने शैली पर अपने विचार प्रकट किए थे जिनमें डायोनायसिस और सिसेरो का यहाँ उल्लेख करना संगत प्रतीत होता है। डायोनायसिस ने कहा था कि शैली तीन प्रकार की होती है—एक तो आभापूर्ण, दूसरी सामान्य और तीसरी नितान्त सामान्य। इसी समीक्षक ने आगे चलकर शैली के स्वरूपों का निरूपण भी किया—पहली भाव शैली, दूसरी मध्य शैली और तीसरी सामान्य शैली। एक अन्य समीक्षक, दिमित्रियस, ने शैली के चार प्रकार निर्धारित किए—पहली तेजस्वी, दूसरी सुश्रीपूर्ण, तीसरी सामान्य और चौथी शक्तिशाली। महान विचारक और समीक्षक सिसेरो ने शैलियों का विभाजन और उनके अनुकूल उद्देश्य का निर्धारण निम्नलिखित प्रकार से किया—

(१) निम्न शैली—जिसका उद्देश्य है किसी विचार को सिद्ध करना।

(२) मध्य शैली—जिसका उद्देश्य है सन्तुष्ट और प्रसन्न करना, तथा प्रेरित भी करना और ऐसा संबोधन करना जिससे श्रोता या पाठक प्रभावित हो जाय।

सिसेरो ने अलंकारिता की शैलियों को दर्शन, तर्क, इतिहास और काव्य की शैलियों से सम्बद्ध बताया है। आगामी समीक्षा-कालों में ये अलंकारिता की शैलियाँ, जिनका प्रतिपादन सिसेरो ने किया था, काव्य पर भी लागू कर दी गयीं। इस तरह, महाकाव्य के लिए महान शैली तथा अन्य प्रकार की कविताओं के लिए निम्न तथा मध्य शैलियाँ स्थिर की गयीं। इस तरह शैलियों की विचारणा अलंकार-शास्त्र के केन्द्रीभूत आदर्श से प्रेरित हैं और इससे लांजाइनस भी अछूता नहीं रह सका। जिन विशेषताओं का उसने वर्णन किया है उन पर अलंकारिता की अभिव्यंजनाओं का काफी प्रभाव रहा है। इस प्रकार के रीतिपूर्ण वर्गीकरण के फलस्वरूप अरस्तू द्वारा बहुप्रशंसित रूपक अलंकार (Metaphor) के जिसकी परिभाषा में लांजाइनस द्वारा प्रतिपादित शैलियों के अनेक तत्व समाविष्ट हैं और जो एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है, दर्शन नहीं होते। फिर भी, जिस औदात्य का लांजाइनस ने भव्यता की विचारणा से कार्य-कारण का सम्बन्ध बतलाया है, वह एक ऐसा निरूपण है जिसने आगे चलकर पाश्चात्य साहित्य को बहुत प्रभावित किया। लांजाइनस ने 'महान विचारणाओं' (Grand Concepts) पर बल देकर वह मार्ग प्रशस्त किया, जिस पर कला सृष्टि में बुद्धिपक्ष को प्रधान माननेवाले समीक्षक चले। उदात्त अथवा भावावेश की स्थिति पर बल देकर लांजाइनस ने उन समीक्षकों को प्रेरणा दी जो कलाकार बुद्धि पर भावनाओं का प्रभाव मुख्य रूप से मानते हैं।

लांजाइनस के समय में कला का अर्थ एक स्वतन्त्र प्रेरणा का स्वरूप नहीं था, वरन् वह नियमों से बँधने वाली एक ऐसी व्यवस्था थी, जो परिश्रम से अर्जित की जाती थी, और जिसका स्फुरणा से योग होने के फलस्वरूप एक ऐसा सामञ्जस्य उपस्थित होता था जिसे हम सृजनात्मक रचना अर्थात् सर्जना कहते हैं।

यद्यपि लांजाइनस ने दोषों और व्यवधानों का उल्लेख किया है तत्पश्चात् अपनी 'भव्यता' की विचारणा का निरूपण; फिर भी उसने यह स्वीकार किया है कि भव्य शैली के आवेग में जो लेखक प्रबन्ध अथवा काव्य लिखते हैं और यदि उसमें छोटे-मोटे दोष आ भी जायँ तो वह क्षम्य हैं; किन्तु वे प्रधान दोष नहीं आने चाहिए जिनका उल्लेख उसने किया है। नगण्य दोष इसलिए क्षम्य हैं, क्योंकि भव्यता एक ऐसे औदात्यपूर्ण रस का परिणाम है जिसकी धारा में छोटे दोष कंकड़ों की तरह बह जाते हैं और इससे जो कल-कल ध्वनि होती है वह शैली की गम्भीरता को और भी गहनता देती है। जो लेखक सर्वथा दोष रहित है वह खोखला है; क्योंकि उसकी सर्जना में आभा, तेज, प्रवाह और इन सबकी समष्टि—भव्यता—का अस्तित्व न रहेगा।

लांजाइनस ने अपने ग्रन्थ के, जो आगे चलकर 'भव्यता' (On the Sub-lime) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, आरम्भिक परिच्छेद में ही भव्यता की विचारणा की प्रस्थापना इस प्रकार की है—

> "समस्या यह है कि क्या कला वास्तव में भव्य अथवा गम्भीर हो सकती है, क्योंकि जन साधारण में यह धारणा प्रचलित है कि प्रतिभा के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है, वह तो नैसर्गिक तत्व है। प्रकृति ही वह कला है जो उसे जन्म देती है। प्रतिभावान पुरुषों का वह कार्य जो नियमों के बन्धन में कसा रहता है, प्राणहीन एवं निकृष्ट होता है। इस समस्या का हल इसमें है कि इसकी विरोधी विचारणा को सम्मुख रखकर इसका विवेचन किया जाय। हम देखेंगे कि प्रकृति ही प्रथम कारण है तथा वही समस्त मानवीय कार्यकलापों के पीछे निहित सृजनात्मक सिद्धान्त है। परन्तु किसी भी प्रणाली के लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रत्येक कार्य की लक्ष्य-सिद्धि हेतु नियम निर्धारण करे। किन्तु ये नियम ऐसे हों जो कार्य-व्यवहार को निर्धारित करते हों किन्तु उस प्रणाली में कोई अवरोध उत्पन्न न करें। क्योंकि यदि उदात्त भावनाओं की आत्मप्रेरणा पर ही बल दिया गया और उन पर नियमों का प्रतिबन्धन नहीं लगाया गया तो यह उदात्त भावना उत्तेजक और भयानक हो जाएगी। अतः उसे एड़ लगाना भी आवश्यक है और उतना ही आवश्यक है उसके लगाम लगाना भी।"

## आक्षेपों का निवारण

लांजाइनस ने कला को ऐसे आक्षेपों से बचाने की कोशिश की है जो कला से प्रकृति को सर्वोपरि मानता था। उसने कहा—

> "प्रकृति भावनाओं और औदात्य के क्षेत्र में बिल्कुल स्वतन्त्र है। फिर भी वह उच्छृंखल रूप से कार्य नहीं करती।"

आगे चलकर उसने कहा कि मुझे यह विश्वास है कि प्रतिभा पूर्णरूप से दोष रहित नहीं होती है क्योंकि उससे ओछापन आ सकता है। भव्यता के महान ऐश्वर्यशाली प्रसंगों में ऐसी भी कुछ वस्तुएँ हैं जिनकी उपेक्षा की जा सके। यह भी हो सकता है कि हीन प्रकृतिवाले अथवा साधारण प्रकृति वाले किसी दोष से मुक्त हो; परन्तु यह तभी सम्भव है जब ऐसी साधारण प्रकृति के मनुष्य महान कार्य करने में सक्षम न हों। क्योंकि महान गुणों से विभूषित मनुष्य अपनी महानता में ही कुछ अस्थिरता का अनुभव करते हैं। पैंतीसवें परिच्छेद में लांजाइनस ने कहा है—

"प्रकृति ने मानव को किसी हीन पशु के स्तर तक ही सीमित नहीं रखा है। जब उसने हमें ऐसे विस्तृत ब्रह्माण्ड में प्रवेश दिया है जिससे कि हम उसके ऐश्वर्य को स्वयं देख सकें और उसमें उच्चतम आदर के प्रतियोगी हों, तब उसने हमारी आत्मा में उस अभय प्रेम का सृजन किया जो भव्यता और देवत्व के प्रति सदा ही आकृष्ट रहा है। यह समस्त ब्रह्माण्ड इतना विशाल है कि मानव की विचारशक्ति इसका छोर पाने में असमर्थ है; परन्तु फिर भी कल्पना के सहारे हम काल और स्थान को लाँघकर अपने जीवन के चारों ओर देख सकते हैं और इसका निर्णय कर सकते हैं कि हमारे जीवन का कौनसा पक्ष सुन्दर, महान और विलक्षण है। तभी हम अपने जन्म की सार्थकता को भी समझ सकते हैं। इसलिए यह एक स्वाभाविक प्रवृति है कि छोटी नदियों को देखने से इतना आह्लाद और विस्मय नहीं होता जितना नील, डेन्यूब, राइन जैसी बड़ी नदियों, अथवा इससे भी अधिक विस्तृत सागर को देखने से। हम विस्मय के साथ साथ उनकी प्रशंसा में लीन हो जाते हैं। छोटे-छोटे प्रकाशपुञ्ज से हम प्रभावित नहीं होते; परन्तु हम मन्दिरों के अग्नि कुण्डों में दहकने वाली धार्मिक अग्नि-शिखाओं को आदर और भय मिश्रित भावना से देखते हैं। हम ऐटना जैसे भयंकर ज्वालामुखी को बड़ी-बड़ी चट्टानों को ऊपर फेंकते तथा उसमें दहकती भयंकर अग्नि-शिखाओं को देखकर आश्चर्य से ओतप्रोत हो जाते हैं। इन सब उदाहरणों से हम कह सकते हैं कि जो हमारे दैनिक जीवन के उपयोग में आनेवाली वस्तुएँ हैं उन्हें हम केवल साधारण और कामचलाऊ समझते हैं, परन्तु प्रशंसा उनकी ही करते हैं जो विस्मयप्रधान हों।"

उपरोक्त उद्धरणों से 'भव्यता और त्रुटिहीनता' के सम्बन्ध में लांजाइनस का मत स्पष्ट हो जाता है। मात्र त्रुटिहीनता से भव्यता नहीं उत्पन्न होती। भव्यता हमारे स्वभाव में ही निहित है और प्रकृति की देन है। इसलिए जिस लेखन में औदात्य और तज्जनित, भव्यता है और यदि उसमें कला की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ भी हैं तो वह सच्चे अर्थों में भव्य और स्तुत्य हैं। भव्यता की झंकार तो हमारी आत्मा से निकलती है, यदि वह स्वयम् भव्य है। इस विवेचन में लांजाइनस के कला और प्रकृति सम्बन्धी विचार और भी स्पष्ट हो जाते हैं। उसके अनुसार प्रकृति सर्वोपरि है और कला मानव निर्मित और उसके द्वारा विकसित है। किन्तु इन दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। वैसे, किसी सीमा तक प्रकृति कला को प्रभावित करती है। विभिन्न क्षेत्रों के होने के कारण उनके मूल्यांकन की कसौटी भी भिन्न हैं। मानव निर्मित कला मानव की अपूर्णता लिये हुए होगी, परन्तु प्रकृति अपने में स्वयं पूर्ण है इसलिए कला उससे नीचे है। उसका कथन है—

"कला में एक तत्त्व या अत्यन्त शुद्ध कृति की प्रशंसा होती है, तो प्रकृति की कृतियों में महत्ता की। मानव अपने स्वभाव से ही वाणीयुक्त प्राणी है, इसलिए मूर्तियों में हम मनुष्य की अनुरूपता को खोजते हैं और वाणी में उसको जो मानव-मापदण्ड का अतिक्रमण कर जाता है।"

परन्तु इस अन्तर को लांजाइनस यह नहीं कहता कि ये पारस्परिक विरोधी शक्तियाँ हैं। प्रतिभा (जीनियस) नियमों से परे अवश्य हैं, परन्तु कला यद्यपि प्रकृति के अधीन है, फिर भी, उसे प्रकृति के सहयोग में आना चाहिए। उसने आगे चलकर कहा—

"अकृत-कार्य न होने की सफलता कला के कारण होती है, उच्च (किन्तु एक रूप नहीं) उत्कृष्टता की सफलता प्रतिभा के कारण होती है; इसलिए कला को प्रकृति की सहायता के लिए लाना चाहिए। जहाँ ये दोनों शक्तियाँ, यद्यपि एक महान है और दूसरी उसके अधीन, सहयोग से कार्य करें तभी पूर्णता सम्भव है।"

यहाँ लांजाइनस ने नियमों के प्रावधान और उसके महत्व को दर्शाया है जिससे प्रतिभावान और प्रेरणायुक्त लेखन उच्छृंखल होने से बचाया जा सके; क्योंकि, जैसा उसने कहा है, प्रेरणा को प्रोत्साहन की आवश्यकता भी है और साथ ही प्रतिबन्ध की भी। इस प्रकार लेखन में कला और प्रकृति, प्रेरणा और नियम के सामञ्जस्य से ही एक संतुलित और फलदायी साहित्यिक रचना का सृजन हो सकता है।

## भव्यता और एडमण्ड बर्क का मत

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लांजाइनस ने प्रकृति और कला को अपने-अपने स्थान पर नियोजित कर, उसके द्वारा सामञ्जस्यपूर्ण साहित्य के महत्व का उद्देश्य निरूपित किया है। इस विचारणा के फलस्वरूप साहित्य में दो परस्पर विरोधी आन्दोलनों को जन्म मिला। वे हैं "नव-क्लासिकल वाद (Neo Classicism)" और स्वच्छन्दतावाद (Romanticism)"

"नव-क्लासिकलवाद" ने लांजाइनस के इस कथन से प्रेरणा ली कि कला ऐसे नियमों की एक प्रणाली है जो 'एड़' की तरह है; तो दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के अनुयायियों ने प्रकृति का अर्थ प्रतिभा माना तथा तज्जनित स्फुरणा को ही केन्द्रीभूत शक्ति का स्थान दिया और नियमों की अवहेलना कर, केवल स्फुरणा द्वारा रचित साहित्य के सृजन में आगे बढ़े। अठारहवीं सदी में, इंग्लैंड

में एडमण्ड बर्क नामक एक राजनीतिज्ञ हुए जो विचारक, दार्शनिक और समीक्षक भी थे। भव्यता के विषय में उनके विचार लांजाइनस की मान्यताओं से भिन्न अवश्य हैं किन्तु उनका मूल लांजाइनस में ही है। अपने ग्रन्थ "भव्य और सुन्दर" (The Sublime and Beautiful) में उन्होंने उस रस का वर्णन किया है जो भव्यता से उत्पन्न होता है। बर्क का मत है—

> "जब महान और भव्य, प्रकृति द्वारा शक्तिशाली रूप में क्रियाशील होते हैं, तभी आश्चर्य का सृजन करते हैं। आश्चर्य, आत्मा की वह स्थिति है जिसमें सारी गति रुक जाती है और कुछ सीमा तक भय प्रवेश कर जाता है। इस अवस्था में मस्तिष्क इस तरह रम जाता है कि और किसी वस्तु को वह ग्रहण ही नहीं करता। अतः भव्यता की महान शक्ति का उदय होता है, जो हमें अपने वेग में बहा ले जाती है। आश्चर्य, जैसा कि कहा जा चुका है, भव्यता की चरमसीमा है, तथा प्रशंसा, स्तुति, आदर आदि भावनाएँ उसके अधीन है ? इस तरह आश्चर्य और भव्यता में कार्य-कारण का सम्बन्ध स्थापित होता है।"

कोई भावना मस्तिष्क को उतना निष्क्रिय नहीं करती, जितना कि भय—क्योंकि भय, पीड़ा अथवा मृत्यु के आभास के कारण होता है। भय वास्तविक पीड़ा की अनुभूति अपने साथ लाता है। अतः जो भी भयपूर्ण है, वह भव्यता का एक अंग है, ऐसा भय महानता का तत्व लिए हुए हो अथवा नहीं। ऐसे बहुत से प्राणी हैं जो विशाल नहीं हैं, परन्तु भय उत्पन्न करते हैं; इसलिए उनमें भी भव्यता का अंश है; जैसे, सर्प या अन्य विषैले जन्तु। इस प्रकार जिन वस्तुओं या प्राणियों में विशालता है, उनमें यदि हम भय के तत्व का समावेश कर दें, तो वे भी अधिक विशाल लगने लगेंगे। उदाहरण के लिए, धरती पर होने वाले भय के कारणों से हमारा मन कम्पित हो जाता है और जब हम समुद्र पर यात्रा करते हैं तब उसके खतरों के कारण भी मन में भय उत्पन्न होता है। किन्तु समुद्र का भय धरती के भय की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है; क्योंकि यह मन को समस्त रूप से अपनी चपेट में ले लेता है, जबकि धरती का भय नहीं लेता। ऐसा किस कारण होता है ? स्पष्ट है, यह इसलिए होता है कि समुद्र द्वारा उत्पन्न भय में समुद्र की विशालता का स्पर्श रहता है। इसलिए सारी भव्यता में भय ही एक केन्द्रीभूत रस है। इसका प्रमाण यह है कि कई भाषाओं में भय के लिए ऐसे शब्द हैं जिनके निकट के अर्थ आश्चर्य अथवा प्रशंसा के होते हैं। ग्रीक भाषा में भय का समीपवर्ती अर्थ विस्मय का है, तथा 'भयपूर्ण' का अर्थ 'आदरपूर्ण' है। रोमन भाषा में भी

भय का पर्यायवाची शब्द विस्मय है। अंग्रेजी में भी Astonishment या Amazement ऐसे शब्द हैं जो भय और विस्मय से सम्बद्ध हैं।

इस प्रकार भय को भव्यता का महत्वपूर्ण तत्व मानकर एडमण्ड बर्क आगे लिखता है कि जहाँ भय विद्यमान है वहाँ एक प्रकार की रहस्यमय गूढ़ता आ ही जाती है। उन एकतंत्रीय शासनों में, जो मानव की भावनाओं को तरह-तरह से नियंत्रित कर अपना आधिपत्य बनाए रखते हैं, विशेषकर भय को प्रधान लक्ष्य मानकर कार्य करते हैं। भय इस तरह उद्रेक किया जाता है कि जिससे उस एक-तंत्रीय शासन के प्रमुख तत्व रहस्यमय और गूढ़ वातावरण में छिपे रहते हैं। कई धर्मों में भी भय का ऐसा ही स्थान है और मंदिरों को तो जान-बूझकर अन्धेरे में रखा जाता है जिससे श्रद्धालुओं के मन में भय का संचार हो।

## प्रसाद गुण और गूढ़ता का भय आदि भावनाओं से सम्बन्ध

शब्द ही विचारों को प्रसादगुण से सम्पन्न बनाते हैं, कल्पना को प्रभावित करते हैं तथा उन्हें एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक संप्रेषित करते हैं। शब्दों के अतिरिक्त अन्य माध्यम इन कार्यों के लिए अनुपयुक्त हैं।

भव्यता का शैली के साथ गहन सम्बन्ध बतलाते हुए, बर्क ने प्रसाद-गुण को या स्पष्ट शैली को महत्व नहीं दिया है; क्योंकि उसके अनुसार यदि कोई विस्तृत स्पष्टता हमारी अभिव्यंजना में हुई, तो उससे रचना के प्रवाह और उद्देश्य सीमित हो जाते हैं। अतः, स्पष्टता या प्रसाद-गुण शैली को भव्यता प्रदान करने में सहायक नहीं होता। यह भव्यता तभी आती है जब हर प्रकार से अभिव्यंजना हो, अर्थ अस्पष्ट और गूढ़ हो तथा एक रहस्यमय अन्धकार इन सब पर छाया हो। तभी इस शैली के प्रति पाठक के हृदय में विस्मयपूर्ण आदर उत्पन्न होता है और वह सचेष्ट होकर इसके अर्थ को पकड़ने के लिए प्रयत्नशील रहता है। जिस प्रकार असीम वस्तु या विचारणा के अंकन के लिए मानव-मन आकुल रहता है एवं उसकी समस्त मानसिक चेष्टाएँ उसे अंकित करने के लिए एकोन्मुख रहती हैं; उसी प्रकार भव्य शैली में गूढ़ता, गहनता और रहस्य के कारण किसी स्पष्टता का आभास नहीं मिलता, और मन इसमें उलझ जाता है तथा इसके रस के आस्वादन के लिए प्रत्येक प्रयत्न करता है। इस भव्यता का आह्लादकर प्रभाव पाठक के मन पर होता है।

आगामी कालों में जब समीक्षा का क्षेत्र विस्तृत होता गया तथा भिन्न भिन्न साहित्यिक सम्प्रदाय खड़े हो गए; तब भी लांजाइनस के केन्द्रीभूत विचार 'भव्यता' (Sublime) का प्रभाव क्षीण नहीं हुआ। समीक्षकों में इस विचारणा

को लेकर काफी विचार-विमर्श होता रहा और भिन्न भिन्न विचारधाराओं पर भी इसका प्रभाव रहा।

होरेस तथा लांजाइनस की समीक्षात्मक विचारणा अपने युग में तथा मध्य-युग में आकर्षण का केन्द्र रही है। इन दो आलोचकों के अतिरिक्त भी ऐसे प्राचीन समीक्षक हैं जिन्होंने शैली, काव्य तथा नाटक पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। यहाँ यह स्मरण रखना उचित होगा कि प्राचीन समय में आलंकारिकता को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था और उससे ही काव्य की समीक्षा बहुत अंशों तक प्रभावित भी हुई थी। अतः जब समीक्षक काव्य के रस और सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत करता है, तो उसके मस्तिष्क में आलंकारिकता का महत्व भी होता है। वैसे अरस्तू ने 'अलंकार शास्त्र' और "नाट्य समीक्षा" अलग-अलग दो ग्रन्थ लिखे, परन्तु लांजाइनस तथा होरेस के सिद्धान्तों में आलंकारिकता का आभास-सा दृष्टि-गोचर होता है। इन दो समीक्षकों का महत्वपूर्ण प्रभाव आगामी सदियों तक निरन्तर रहा और मध्यकालीन पाश्चात्य समीक्षक तो इनसे बहुत अंशों तक प्रभावित ही रहे।

## क्युंटिलियान (सन् ३५ ई. पू. ३५ ई.)

कुछ समीक्षक ऐसे भी हैं जिनका स्थान बहुत ही ऊँचा तो नहीं है, परन्तु उनके विचारों की ओजमयी झलक ऐसी है जिससे साहित्यिक चेतना को बहुत अंशों तक प्रेरणा मिलती रही। ये समीक्षक हैं क्युँटिलियान (सन् ३५–ए० डी० ३५) तथा ब्यूथायस (Quitilian, Boethius) हैं। क्युँटिलियान ने एक स्थान पर लिखा है कि सच्चा सौन्दर्य उपयोगिता से पृथक् नहीं किया जा सकता। एक अन्य स्थान पर उसने समीक्षकों को समीक्षा-सिद्धान्तों पर समुचित विचार करने के लिए सावधान भी किया तथा उद्बोधन भी किया है। समीक्षक को किसी अलंकृत गद्यांश को सामने रखकर उसमें 'निर्धारण' तथा 'स्फुरणा', इन दोनों का ही, संगम ढूँढना चाहिए। शैली में उसे यह देखना चाहिए कि कल्पना अथवा शैली में कौन से तत्व प्रधान हैं। अलंकारों से पूर्ण ऐसे गद्य को जब वह अपनी समीक्षात्मक दृष्टि से देखे तो उसे उसमें स्पष्टता, गहनता तथा उसमें निहित कला-व्यवस्था अर्थात् संरूप (पैटर्न) को खोज कर प्रकाश में लाना चाहिए। वह यह जानने का यत्न करे कि किस प्रकार कला इसमें रहस्यमय ढंग से अन्तर्निहित है। जो कला स्पष्ट और सचेत होती है उसके तत्व अधूरे या अधकचरे होते हैं।

शैली के पूर्व निर्धरित विचार के अनुसार एक स्थान पर क्युँटिलियान ने लिखा है—

"किसी वस्तु का, उसमें शृंखला के अभाव में, दृढ़ और स्थित होना कैसे संभव है ? जिस प्रकार नदियों का प्रवाह उतार में काफी वेगपूर्ण हो जाता है उसी प्रकार वह शैली भी स्वाभाविक ढंग से प्रवाहपूर्ण होती है जिसमें कोई खण्डता या ऐसे ही विघ्न उत्पन्न न हों।"

गद्य के छन्दबद्ध होने पर भी उसने प्रकाश डाला है—

"गद्य में कोई ऐसा अंश नहीं होता जिसे काव्य में छन्दबद्ध अभिव्यक्ति न दी जा सके। कम से कम, आंशिक रूप से काव्य में इसकी अभिव्यंजना सम्भव है। यही नहीं सिसेरो हमेशा कहा करता था कि सारे गद्य छन्दों की प्रणाली से भले ही न रचे गए हों, परन्तु उसमें लय अवश्य रहती है।"

हम प्रत्येक शब्द का इस सावधानी से पद्य में या वाक्य में प्रयोग करने का प्रयत्न करें कि उसके अस्तित्व की ध्वनि दूसरे शब्दों की ध्वनियों में मिलकर एक लय उत्पन्न कर दे। आगे चलकर क्युँटिलियान ने कहा कि काव्य का गद्य में लिखा जाना एक असुन्दर स्थिति है। सम्भवत: इसी विचार पर आधारित अंग्रेजी के कवि ईलियट ने कहा था कि जो गद्य, कविता में भी लिखा जा सकता है, वह ऐसा है कि केवल गद्य में ही लिखा जाय तो श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार क्युँटिलियान ने गद्य की शैली में लय को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया।

शैलियों के वर्गीकरण पर भी क्युँटिलियान ने कुछ विचार प्रकट किए हैं। उसने यह महत्वपूर्ण तथ्य कहा कि मेरी दृष्टि में सम्यक् वाक् (अच्छा बोलना) और सुलेख (अच्छा लिखना) यह दोनों ही समान हैं। साधारणत: ग्रीक तीन प्रकार की शैलियों का उल्लेख किया करते थे, एक साधारण, दूसरी भव्य और तीसरी सम—जो भव्य और साधारण के बीच की स्थिति है। क्युँटिलियान ने यह निरूपित किया कि शैली को इन तीन विभाजनों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। उसने कहा कि सामान्य शैली में भी कभी कभी अर्थ गहनता विद्यमान रहती है और कभी कभी प्रभावशाली शैलियों में भी शैथिल्य होता है। इस प्रकार उसने यह कह कर समापन किया कि ऐसी आलंकारिकता की प्रशंसा सभी करते हैं; वह कोई स्पष्ट शैली का आदर्श नहीं है। शैली असाहित्यिक उस समय होती है, जब उसमें अतिशयोक्ति, आडम्बरपूर्ण शब्द और भव्यता के स्थान पर घटियापन होता है। ऐसे दोषों से युक्त शैली जनसाधारण को बहुत प्रभावित करती है, परन्तु परिष्कृत रुचि के लिए सामान्य जन की स्तुति हानिकारक होती है।

परिच्छेद—४

# नव-प्लेटोवाद का प्राचीन तथा मध्यकालीन समीक्षा पर प्रभाव

## प्लॉटीनस तथा नव-प्लेटोवाद

पिछले विवेचन में हमने यह पाया कि प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों द्वारा हुई प्रतिक्रिया के अनुसार होरेस और लांजाइनस ने अपने अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। हमने यह भी पाया कि लांजाइनस के भव्यता के सिद्धान्त दो मुख्य प्रभावों में बँट गए, जिनसे आगे चलकर साहित्य में दो ऐसे सम्प्रदाय उद्भूत हुए जो आगामी काल में काफी प्रभावशील रहे। वे थे—रीतिवाद अर्थात् क्लासिसिज्म (Classicism) और स्वच्छन्दतावाद अर्थात् रोमांटिसिज्म (Romnticism)। परन्तु प्लेटो, अरस्तू, लांजाइनस तथा होरेस जैसे समीक्षकों के, जो प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य के स्तम्भ थे, समीक्षात्मक विचार रीतिवाद (Classicism) की शैली के अन्तर्गत आते हैं। अरस्तू एक प्रयोगवादी दार्शनिक था और वैज्ञानिक भी। प्लेटो एक रहस्यवादी चिन्तक था जिसके विचारों की गूढ़ता उसके विश्वक (Universal) की कल्पना से पूरी तरह सम्बद्ध है। आगे चलकर प्लेटो का प्रभाव पुनर्जागृत हुआ और साहित्य में उसके फलस्वरूप एक नया वाद उत्पन्न हुआ जिसे नव-प्लेटोवाद कहते हैं और जिस धारा का उस समय प्रमुख प्रवर्त्तक था—प्लॉटीनस (Plotinus) (तीसरी सदी ईसा-उपरान्त —३ ए० डी०।) प्लॉटीनस के समीक्षा-सिद्धान्त साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। बुनियादी रूप से प्लॉटीनस की समीक्षा "सौन्दर्य-शास्त्र" की समीक्षा है (Aesthetic Criticism)। प्लाटीनस के मत के अनुसार वह "महान् सद्" (The Divine One) जो प्लेटो के विश्वक का ही दूसरा रूप है, उस उद्गम से निःसृत हुआ है, जो स्वयं में पूर्ण है और कालातीत है। यह सत् सदैव ही ऐसी चेष्टा में रहता है कि वह पुनरागमन द्वारा फिर उस परम ऐक्य (The Divine One) में लीन हो जाय जिससे सारे असत् के तत्व प्रकाशमान हैं और जो असत् को अपने प्रकाश के सन्दर्भ में ही अर्थ प्रदान करता है। इसलिए प्लेटो की यह विचारणा कि जगत केवल उस परम ऐक्य (Idea) की परछाई जैसी झलक

है, उस सत्य की ओर इंगित करती है कि केवल आणविक तत्व में ही विराट के दर्शन हो पाते हैं। प्लॉटीनस के अनुसार परम ऐक्य इतना पवित्र, प्रारम्भिक और सरल है कि इस तक हम केवल नकारात्मक सीढ़ियों से ही चढ़ पाते हैं। इस कथन को आगे चलकर मध्यकालीन रस्हयवादी सन्तों ने और विस्तार दिया तथा ध्यानावस्थित होने के लिए जिस नकारात्मक परिस्थिति का उल्लेख उन्होंने किया, वह ऐसी थी जो मानव को पार्थिव आकर्षण से विमुक्त करती थी। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम अधिकार-लिप्सा, पदार्थ-लिप्सा आदि बन्धनों से विच्छेद करें और फिर इस नकारात्मक क्रिया से ही उस परम ऐक्य की झलक पाने की साधना करें; क्योंकि ऐसे नकारात्मक शमन के पश्चात् ही मन उस परिष्कृत अवस्था में पहुँच सकता है, जहाँ परम ऐक्य का दर्शन सम्भव है।

परम ऐक्य के इस सिद्धान्त की प्रतिस्थापना करते हुए प्लॉटीनस ने अपने समीक्षा-साहित्य को उस पर आधारित किया। साहित्य तभी पूर्ण माना जाय जब उसके अलग-अलग खण्ड इस तरह सन्तुलित होकर लय में पिरोये जाँय कि उनकी एकरूपता अथवा उनका ऐक्य ही साहित्य साधना का उद्देश्य हो। इसको ही दार्शनिक स्वरूप देते हुए, उसने कहा कि जड़ विविधता लिए हुए हैं और उसकी प्रवृत्ति विलग होने, टूटने और नकारात्मक होने की होती है। इस विघटनमयी प्रवृत्ति को ही परम ऐक्य समेटकर उसे कोई स्वरूप (Form) प्रदान कर डालता है। इस प्रकार प्लॉटीनस ने जड़-तत्वों को विघटनकारी, हठीला तथा एक निम्न-कोटि का बल बतलाया। इस बल का उसने कोई निश्चित रूप नहीं पाया जाता। वह सीमाहीन भी नहीं है और न ही उसमें रूप है; वरन् एक अस्पष्ट झिलमिल लचीलापन है।

साहित्य या कला में चेतनता अर्थात् आत्मा का उद्भव तभी होता है जब विविध खण्ड किसी रूप को या एक व्यवस्थित प्रणाली के केन्द्रबिन्दु को लक्ष्य मानकर सुचारू रूप से सन्तुलित होता रहे। एक स्थान पर प्लॉटीनस ने लिखा है—

> "कुरूप वह है जिसे कोई ऐक्य का सिद्धान्त समेट कर अपने में अनुप्राणित नहीं कर सकता। क्योंकि 'कुरूप' जड़ की तरह है जिसमें विलग होने तथा विघटन की प्रवृत्ति सर्वोपरि है।"

प्लॉटीनस के "सौन्दर्य-शास्त्र" में हम प्लेटो की वह प्रेरणा पाते हैं जो जड़-सौन्दर्य का तिरस्कार करती है और अनन्त के सौन्दर्य को काल की परिधि से मुक्त करती है; खण्डों को उस एक स्वरूप में समेटने की चेष्टा करती है जो परम ऐक्य का सादृश्य है। प्लॉटीनस ने इन सिद्धान्तों का विवेचन करते लिखा—

"आत्मा को इस तरह प्रशिक्षित किया जाय कि वह केवल श्रेष्ठ और महिमामय विचारों से ही तादात्म्य रखे। इस दशा में जिस सौन्दर्य का सृजन होता है वह मानव की दैनिक जीवन की प्रवृत्तियों से उत्पन्न नहीं होता। यह उन सद्‌गुणी मनुष्यों की आत्मा से प्रस्फुटित होता है जो अपने सदाचार के लिए प्रसिद्ध होते हैं। सौन्दर्य की खोज और अभिव्यंजना के लिए यह आवश्यक है कि ऐसे सद्‌गुणी मनुष्यों की आत्मा में निहित उन सुन्दर स्वरूपों की खोज की जाए जो आदर्श सौन्दर्य के केन्द्र-बिन्दु हैं।"

जो मुख्य बात यहाँ प्लॉटीनस ने निरूपित की वह है कला-सौन्दर्य में उस अवस्था का होना जो किसी ऐक्य को वह लक्ष्य माने। सौन्दर्य के स्वरूप को परम-ऐक्य ही निर्धारित करता है जिसकी खोज मनुष्य की विचारधारा में सद्‌गुणों की खोज करके ही पूरी की जा सकती है। कला और नैतिकता का यहाँ कार्य-कारण का सम्बन्ध बतलाया गया है परन्तु सौन्दर्य-शास्त्र की परिभाषा केवल इससे ही पूर्ण नहीं हो जाती। प्लॉटीनस ने जिन तत्वों का आगे चलकर निरूपण किया वे सौन्दर्य-शास्त्र में तो उपयुक्त हैं ही परन्तु उनकी उपादेयता साहित्यिक समीक्षा में भी कम नहीं।

प्लॉटीनस का यह विचार प्लेटो के 'सिम्पोजियम' नामक ग्रन्थ के भावपूर्ण पदों की एक झलक प्रस्तुत करता है। उसने एक स्थान पर लिखा है—

"अशिव (Evil) की कल्पना कोई स्वतन्त्र कल्पना नहीं है। शिव (Good) के प्रकृति प्रदत्त स्वभाव से ही यह सम्भव नहीं है कि अशिव स्वतंत्र है। यह प्रतीत होता है कि अशिव सौन्दर्य की बेड़ियों से जकड़ा हुआ है मानो कोई बन्दी सोने की बेड़ियाँ पहने हो।"

आगे चलकर उन्होंने कहा कि ऐसा कौनसा गणितज्ञ अथवा ज्यामितिज्ञ है जो समतलों में, तादात्मय रंगों में, व्यवस्था के सिद्धान्तों में, जो दीख सकने योग्य वस्तुओं में स्पष्ट है, आस्था न रखता हो। यह निश्चय है कि रसेन्द्रियों के इस संसार में, जहाँ सौन्दर्य का पुट हो—ऐसा ब्रह्माण्ड, जहाँ व्यवस्था और विश्वक को आकाश के नक्षत्र प्रतिबिम्बित करते हों—कोई मनुष्य ऐसा न होगा जो इन सबसे प्रभावित होकर आदरमय भय से इसके सम्मुख नत न होता हो। इस प्रकार प्लॉटीनस ने कला में ऐक्य के सिद्धान्त को विश्वक के सम्पूर्ण ऐक्य का प्रतिबिम्ब माना है, जिससे कला की खण्डता को तभी सार्थक माना जा सकता है जब वह पूर्णता के अर्थ को समुत्पन्न कर सके। सौन्दर्य-शास्त्र के ऊपर यह सामान्य रूप से दर्शन को प्रतिस्थापित करने की चेष्टा है। साहित्यिक समीक्षा में इसका महत्व

यह है कि यह विचारणा उस व्यवस्था को प्रदान करने वाले सिद्धान्त की है जो खण्डों और विभागों की विविधता को पार कर जाती है। कला तब 'सरल' हो जाती है। यह व्यवस्थाजनक सिद्धान्त की विजय तभी पूर्ण है जब वह खण्डों की विविधता के माध्यम से ही प्रस्फुटित और प्रस्थापित हो। एक आधुनिक समीक्षक ने लिखा है कि प्लॉटीनस द्वारा परिभाषित 'सरल' शब्द का अर्थ या तो यह हो सकता है कि इस सरलता के अन्दर आन्तरिक मतभेद नहीं है अथवा दूसरा यह हो सकता है कि सरलता के अन्दर एक इतनी गहन और ऊँची श्रेणी की ऐसी आन्तरिक भिन्नता है जो उसकी अनिवार्य एकता (Essential Unity) को बनाए रखती है।

प्लॉटीनस ने कहा कि यह जानना आवश्यक है कि स्तॉयिक (Stoic) दार्शनिकों की परिभाषा के अनुसार सालक्ष्य किस प्रकार सौन्दर्य की परिभाषा हो सकती है। इन स्तॉयिक दार्शनिकों के अनुसार तो केवल पूर्ण ही सौन्दर्य हो सकता है और उस पूर्णता के खण्ड भी सौन्दर्य का अंश अवश्य लिये हुए होंगे परन्तु अपने में ही सुन्दर न होंगे। परन्तु सत्य तो यह है कि सौन्दर्य अपनी सम्पूर्णता में यह अपेक्षा करता है कि उसके खण्डों में और पृथक-पृथक रूपों में भी सौन्दर्य का होना आवश्यक है। इस तरह खण्डों की स्वतन्त्र व्यवस्था, जो स्वयं में सुन्दर है, सम्पूर्णता की इस सुन्दरता के लिए आवश्यक अंगों के समान है। इस मत के अनुसार यह सिद्ध होता है कि खण्डों और अंगों की सुन्दरता का अपने ही अस्तित्व में विद्यमान रहना आवश्यक है। इसके पूर्व की पूर्णता की सुन्दरता प्रकट हो, पूर्णता का सौन्दर्य खण्डों की समष्टि में ही सम्भव है। उनका समष्टिरूप ही पूर्णता का सौन्दर्य अभिव्यंजित करता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है इससे यह अनिवार्य हो गया कि लेखन-शैली में विभिन्न अंग तो हों ही; किन्तु उन्हें ऐसी विविधतापूर्ण रीति से सँजोया गया हो कि उससे शैली की पूर्णता मुखरित हो उठे।

इस विवेचन से यह प्रश्न उठता है कि यदि यह सत्य है तो क्या हम काव्य का रसास्वादन उसे खण्डों में विभाजित कर पदों के अनुसार कर सकते हैं? अथवा किसी साहित्यिक रचना में निहित जो अनुभूति बिजली की चमक की तरह कल्पना में कौंध जाती है, तो क्या उस सम्पूर्ण साहित्यिक रचना का मानदण्ड हो सकती है। प्लॉटीनस ने इसका हल उपमा अलंकार में ढूँढ निकाला जो सम्पूर्ण प्लेटोनिक दर्शन में छाया है। प्लेटो के 'रिपब्लिक' में सूर्य और दृष्टि को सत्य और बुद्धि का उपमेय माना है। प्लॉटीनस ने यह सिद्धान्त अपनाया है कि दृष्टि पहले देखती है अर्थात् अनुभूति के द्वारा सौन्दर्य पहले अपनी छाप मन पर छोड़ता है। यह धारणा उस विचार से उत्पन्न हुई है जो इन्द्रिय तथा विषय (Sense and Object) के तादात्म्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार प्लॉटीनस ने एक स्थान पर लिखा है—

> "आँखों ने सूर्य को तब देखा जब वह पहले सूर्यमय हो गयीं। आत्मा अब भी परम और सारभूत सौन्दर्य के दर्शन नहीं कर सकती है जब तक कि वह स्वयं सुन्दर न हो जाय।"

सामान्य ही सामान्य को देख सकता है। अंग्रेजी के कवि ब्लैक ने लिखा है कि सूर्य किस तरह अपने प्रकाश को फैलाता है, यह इस पर निर्भर है कि कौनसी इन्द्रिय उसको किस प्रकार देख रही है।

## सन्त आगस्तीन (सन् ३५४-४३०)

प्लॉटीनस के सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी विचारों का प्रवाह उसके समय में तो रहा ही; परन्तु विशेष प्रभाव ईसाई दार्शनिकों पर पड़ा जो उसके समकालीन थे तथा उस समय से मध्य-युग में होते आए हैं। इन ईसाई दार्शनिकों में सन्त आगस्तीन (St. Augustine) प्रमुख हैं। सन्त आगस्तीन के सम्मुख यह प्रश्न था कि किस प्रकार स्वचालित विचार की विविधताओं और संघर्षों में एक सामञ्जस्यशील शक्ति का सृजन किया जाय। सन्त आगस्तीन ने लिखा—

> "बिना ऐक्य (Unity) के कुछ भी सम्भव नहीं है। जिस वस्तु में जितना अधिक ऐक्य है वह उतनी ही अधिक सत् है। कोई भी पार्थिव वस्तु वास्तव में एक नहीं है क्योंकि शरीर असंख्य टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है। कोई भी सुन्दर वस्तु अपनी सम्पूर्णता में ही प्रशंसनीय रहती है, खण्डों में नहीं। एकीकरण की शक्ति ऐक्य प्रदान करती है। यहाँ तक कि जब कोई खण्ड स्वतंत्र रूप से आनन्द देता है, तब वही खण्ड दूसरे खण्डों से सामञ्जस्य स्थापित कर पूर्णता प्राप्त करने पर और अधिक आनन्द प्रदान करता है। सौन्दर्य का पूर्ण अनुभव आह्लादमय ज्ञान में होता है।"

यह ज्ञान इन वस्तुओं के सामीप्य में होता है। ये वस्तुएँ न केवल इन्द्रियों से सामञ्जस्य बनाए रखती हैं, वरन् सम्पूर्ण मानव की प्रकृति से; विशेषकर मन से, जो इन्द्रियों का संचालक और व्याख्याकार है। आगस्तीन का कहना है कि व्यवस्था और सम्पूर्णता, जिसकी हम कला में अपेक्षा रखते हैं, हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। वह एक दैवी देन है। सन्त आगस्तीन का यह कथन वर्तमान सदी के उन आलोचकों में प्रतिध्वनित होता है जो यह समझते हैं कि ऐसी भी एक कल्पना है जिसे 'दैवी कल्पना' (Divine Inspiration) कह सकते हैं। सौन्दर्य की खोज एक दैवी-स्रोत से उपजी हुई शक्ति के द्वारा ही हो सकती

है; सीमित मानवीय अनुभूतियों से नहीं। नैतिक अशिव (Moral evil) वह है जो द्वन्द्व के अस्तित्व को माने और ऐक्य की शक्ति के अधीन न हो। इस प्रकार सन्त आगस्तीन, प्लॉटीनस की इस सौन्दर्य-शास्त्र की केन्द्रीभूत कल्पना को आगे बढ़ाकर, उसे नैतिक-शास्त्र की परिधि में समेटते हैं। सन्त आगस्तीन की एक उक्ति काफी गम्भीर है और उसकी उपादेयता समीक्षा शास्त्र में भुलाई नहीं जा सकती। एक स्थान पर इस सन्त और दार्शनिक ने लिखा है—

> "कला का अपना सत्य है और यह सत्य उससे सम्बद्ध है जो उस कला का अपना मिथ्या या भ्रामक तत्व है। कलाकार जब तक मिथ्या का भी संचार करने की क्षमता न रखता हो अपने प्रति सत्यनिष्ठ नहीं रह सकता सौन्दर्य अपने स्वतंत्र रूप में नहीं देखा जा सकता।"

इस तरह की उक्तियों में हमें सन्त आगस्तीन की उस समीक्षा के दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब मिलता है जो सौन्दर्य को विरोधाभास में ही पकड़ सकता है और विविधता में ही उसे देख पाता है। नाटक में खल-नायक की आवश्यकता इसीलिए होती है कि नायक के गुण और अधिक उभर आयें।

## टामस एक्वाइनस (सन् १२२६-१२७४)

नव-प्लेटोवाद के प्रतिष्ठाता प्लॉटीनस के विचारों का विवेचन संक्षिप्त रूप से ऊपर किया जा चुका है और उसकी एक प्रमुख सन्त द्वारा अपने ढँग से की गई व्याख्या भी दी जा चुकी है। अब हमें देखना यह है कि प्राचीन विचारणा-परम्पराओं के जो दो मूल हैं—प्लेटो और अरस्तू—उनका साहित्य पर और किस तरह प्रभाव पड़ा। यह विवेचन इसलिए आवश्यक है कि समीक्षा वह वृक्ष है जिसकी जड़ें अतीत के गहन तल में है। समीक्षा में जो मानदण्ड कुछ विचारणाओं के परिवेश में आलोचकों की कृति में छाया होता है, उसका विश्लेषण तभी सही अर्थों में होता है जब उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखा जाय। अरस्तू के काव्य सम्बन्धी मुख्य विचारों को पहले ही निरूपित किया जा चुका है। प्लेटो का प्रभुत्वमय प्रभाव भी आगामी युगों में किस प्रकार हुआ इस पर भी विचार-विमर्श ऊपर किया गया है। अरस्तू का प्रभाव जानना इसलिए आवश्यक हो गया है कि वह प्लेटो के विचारों का खण्डन करता था और ऐसी परम्पराओं का जनक था जो प्रयोग-वादी वैज्ञानिक के मस्तिष्क से निकली थीं। सन्त आगस्तीन के बाद, मध्य युग में एक महान् धर्मशास्त्री हुए जिनका नाम टामस एक्वाइनस है। टामस एक्वाइनस ने प्लेटोन्मुखी सौन्दर्य सम्बन्धी विचारधारा को दूसरी ओर मोड़ दिया और अरस्तू के स्वाभाविक चर-अचर जगत से भावनाओं और विचारणाओं का सम्बन्ध

जोड़ा। अब तक प्लेटो और उसके प्रतिनिधि विचारक प्लॉटीनस में हमने यह भासित पाया कि इस कोटि के दार्शनिक सृजनकर्ता और रचना के बीच एक तादात्मय या निरन्तरता (Continuity between creater and created) है। इस युक्ति का खण्डन टामस एक्वाइनस ने अपने मत में किया जिसके अनुसार सृजनकर्ता और उसकी रचना में अन्तर होता है, निरन्तरता नहीं। अरस्तू के विचारों से प्रभावित होकर टामस एक्वाइनस ने सौन्दर्य सम्बन्धी विचारणा को स्थूल जगत की व्यवस्था, तादात्म्यता और सादृश्यता से सम्बन्धित किया। एक्वाइनस की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणा उनके "डायनीसियस के आध्यात्मिक नाम" (Divine Names of Dionysius) नामक ग्रन्थ में मिलती है। यथा;

> "सौन्दर्य, रूप और अनुभूति में होता है और इसलिए मुख्य रूप से किसी चिन्तन-प्रधान या अध्ययनशील व्यक्तित्व में नहीं।"

आगे चलकर एक्वाइनस ने लिखा है कि वे वस्तुएँ सुन्दर दिखलाई देती हैं जिनकी अनुभूति आनन्द के साथ होती है। उसके अनुसार निरन्तरता के लिए तीन गुण आवश्यक हैं—पहला सम्पूर्णता, दूसरा सामञ्जस्य और तीसरा दीप्ति या ओज। सामञ्जस्य वह है जो मूर्ति और उसके मूर्ति होने के गुण के बीच रहता है। एक्वाइनस की सौन्दर्य चर्चा सौन्दर्य-शास्त्र पर आधारित नहीं है अपितु उससे सम्बद्ध है। उसने कहा—

> "मध्ययुग में कला श्रेणीबद्धता में उपयुक्त रचना मात्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कोई भी कुछ बनाता है वह भलीभाँति बनाए। गिरजाघर किसी गौशाला से अधिक मूल्यवान अवश्य है, परन्तु यदि गौशाला और गिरजाघर दोनों ही अपने ढँग से ठीक प्रकार बनाए गए हैं, तो सुन्दर हैं।"

उसके दृष्टिकोण से कलाओं में श्रेणियाँ हैं और सर्वश्रेष्ठ कला वह है जो धार्मिक भावनाओं और संस्कारों से अनुप्राणित रहती है। इस प्रकार कोई कला विशेष रूप से अपना स्वतन्त्र अस्तित्व लिए हुए पृथक नहीं है। अतः काव्य तभी श्रेष्ठ होता है जब वह धार्मिक भावनाओं की अभिव्यंजना करता है। एक्वाइनस के इस मत में मध्य युग का वह विचार-पक्ष सामने आता है जो कला को धर्म से सम्बन्धित देखकर ही उसकी उपादेयता नापता है। सौन्दर्य इस प्रकार ऐसा मानदण्ड सिद्ध होता है जो सापेक्ष या जाने-माने मानदण्ड से बिल्कुल भिन्न है, क्योंकि इससे प्रत्येक वस्तु, चाहे वह खण्ड में क्यों न हो, यदि अपनी पूर्णता के अनुसार रची गई है, तो वह कला का रूप लिए हुए होती है। इसमें "कला का कला के

लिए" सिद्धान्त खण्डित हो जाता है तथा मध्यकालीन मन का वह स्वरूप स्पष्ट होता है जिसमें धार्मिक संस्कार, आत्मा के स्वास्थ्य के लिए उपादेयता, और कलाकार का परिश्रम अपनी-अपनी महत्ता लिए हुए हैं।

वर्तमान-युग का प्रसिद्ध शिल्पकार एरिक गिल अपने ग्रन्थ "सौन्दर्य स्वयं संरक्षित है" (Beauty Looks After Herself) में लिखता है—

> "परनाले के लिए पाइप बनाना उतना ही कलापूर्ण कार्य है जितना कि किसी कलाकार के लिए कविता लिखना या चित्र बनाना।"

मध्यकालीन कला में, जिसमें धर्म सर्वोपरि था, ऐसा कोई मानदण्ड नहीं है जिससे ललित-कला को अन्य कलाओं से अलग किया जा सके।

मध्यकालीन समीक्षा के कला सम्बन्धी विचारों से हमें ऐसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि काव्य का आलंकारिकता या शैली के ओज से भिन्न कोई स्वयम् में पूर्ण पृथक् अस्तित्व है। क्युँटिलियन और सन्त आगस्तीन कविता को तर्क या आलंकारिकता का एक अंग मानते थे। कुछ ऐसे कवि, जो हालैण्ड निवासी थे, स्वयं को अलंकार-शास्त्री कहते थे, क्योंकि उनकी दृष्टि में कविता एक ऐसा विभाजन है जो आलंकारिकता के अन्तर्गत आता है। अरस्तू ने यहाँ तक कहा था कि हम तर्क युक्त प्रणाली से तभी विचार कर सकते हैं जब चित्र-कल्प (Images) में सोचें। टामस एक्वाइनस ने निम्नलिखित उद्धरण में, जो उसकी पुस्तक से लिया गया है, यह स्पष्ट कर दिया है कि कविता एक प्रकार का अपूर्ण तत्व है—

> "काव्यात्मक ज्ञान उन पदार्थों या तत्वों से सम्बन्ध रखता है जिनका सत्य पूर्ण नहीं है और इस अपूर्णता के कारण वे बुद्धि से परे हैं; अतः बुद्धि को कल्पनात्मक तुलना तथा सादृश्य से भुलावा दिया जाता है। दूसरी ओर, धर्मशास्त्र उन मामलों से सम्बन्ध रखता है जो बुद्धि से परे हैं। अतः एक प्रतीकात्मक पथ उन दोनों के लिए सामान्य है क्योंकि न तो काव्य और न धर्मशास्त्र बौद्धिक तर्क के लिए उपयुक्त हैं।"

कालान्तर में यह स्पष्ट होने लगा कि बुद्धिवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण, जिससे काव्य-शास्त्र और कला-शास्त्र बहुत सीमा तक प्रभावित हुए जा रहे थे, अब उपादेय-हीन प्रतीत होने लगे। जो प्रतिक्रिया हुई, उसमें यह सिद्ध हो गया कि मानव-मन केवल बुद्धि से कला की परख नहीं कर सकता। इस प्रतिक्रिया में नव-प्लेटोवाद के चिन्तन-तत्व का गहन प्रभाव था। जब सौन्दर्य की परिभाषा

होने लगी तो समीक्षक कहने लगे कि सौन्दर्य केवल ऐक्य और क्रम निभाता है। अंग्रेजी के कवि कोलरिज ने जिस आंगिक एकता (Organic Unity) का उल्लेख किया है वह उस चिन्तन धारा का उद्गम है जो समस्त उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किए हुए थी : उन्नीसवीं सदी के अन्त तक सौन्दर्य-शास्त्र आदर्शवादी विभाजन हो गया जिसमें रोमांटिक अथवा नव-प्लेटोवाद के सारभूत तत्व सक्रिय होने लगे; और बीसवीं सदी के आते-आते इटालवी मर्मज्ञ वैनेडेटो क्रोत्से का "अभिव्यञ्जनावाद" (Expressionism) सामने आया।

मध्य युग के एक महान कवि, राजनीतिज्ञ तथा विचारक इटली में हुए, जिनका ग्रन्थ "डिवाइन कॉमेडी" (Divine Comedy) विश्व-साहित्य की एक अभूतपूर्व देन है। होरेस, लांजाइनस, क्युँटिलियन, बीथ्स इत्यादि पूर्वकथित समीक्षक और साहित्यकारों के प्रयोगों के पश्चात्, एक ऐसा युग भी आता है, जब प्राचीन (Classical) साहित्यिक भाषा अर्थात् लैटिन के स्थान पर कोई कवि अपनी मातृभाषा या सामान्य जन-भाषा का प्रतिरोपण करता है। महाकवि अलगियारे दांते (सन् १२६५-१३२१) जिन्होंने 'डिवाइन कॉमेडी' (Divine Comedy) अर्थात् "दिव्य-दर्शन" में आत्मा को विविध प्रकार से नरक और स्वर्ग से अनुभूति-द्वारों से प्रवेश करते हुए बतलाया है; एक सच्चे देशभक्त, मातृ-भाषा-भक्त और रीतिपूर्ण कविता के पोषक थे। उन्होंने उन्नत आध्यात्मिक स्तर के इस काव्य ग्रन्थ (Divine Comedy) में सन्तुलित प्रतीकों का उपयोग किया। आध्यात्म की उस आधिभौतिक चेतना को सामान्य भाषा के छन्द में बाँधने और उसकी ही लाञ्छित शैली में अभिव्यञ्जित करने का महान साहस किया।

उनके समय इटालियन भाषा जन-भाषा थी और लैटिन, विद्वानों की भाषा। इसमें ही अब तक कवि, समीक्षक और चिन्तक रचनायें किया करते थे। अपने विचारों की दार्शनिक धुरी होते हुए भी दांते ने काव्य रस से उन्हें ऐसा ओतप्रोत किया कि विचार और भावना एकरूप हो गए।

दांते ने सामान्य भाषा पर अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा—

> "लैटिन और सामान्य भाषा के बीच अन्तर यह है कि सामान्य भाषा लैटिन से अधिक महत्ता लिए हुए है क्योंकि इस सामान्य भाषा (मातृ भाषा) में मानव जाति ने पहले पहल बोलना सीखा : इस महत्ता का एक और कारण यह भी है कि यह सामान्य भाषा हमारे लिए स्वाभाविक है जबकि दूसरी भाषा अस्वाभाविक है।"

सामान्य भाषा का काव्य में उपयोग करके इस महान कवि और समीक्षक ने उसे एक ऐसी प्रतिष्ठित श्रेणी में लाकर बैठा दिया कि मध्यकालीन कला और साहित्य इसे एक प्रकार का प्रवर्त्तक बिन्दु समझने लगे। दांते ने लेखकों को उद्-बोधन करते हुए यह भी प्रतिस्थापित किया कि उत्तम विचार वहाँ ही आ सकते हैं जहाँ ज्ञान तथा बुद्धि-विलास (Wit) हो। उत्तम भाषा, जो स्वाभाविक भाषा का श्रेष्ठ रूप है, उसी मस्तिष्क के लिए उपयुक्त प्रतीत होती है जिसमें बुद्धि और बुद्धि-विलास हों। काव्य के विषय में दांते ने कहा कि यह एक अलंकृत कल्पना प्रधान रचना है, जिसे लय प्रदान की गई है। दांते की इस उक्ति में आलंकारिकता को, जो अब तक काव्य के तल में एक प्रधान प्रभाव के रूप में रही है, अब काव्य के इन अंशों से नियोजित कर प्रस्तुत किया गया है, जिनसे वास्तव में काव्य का मर्म उभर आता है। किन्तु लय और कल्पना, दोनों ही आलंकारिकता के अधीन न हों वरन् आलंकारिकता को परिवर्तित किए हुए हों; और इस संयोजित परिणाम का तत्कालीन समीक्षा पर गहरा असर होता था। शैली के विषय में दांते ने यह अनुभव किया कि जो शैली अब तक प्रयुक्त होती आई थी वह दुखान्त नाटक की शैली से ही अधिक प्रभावित थी, जिसका विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(१) अर्थ का भार (२) काव्य का चमत्कार

(३) उदात्त शैली (४) उत्तम शब्दावली

परन्तु दांते ने जब सामान्य भाषा अर्थात् जन-भाषा के साहित्य में उपयोग की महत्ता को आग्रहपूर्वक विचारकों के समक्ष रखा तब उसके लिए यह अपरिहार्य रूप से आवश्यक हो गया कि सामान्य भाषा की शैलियों को वह भलीभाँति निरूपित करे। एक प्रचलित भ्राँति यह भी थी कि केवल श्रेष्ठ शब्द ही उदात्त अथवा भव्य शैली के अन्तर्गत आ सकते हैं, इसका भी दांते ने खण्डन किया। अब तक लेखक सजे-सँवरे शब्द अथवा खुरदरे शब्द ही उदात्त-शैली में प्रयुक्त करते थे। जन-भाषा तो ऐसे शब्दों और पदों से भरी-पूरी रहती है जिनसे अनुभव की चुभती हुई एकात्मता शीघ्र ही ध्वनि तथा अर्थ में प्रदर्शित की जा सकती है। प्रतीक भावनाएँ तथा युक्तियाँ यह माँग करती हैं कि कवि अपनी रचना में प्रयोग करने से पूर्व, अपने विवेक से ऐसे शब्दों का चयन कर ले जो अर्थ गर्भित ध्वनि, सार्थकता तथा निकटता का संस्पर्श लिए हों। तत्पश्चात् वह उनका प्रयोग अपनी रचना में करे।

दांते के समीक्षा संबन्धी और भी विचार हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं। अनुवाद से हानि—उसने यह निश्चयपूर्वक कहा कि जो काव्य लय के सिद्धांतों के अनुसार

रचा गया है वह कभी भी अपनी भाषा से दूसरी भाषा में अनुवादित नहीं किया जा सकता और यदि किया गया तो इसकी मधुरता और अनुरूपता नष्ट हो जायगी।

किसी भी रचना में शाब्दिक महत्व केवल उसके स्वरूप (Form) की अभिव्यञ्जना में निहित रहता है।

"प्रेम मेरे अन्दर कौनसा स्पन्दन उत्पन्न करता है यह मैं तुरन्त जान लेता हूँ और फिर मैं इस स्पन्दन का अर्थ अभिव्यञ्जित करने लगता हूं।"

उपरोक्त उक्तियों से दांते की उस विचारणा का महत्व सामने आ जाता है जिसमें साहित्यिक स्वरूपों (Form) और कल्पना में स्फुरणा प्रदान करने की शक्ति की महत्ता बतलाई गयी है। अब तक लेखक केवल आलंकारिकता से प्रभावित काव्य-मीमांसा को ही अपना मार्ग-दर्शक समझते थे। अब दांते के प्रभाव में आने वाले लेखक और काव्य के मर्मज्ञ समीक्षक काव्य की स्वतंत्र प्रभुसत्ता को मानने लगे। परिष्कृत तथा सौष्ठवपूर्ण शैली, जिसमें स्वरूप (Form) तथा विषय-वस्तु (Matter) का सम्पूर्ण सामञ्जस्य हो गया हो, श्रेष्ठ लेखन के लिए वे अब एक आवश्यक अंग समझने लगे।

टामस एक्वाइनस के सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का दांते पर एक प्रकार से गहरा प्रभाव भी था। एक्वाइनस के धर्म-शास्त्र के केन्द्रीभूत विचार तत्वों से दांते तो प्रभावित था ही, उन्होंने एक्वाइनस की सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी विचारधारा को भी अनेक अंशों में मान्यता प्रदान की। धर्म केन्द्रित काव्य की अनुभूति को उन्होंने अपने महान ग्रंथ में अपनी शक्तिशाली कल्पना के साथ सँजोया। सौन्दर्य न तो जीवन से पृथक है और न कला कला के लिए है। मध्य युग की यह एक प्रमुख विचार-प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत नव-प्लेटोवादी तथा टामस एक्वाइनस दोनों ही अपनी-अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार कला की परिभाषा करते थे। दांते की महानता इसमें है कि अपने काव्य की परिभाषा को आलंकारिता की परिभाषा के दबाव से मुक्त किया। जन-भाषा को एक साहित्यिक भाषा का स्थान दिया और विषय-वस्तु तथा स्वरूप के पूर्ण सामञ्जस्य से ही शैली के निर्माण की स्थापना की।

परिच्छेद–५

## पुर्नजागरण की समीक्षा (Criticism of the Renaissance)

पश्चिम का मध्य-युग धार्मिक प्रभावों में आबद्ध था। चर्च का महान अधिपति पोप न केवल व्यक्ति और देशों के वैयक्तिक जीवन का ही निर्देशन कर सकता था वरन् विभिन्न देशों का भी। धार्मिक और लौकिक मान्यताएँ इस प्रकार चर्च में संयुक्त थीं कि जिससे जीवन विभाजित नहीं हुआ था; परन्तु धर्म-शास्त्र के मानदण्ड ही प्रत्येक क्षेत्र में सर्वोपरि थे। टामस एक्वाइनस की समीक्षा पर विचार-विमर्श करते हुए हमने इसका सच्चा रूप देखा है तथा मध्यकालीन महाकवि दांते की विचारणाओं में इसका परिष्करण तथा भावनात्मक उद्‌बोधन भी।

मध्य-युग के समाप्त होते-होते एक ऐसी ऐतिहासिक घटना यूरोपीय इतिहास में घटित हुई, जिसके बाद से ही एक नया अध्याय आरम्भ हो गया। कास्टेन्टीनोपल पर तुर्कों ने विजय प्राप्त कर ली और जो ग्रीक वहाँ थे, वे यूरोप के अन्य भागों में शरण लेने पहुँच गए। वे शरणार्थी अपने साथ प्राचीन ग्रीक दर्शन, साहित्य, मूर्तिकला तथा ज्ञान की इन क्षेत्रों से पांडुलिपियाँ ले गए। मध्य-युग में, ईसाई धार्मिक मान्यताओं के कारण पश्चिम के प्राचीन विचार और साहित्य लगभग ओझल हो गए थे, क्योंकि यह उस सभ्यता की देन थे जो ईसाई धर्म के पहले के धर्म थे। अतः शक्तिशाली ईसाई विचारणाओं के प्रभाव में यूरोपवासी उन्हें विस्मृत करने लगे थे।

जब ये शरणार्थी यूरोप की विभिन्न दिशाओं में भागे और फिर जहाँ-जहाँ उन्होंने शरण पाई वहाँ ही उनके साथ पाण्डुलिपियाँ प्रकाश में आईं। मध्य-युग का लगभग अन्त हो रहा था और इस अन्त को निकट लाकर समाप्त करने में इन पाण्डुलिपियों ने बड़ा भारी काम किया। यूरोप के विचारकों, कवियों, शिल्पकारों ने उनके द्वारा प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की उन विलक्षणताओं को जानने का प्रयत्न किया जिनका चमत्कार उनके द्वारा निःसृत हो रहा था। मध्यकाल का साहित्य, दर्शन, शिल्पकला—ये सब-के-सब ईसाई-धर्म के केन्द्रीभूत

मानदण्ड से प्रभावित थे। यहाँ तक कि जब मध्यकालीन चित्रकला में देवदूतों को प्रदर्शित किया जाता था तब उनकी गरदनें आवश्यकता से अधिक लम्वी बतलायी जाती थीं। इसका अर्थ यह होता था कि वे देवदूत हैं और उनका मस्तिष्क हमेशा स्वर्ग की ओर उन्मुख रहता है। यद्यपि इस प्रकार के असन्तुलित चित्रण से कला में एक वैषम्य आ जाता था; किन्तु जब विचारकों ने प्राचीन विशेषताओं को देखा जिनमें सामञ्जस्य, सादृश्य, सन्तुलन आदि की महत्ता बतलाई गई थी और नाटक के ऐक्य सम्बन्धी प्रारूप का बोध कराया गया था, तब उन्हें यह भासित होने लगा कि अर्वाचीन कला तथा दर्शन के क्षेत्र में यह आवश्यक है कि उनके क्षितिज और भी विस्तृत हों जिससे विचारों और कला की सम्पूर्णता इसमें लायी जा सके। इस तरह कल्पना को फलदायी प्रोत्साहन मिला और दृष्टि को नए चमत्कारपूर्ण रंग भरे परिवर्तनशील क्षितिज। व्यक्ति को यह अनुमान होने लगा कि उसकी भी अपनी सत्ता है और वह केवल चर्च द्वारा निर्देशित विधान का पुछल्ला नहीं है। विचारकों को भी स्वतंत्र रूप से तर्क करने और नई दिशाएँ खोजने के लिए प्रेरणा मिली। कलाकारों ने प्राचीन ग्रीक शिल्प की सुडौल और संस्पंदित मूर्तियों को अपना आदर्श मानना आरम्भ किया। नाटककारों ने, जो अब तक चर्च की व्यवस्था के अनुसार उपदेश सम्बन्धी घटनात्मक नाटक ही लिखते थे जो बाइबिल की कहानियों पर आधारित होते थे, भी अब नाटकों में ऐक्यत्रयी (Three Unities) का उपयोग कर कथानक के ढाँचे को एक सुगठित और पूर्ण रूप देना प्रारंभ किया। कवि भी, जो अब तक मध्यकालीन मान्यताओं से बँधे थे अर्थात् जो काव्य को अलंकार शास्त्र से उपजा हुआ मानते थे, अब प्लेटो और अरस्तू की ओर झुकने लगे। सारा परिवेश ही अब नवीन बौद्धिक या कलात्मक प्रेरणाओं से महती और वेगवती स्फुरणा से आन्दोलित हो उठा। बदलते रंगीन क्षितिजों के दृश्य उपस्थित हो उठे। मानव मन चेता और नए की खोज में जुट गया।

## सर फिलिप सिडनी (Sir Philip Sidney) सन् १५८१ ई.

इटली में इस पुनर्जागरण का सर्वप्रथम श्री गणेश हुआ और इसके फल-स्वरूप वहाँ की समीक्षा प्रभावित हुई। नवीनता और स्पन्दनशील विचारणाओं ने धीरे-धीरे यूरोप के और भी देशों में प्रवेश किया। अंग्रेजी साहित्य में पुनर्जागरण की समीक्षा का मुख्य प्रभाव एक विचारक, सर फिलिप सिडनी पर हुआ। सर फिलिप सिडनी ने, जिनका काल १५८१ ईसवी माना जाता है, एक ग्रन्थ की रचना की जो "काव्य का स्पष्टीकरण" (Apology for Poetry) के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे अंग्रेजी में यह ग्रन्थ "Defence of Poetry" भी कहलाता है जिसका आशय यह है कि अब तक काव्य की उचित रूप से परिभाषा न होने के कारण उस पर आक्षेप होते आए हैं। अतः इस ग्रन्थ में एक प्रकार से काव्य का प्रतिरक्षण

किया गया है। इस ग्रन्थ में सर फिलिप सिडनी ने कुछ बातें मुख्य रूप से कही हैं जिन पर पुनर्जागरण की इटालवी समीक्षा का गहरा प्रभाव है। कालान्तर में ये ही मान्यताएँ अंग्रेजी साहित्य में गम्भीर विवेचन का कारण बनीं। उस समय, जब कि कवि को साधारण रूप से एक उपदेशक अथवा चमत्कारपूर्ण अलंकार शक्ति का प्रतिनिधि माना जाता था, सर फिलिप ने इस विचार का प्रतिपादन किया कि कवि एक दैवी शक्ति से प्रेरित व्यक्ति है और यह शक्ति दैवी होने के कारण पवित्र है। इसमें प्लेटो के विचारों का प्रभाव है तथा इस धारणा का खण्डन है कि कवि केवल उपदेशों को छन्द-बद्ध करने वाला एक तुक्कड़ है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही सर फिलिप सिडनी ने यह कहा कि प्लेटो की रचनायें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी निहित शक्ति दार्शनिक तत्वों में है, परन्तु उनका आवरण और सौन्दर्य उनकी काव्यमय शैली में है। अतः सर फिलिप ने कवि को दैवी प्रेरणा से गतिमान एक ऐसा माध्यम माना है जो प्राचीन कला का मसीहा या भविष्य वक्ताओं की तरह होता है। प्राचीन ग्रीस तथा रोम में ईसाई-धर्म के पूर्व ऐसे भविष्य-वक्ता होते थे जो दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित होकर छन्दबद्ध वाणी कहते थे, जिसमें दैवी घटनाओं का संकेत होता था। यह वाणी अपने विषय में भले ही कुछ भी रही हो, परन्तु इसमें छन्द द्वारा उत्पन्न एक लय होती थी, जिससे उसका सम्मोहन अपनी पूरी शक्ति से मन पर एक छाप छोड़ देता था। सर फिलिप के मतानुसार कवि इस नैसर्गिक प्रेरणा के आधार पर ही कविताएँ लिखता है, इसका अर्थ है कि वह लिखने के पूर्व कोई निश्चित योजना के अनुसार परिश्रम द्वारा यह नहीं तय करता कि कविता लिखना है। इस नैसर्गिक प्रेरणा से अभिभूत होते हुए भी कवि को उन्होंने उस प्रवृत्ति के प्रति सचेत किया है, जिसके फलस्वरूप वह अपनी रचना में प्रयुक्त शब्दों के प्रवाह में बह जाता है। प्रेरणा की सरल शक्ति का यह अर्थ नहीं है कि कवि केवल बहते हुए शब्दों को ही ज्यों का त्यों अपनी कविता में रख दे। उसे विवेक के अनुसार, चयन, परिवर्द्धन एवं परिमार्जन करना चाहिए जिससे शैली में दोष न रहे। यदि केवल प्रेरणा को ही कवि ने अपनी वाणी में शब्दों के आधार पर निरूपित किया तो वह रचना शब्दों का ऐसा अर्थहीन अम्बार हो जाएगी कि जिसमें छन्द तो होगा परन्तु भावनाप्रधान अर्थ नहीं।

सर फिलिप सिडनी के अन्य विचार तत्कालीन नाटक के सम्बन्ध में हैं जो बहुत महत्वपूर्ण हैं, एक ओर तो सर फिलिप ने काव्य में नैसर्गिक प्रेरणा का उपयोग किया, जो बहुत कुछ प्लेटो की विचारणा पर आधारित है; तो, दूसरी ओर, उन्होंने अरस्तू के ऐक्यत्रयी सिद्धान्त को मानदण्ड मानकर अर्वाचीन नाटकों की समीक्षा की। उन्होंने देखा कि इन नाटकों में न तो ऐक्य है और न स्थान-

ऐक्य । उनके समय के नाटकों में, जो बहुधा घटनात्मक होते थे, स्थान-ऐक्य का ध्यान इसलिए नहीं रखा जाता कि कथानक केवल वर्णनात्मक होता था और नाटककार की यह इच्छा होती थी कि अधिक से अधिक रूप से घटनाओं का ऐसा वर्णन करे कि अतीत का वर्तमान में समावेश हो सके । इस कारण उन नाटकों में स्थान-ऐक्य भी नहीं रखा जा सकता था; क्योंकि जब घटनायें वर्णित की जा रही हों तो उनकी विविधता बतलाने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता था कि स्थान-स्थान पर वह घटित होती बताई जायँ जिससे नाटककार की वर्णनात्मक शक्ति खुलकर सामने आए । काल और स्थान का व्यवधान नाटककारों को पसन्द नहीं था । सर फिलिप ने यह देखा कि ऐक्यत्रयी का अनुपालन न होने से कथानक में शिथिलता और कहीं-कहीं उसमें दुखान्त नाटक के वे तत्व नहीं रह पाए हैं जिनके आधार पर ही कोई नाटक कला का रूप ग्रहण करता है ।

उन्होंने यह भी देखा कि कार्यकलाप (Action) में भी कोई एकता नहीं है, क्योंकि दुखान्त कथानक में कभी कभी हास्य को स्थान मिलने के कारण दर्शक कुछ हँस तो लेता है, परन्तु घटना का वेग कम हो जाता है । दुखान्त नाटक का उद्देश्य भय और करुणा का उद्रेक करना होता है, और वह उद्देश्य इस प्रकार अनावश्यक रूप से प्रयुक्त हास्य के दृश्यों से न केवल असिद्ध रह जाता है, अपितु इसमें एक प्रकार का बनावटीपन आ जाता है । यहाँ अरस्तू की वह स्थापना कि कार्यकलाप में एकता आवश्यक है, खण्डित हो जाती है । अतः सर फिलिप ने अपने काल के नाटकों के लिए अरस्तू द्वारा प्रतिपादित ऐक्यत्रयी (Three Unities) का, जिनमें कार्यकलाप का ऐक्य मुख्य है, प्रतिपादन किया । सर फिलिप ने एक स्थान पर कहा कि इन दोषपूर्ण नाटककारों को यह जानना चाहिए कि नाटक इतिहास नहीं है, वरन् काव्य के नियमों से बँधा है । इतिहास अमुक-अमुक का वर्णन करता है, उसमें सार्वभौमिकता नहीं होती; जबकि काव्य एक सार्वभौम परिवेश को नाटक के कथानक में प्रस्तुत करता है और कार्यकलाप का केन्द्र बनकर नायक को उसका कर्त्ता दर्शाता है ।

सर फिलिप ने यह भी कहा कि काव्य-रचना में कवि का लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह उपदेश के साथ ही आनन्द दे सके । इसके लिए कवि का नैतिक होना और साथ ही कलाकार होना, आवश्यक है । परन्तु सर फिलिप के समय इटालवी पुनर्जागरण के प्रभाव से तथा अन्य कारणों से भी ऐसी कविताएँ लिखी जा रही थीं जो नैतिक नहीं थीं और केवल आह्लाद देने वाली थीं । उनके पूर्व के कवि चॉसर (Chaucer) कोई उपदेशक कवि नहीं थे, केवल आनन्द की अभिव्यंजना करते थे । इस सन्दर्भ में सर फिलिप ने अपनी परिभाषा को कट्टरपन्थी न बनाकर

लचीला बनाया। उन्होंने कहा कि यह नहीं सोचना चाहिए कि कविता से मनुष्य की बुद्धि नष्ट होती है परन्तु मनुष्य की भ्रष्ट बुद्धि से कविता का दुरुपयोग होता है। इस विवेचन ने आगामी समीक्षा को बहुत प्रभावित किया है। नैतिकता और केवल आनन्द इनमें सामञ्जस्य कैसे हो, इस समस्या पर समीक्षकों में काफी विचार हुआ करता था। इस सिद्धान्त पर किए गए आक्षेपों का सर फिलिप ने कोई निराकरण प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने एक ऐसी युक्ति प्रस्तुत की जो समीक्षा साहित्य को आज भी प्रदीप्त किए हुए है। उन्होंने कहा––

"कवि किसी सत्य का निरूपण नहीं करता; अतः वह असत्य भी नहीं कहता।"

परिच्छेद–६

# नव-रीतिवादी समीक्षा (Neo-Classical Criticism)

सर फिलिप सिडनी के ग्रन्थ "काव्य का स्पष्टीकरण" (Apology for Poetry) में पुनर्जागरण का जो औदात्य और वैचित्र्य है, उसमें एक विशेष व्यक्तित्व भी मिश्रित है। सर फिलिप सिडनी एक अंग्रेज कुलीन थे (English Gentleman) और उनके ग्रन्थ में इस कुलीनता की सुन्दर तथा मृदु अभिव्यंजना है। नम्रता और आह्लाद, कला की स्वाभाविक स्फुरणा और साथ ही नियमों का अनुशासन, ये सब, सर फिलिप सिडनी की रचना में विद्यमान हैं। परन्तु उनके बाद के समीक्षक बेन जान्सन तथा ड्रायडन, जो कवि और नाटककार थे, एक ऐसे साहित्यिक सम्प्रदाय के जनक हैं जिसे नव-रीतिवाद (Neo-Classicism) कहा जाता है। इसके बाद में नियमों का बन्धन, कला का अनुशासन, सन्तुलन, सादृश्य और परोक्षवाद, कुछ ऐसी विचारणायें हैं जिन पर इस सम्प्रदाय की नींव पड़ी है। यह सम्प्रदाय काव्य शक्ति को नैसर्गिक शक्ति नहीं मानता और न ही कल्पना को इसकी केन्द्रीभूत शक्ति। इसके अनुसार बुद्धि तथा तर्कशक्ति भावनाओं को समेटे रहती हैं।

## बेन जान्सन (सन् १५७४-१६३४)

बेन जान्सन एक विशेष प्रकार के नाटकों का प्रणेता था जिन्हें "Comedy of Humours" कहते हैं। यह उस कोटि के नाटक हैं जिनमें किसी शोध प्रधान चरित्र का मजाक बनाया जाता है। इस व्यंग्यात्मक नाटक में चिकित्सा-शास्त्र की वह विचारणा प्रधान थी जिसके आधार पर मानव-स्वभाव के चार भेद किए जाते थे। ये भेद स्वभाव की दोषोन्मुखी प्रवृत्ति (Humours) के आधार पर होते थे; जैसे, अति क्रोधी मनुष्य या अधिक पेटू मनुष्य या अति रसिक मनुष्य। इन नाटकों में व्यंग्य, उपहास और विकृतियाँ मुख्य अस्त्र हैं। लन्दन नगर की विभीषिकाओं और आडम्बरों से उत्पन्न हुए ऐसे दोषपूर्ण कार्य जो व्यक्ति समाज में करता था और करते-करते उसमें विकृति आ जाती थी, उन विकृतियों को विचार-धारा में गूँथ, दोषोन्मुख प्रवृत्तियों के आधार पर अभिव्यक्त कर नाटककार ऐसे

नाटक लिखता था जिनसे इन त्रुटियों पर समाज हँस सके। उसका मूल उद्देश्य होता था व्यंग्य के माध्यम से सामाजिक दोषों को दूर करना। अतः नाटककार या कवि का उद्देश्य नैतिक होता था। परन्तु उसका लक्ष्य भयंकर अट्टहास द्वारा ही नैतिक फल प्राप्त करना होता था। इस तरह के नाटककारों का बेन जान्सन की बुद्धि-प्रधान समीक्षा को अपनाना स्वाभाविक ही है। काव्य की परिभाषा करते हुए बेन जान्सन ने कहा कि कविता और चित्रकला एक ही कोटि की कलायें हैं। ये दोनों ही अनुकरण करती हैं। प्लूटार्क ने सच ही कहा था कि कविता बोलता हुआ चित्र है, और चित्र, मूक कविता। यद्यपि दोनों का सिद्धान्त अनुकरण करना है और लक्ष्य है आनन्द देना तथा श्रोताओं या दर्शकों को लाभान्वित करना। परन्तु बेन जान्सन ने कलाकारों को उन समस्त हेय आनन्दों से दूर रहने के लिए सचेत किया क्योंकि हो सकता है वे उनके कारण पथभ्रष्ट हो जायें। मानव हृदय को आह्लादित करने और मस्तिष्क को समृद्ध करने के साथ ही यदि इन्होंने नागरिकों के व्यवहारों को दूषित किया तो अपने लक्ष्य से वे विपथ हो जायेंगे। कवि और चित्रकार दोनों ही जन्म से कला-कौशल सम्पन्न व्यक्ति होते हैं, बनाए नहीं जाते। उनमें प्रकृति अधिक शक्तिवान होती है।

अच्छे लेखन के लिए बेन जान्सन ने तीन सिद्धान्त निर्धारित किए—

(१) उत्तम लेखकों की रचनाओं का अध्ययन;

(२) उत्तम व्यक्तियों को श्रवण करना; और

(३) अपनी शैली का परिमार्जन करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना।

सुलेखन में यह भी आवश्यक है कि शब्दों के चयन को बारम्बार परखा जाय और बड़ी सावधानी पूर्वक प्रत्येक शब्द यथास्थान रखा जाय। कल्पना की ऊष्णता में जो भावातिरेक होता है या शब्द निःसृत होते हैं, उन पर विश्वास नहीं किया जाय; बल्कि ठण्डे दिमाग से उनका मूल्यांकन करने के बाद आवश्यक रूप से काट-छाँट की जाय। इस प्रसंग में उसने महान नाटककार शेक्सपीयर की भी आलोचना की। बेन जान्सन के समकालीन लेखक या टीकाकार शेक्सपीयर की प्रशंसा में कहा करते थे कि वह ऐसा लेखक था जिसने जीवन में एक बार लिखी गई पंक्ति को न कभी काटा और न कभी संशोधित किया। इस पर बेन जान्सन ने कहा कि क्या ही अच्छा होता कि शेक्सपीयर ने ऐसा किया होता—परिश्रम और बार-बार मूल्यांकन कर संशोधन करना एक अच्छी शैली के लिए आवश्यक गुण है। एक गम्भीर विचारणा, जिसका बेन जान्सन ने समावेश किया, थी काव्य और काव्य-कौशल में अन्तर। उसका कथन है—

"कविता कवि के श्रम का फल है। (२) काव्य-कौशल कविता का वह नैपुण्य है जिसके फलस्वरूप ही उसने अपनी कला को रूप प्रदान किया, और (३) स्वयं कवि। ये तीनों एक दूसरे से भिन्न हैं; अर्थात् जो कार्य सम्पन्न हुआ, सम्पन्न होने की क्रिया, और सम्पन्न करने वला अथवा कल्पित वस्तु, कल्पना की प्रक्रिया और कल्पनाकार तीनों ही भिन्न हैं। इसमें कवि का काव्य-कौशल ही कला है। यही नहीं, वह उन समस्त कलाओं की, जिनके विषय में यह सोचा जाता है कि वे दैवी स्फुरणा से ही उत्पन्न हुई हैं, की सम्राज्ञी है।"

इस विचार में यह तत्त्व निहित है कि कवि को स्वभाव से, परिश्रम से, अनुकरण से, अध्ययन से कवि होना चाहिए और उसे व्याकरण, तर्क, अलंकार-शास्त्र और नीतिशास्त्र के अनुशासन बद्ध-नियमों का ज्ञान होना चाहिए और इस प्रकार से उसे एक विशिष्ट व्यक्ति होना चाहिए। कवि की कविता इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसका काव्य-कौशल, जिससे ही कविता अपना स्वरूप पाती है। परन्तु कवि एक स्रष्टा है; अतः उसमें स्वाभाविक बुद्धि की श्रेष्ठता और पूर्णता होनी आवश्यक है। काव्य का लक्ष्य दूसरी कलाओं में सिद्धान्तों और उपदेशों का समावेश करना रहता है; परन्तु कवि स्वाभाविक प्रवृत्ति से ऐसी शक्ति से सम्पन्न होता है जिससे वह अपने मस्तिष्क के समूचे वैभव को प्रदर्शित कर सकता है। इस दशा में अर्थात् अध्ययन, स्वाध्याय, परिश्रम, अनुशासन और शास्त्रों के ज्ञान के पश्चात् जब उसमें भावनाओं और विचारों का वैभव जागृत हो गया हो, तब अपनी काव्य रचना से वह ऊपर उठता जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई दैवी शक्ति उसे सर्व साधारण अथवा सर्वमान्य लोक प्रचलित मान्यताओं से ऊपर उठा रही है।

कोई ऐसा कानून नहीं है जो किसी को कवि बनने के लिए बाध्य करे। कविता की स्फुरणा, यदि साल, दो साल में भी आती है तो भी, यदि वह सत्य है और परिश्रम के साथ उसका उदय हुआ है, अच्छी ही है। वे तुक्कड़ कवि जो छन्दों के बहाव में आकर अपनी अबाध गति से बहने वाली काव्य की सरिता को प्रवाहित कर देते हैं, उनसे कोई महत्वपूर्ण लक्ष्य, जो काव्य का लक्ष्य है, प्राप्त नहीं किया जा सकता।

बेन जान्सन की एक बहुत ही सारगर्भित उक्ति है जिसका २०वीं सदी के कुछ समालोचकों ने भी अपने ढंग से उपयोग किया है। वह है—

"कवि स्रजनकर्ता है और इस स्रजन में वह अनुकरण करता है।"

अर्थात् कवि में ऐसी क्षमता होती है जिसके द्वारा दूसरे कवि के वैभवपूर्ण काव्य को इस प्रकार प्रत्यावर्तित करके उसका उपयोग सम्यक् रूप से कर सके कि कोई दूसरे ही काव्य की सृष्टि हो जाए। यहाँ वह सत्य स्पष्ट हो जाता है कि मौलिकता कोई शून्य से नहीं टपकती है। मौलिकता तो पुरातन या प्रचलित या अर्वाचीन विचारणाओं, रचनाओं अथवा व्यवस्थाओं में हेर-फेर करने के पश्चात् ऐसे तत्वों का उदय है जो पुरातन से निकलकर नए बनकर आए हैं। इस नवीनता में ही सारभूत मौलिकता है। मौलिकता वह क्षमता है जिसके द्वारा पुरानी वस्तु के सारतत्व से नई वस्तु निर्मित की जा सके। बेन जान्सन ने इस बात पर बल दिया कि लेखक उन महान साहित्यकारों का अध्ययन और अनुकरण करे जिनका वह अपनी रचनाओं में प्रभाव ला सकता है और यदि कवि सक्षम है तो ऐसे प्रभाव को अपनी रचनाओं में उपयोग कर मौलिकता उत्पन्न कर सकता है।

यह सत्य है कि स्वाभाविक प्रेरणा कवि में होती है, परन्तु श्रम, अनुकरण और अन्य कलाओं का अध्ययन ही कवि की रचना के काव्य-कौशल हैं, और उसे सम्पूर्णता प्रदान कर सकते हैं। बेन जान्सन के अनुसार काव्य-कौशल ही प्रधान तत्व है, कविता और कवि गौण।

बेन जान्सन की निम्नलिखित उक्ति आगामी हर समीक्षा-काल में विवेचन का विषय रही है—

> "कवियों के निर्णायक केवल वही हो सकते हैं जिनमें काव्य-रचना की शक्ति है। अतः कवि ही काव्य के सच्चे निर्णायक हो सकते हैं; और वे भी ऐसे-वैसे कवि नहीं, बल्कि उत्तम कोटि के।"

इस बहुचर्चित उक्ति में उस विचारणा का समावेश है जिसके अनुसार काव्य कौशल, अध्यवसाय, परिश्रम और कल्पना के संयोग से ही रचा जाता है। समीक्षक काव्य के गुण-दोष पहचानने में समर्थ तो हो सकता है, परन्तु उस पर एक विहंगम दृष्टि से निर्णय करने के लिए ऐसे गुणों की आवश्यकता है जिनसे वह काव्य के रचयिता स्पन्दन से सादृश्य अथवा सामीप्य अनुभव करे। छोटे-मोटे दोषारोपण या गुणों का वर्णन समीक्षा नहीं होती। समीक्षक ऐसा हो जो काव्य-गुणों से अलंकृत हो, रचना पर अपनी पैनी दृष्टि डालकर रचयिता की शैली तथा व्यक्तित्व के समस्त प्रभावशाली तत्वों को—उसके पाण्डित्य एवं अनुभव की गहनता आदि —को आँकने की क्षमता रखता हो। जो समीक्षक काव्य के गुणों से परिचित नहीं अथवा जिसने इन गुणों का अनुभव नहीं किया और न ही काव्य की रचना करने की उनमें क्षमता है, उस दशा में ऐसे समीक्षक काव्य की केवल छिछली और

उथली आलोचना ही कर सकते हैं। होरेस ऐसा ही समर्थ समीक्षक था जो गुण तथा ज्ञान दोनों से विभूषित था। अतः उसकी काव्य की समीक्षा सारगर्भित, ठोस और पैनी दृष्टि वाली है।

बेन जान्सन की समीक्षा में एक ऐसे आलोचक का हृदय धड़कता है जो केवल भावना को ही सार्वभौम नहीं मानता, वरन् उसकी मान्यता है कि बुद्धि की अनुशासनात्मक सत्ता में भावनाओं का संचरण हो और रीतिवाद द्वारा निर्धारित नियमों का समझदारी से पालन हो, मात्र अन्धानुकरण नहीं। बेन जान्सन उस नाटक का प्रतिनिधि था जिसमें ऐक्यत्रयी (Three Unities) के अनुपालन की पूरी चेष्टा है। यह नाटक उस नाट्य कला से भिन्न है जिसके प्रणेता शेक्सपीयर थे।

यहाँ यह कहना प्रासंगिक होगा कि शेक्सपीयर ने जिस प्रकार नाटकों का नेतृत्व किया वे रीतिवाद (Classical) का, ऐक्यत्रयी का, पालन नहीं करता था। न तो काल और न स्थान और न ही कार्यकलाप की एकता उसके नाटकों में है। यह महान नाटककार स्वच्छन्द था और उसकी प्रतिभा इतनी प्रखर एवम् चतुर्मुखी थी कि उसे कोई नियम बाँध नहीं पाता था। जिन दुखान्त नाटकों की रचना उसने की वे उसके समय में ही बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे तथा उनका आज भी, उस समय से अधिक, सम्मान है। शेक्सपीयर पुनर्जागरण के वेगवान प्रवाह और भाव परिवर्तनों की मान्यताओं से अनुप्राणित था। उसके सुखान्त नाटक अर्थात् कॉमेडी, बेन जान्सन की कॉमेडी से बिल्कुल भिन्न थे, यहाँ तक कि उन्हें कॉमेडी कभी कहा ही नहीं जाता है वरन् रोमान्स कहा जाता है। वह बेन जान्सन का समकालीन था, परन्तु ऐसी भिन्न दशाओं का उसने निर्देश किया जो प्राचीन नियमों (ऐक्यत्रयी) की पूर्णतः विरोधी हैं। उसके दुखान्त नाटक कार्यकलाप की एकता में विश्वास नहीं रखते, साथ ही कथानक में उपकथानक (Sub-Plot) भी रहता है जो हास्य-प्रधान होता है। काल और स्थान का प्राचीन मान्य औचित्य नहीं निभाया जाता और शीघ्रता से दृश्य परिवर्तित होते बतलाए जाते हैं। प्राचीन नियमों के अनुसार नाटक में एक दिन में घटित होने वाला कथानक हो, इसे भी शेक्सपीयर ने नहीं माना। काल, स्थान और कार्यकलाप, इन तीनों ऐक्यों का उल्लंघन शेक्सपीयर के नाटकों में उपलब्ध है।

## जान ड्रायडन (सन् १६३१-१७७०)

बेन जान्सन नव-रीतिवाद (Neo-Classicism) का प्रतिनिधि था; परन्तु उसमें कट्टरपन नहीं था। नीतिवान और ठोस विचारक होने के कारण उसने प्राचीन नियमों को एक निर्जीव परम्परा होने से बचाने का प्रयत्न किया। उसके

समकालीन कवि, नाटककार और समीक्षक जान ड्रायडन है। वह भी नव-रीतिवाद के समर्थक और सफल समीक्षकों की कोटि में आते हैं। जान ड्रायडन अपने समय के प्रसिद्ध व्यंग्यकार (Satirist) थे परन्तु, उनके व्यंग्यों में घृणा, तिरस्कार और उपहास लगभग नहीं के बराबर होता था। वे समाज और व्यक्ति के दोषों का, जीवन की विभीषिकाओं और उपहासास्पद अन्तरों का बड़े कौशल से अपनी रचनाओं में चित्रण करते थे, परन्तु इनमें कोई सामाजिक या वैयक्तिक द्वेष नहीं झलकता था। उन्होंने कुछ नाटक भी लिखे जो बहुत ऊँची कोटि के नहीं थे, परन्तु उनमें से कुछ नाटकों की प्रस्तावना में ड्रायडन ने अपने आलोचना सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं। ड्रायडन की मुख्य रचना "नाटकीय काव्य पर प्रबन्ध" (An Essay on Dramatic Poetry) है। यह प्रबन्ध कुछ दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है; यद्यपि यह प्राचीन मान्यताओं और नियमों का समर्थन करता है। इस महत्वपूर्ण प्रबन्ध में चार ऐसे वक्ता हैं, जो समकालीन नाटक की परिभाषा में लीन हैं। पहला कहता है कि प्राचीन नाटक, जो ग्रीक रोमन साहित्य में पाए जाते हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। उन्होंने ही प्राचीन नियमों का पूर्ण रूप से पालन किया है। वर्तमान काल का नाटक-साहित्य बिल्कुल लचर है, क्योंकि इसमें प्राचीन नाटकों की या तो अवहेलना है या एक नीरस अनुकृति। दूसरा कहता है कि आधुनिक नाटक ही सर्वोत्कृष्ट हैं; क्योंकि वे ही प्राचीन नियमों का पूर्णतः पालन करते हैं। प्राचीन नाटक तो अपने नियमों का ठीक तरह से पालन करने में समर्थ रहे। तीसरा कहता है कि वर्तमान अंग्रेजी नाट्य-साहित्य श्रेष्ठ नहीं है; बल्कि फ्रेंच नाट्य-साहित्य श्रेष्ठ है। इन तीन वक्ताओं की चर्चाओं के पश्चात् ड्रायडन, अपना उपनाम निएण्डर (Neander) रखकर, प्रवेश करता है, और अब इस चर्चा का ऐसा स्वरूप बन जाता है, जिसमें परिभाषा की ओर चलने का आग्रह है। ड्रायडन अपने विचारों को व्यक्त करते हुए किसी कट्टरपन्थी मार्ग का निर्देशन नहीं करता, वरन् उनमें एक ऐसी न्यायिक दृष्टि, जो स्पष्ट और साथ ही सहानुभूतिपूर्ण है, झलकती है। नाट्य कला की जिस परिभाषा पर चारों वक्ता सहमत हैं, वह निम्नलिखित है—

> "नाटक मानव-स्वभाव की सत्य और जीवन्त प्रतिमूर्ति है। वह मानव के रागद्वेष की भावनाओं और मूल प्रवृत्तियों का चित्रण करता है तथा भाग्य परिवर्तन भी। नाटक का उद्देश्य आनन्द देना और मानव समाज को शिक्षा देना है।"

इस परिभाषा में दो तत्व मुख्य रूप से प्रस्तुत किए गए हैं। पहला यह कि नाटक एक सत्य और जीवन्त प्रतिमूर्ति है, और दूसरा यह कि मानव समाज को शिक्षा या

उपदेश देता है और आनन्द भी। अब वक्ताओं में सत्य को लेकर विचारों का खण्डन-मण्डन प्रारंभ हुआ। ड्रायडन अर्थात् निएण्डर अंग्रेजी नाटक के देशी तत्वों को, जो विदेशी प्रभावों से मुक्त थे, प्रतिपादित करता हुआ कहता है कि जो सत्य नाटक में होता है, वह यर्थार्थ में सत्याभास (Verisimilitude) है। अपना तर्क देते हुए उन्होंने कहा कि—

> "यह सत्य है कि फ्रेंच काव्य में बड़ा सौन्दर्य है और वह पूर्णता प्राप्त करने में सहायक हो सकता है; परन्तु यह पूर्णता वहीं देखी जा सकती है जहाँ उसका अभाव है। फ्रेंच काव्य का सौन्दर्य ऐसा सौन्दर्य है जो हमें किसी मूर्ति में मिलता है। परन्तु यह मानव का सौन्दर्य नहीं है; क्योंकि वह काव्य, कविता के अन्तरतम (अन्तरात्मा) से अनुप्राणित नहीं है। कवि का कार्य है स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों और रागों का अनुकरण प्रस्तुत करना।"

ड्रायडन के इस कथन ने अंग्रेजी साहित्य में उन देशी तत्वों को प्रोत्साहन दिया जो अब तक फ्रेंच संस्कृति के प्रभुत्व से ग्रस्त थे। प्रत्येक क्षेत्र में अब तक फ्रांस का साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। अंग्रेजी-काव्य के प्रणेता, मध्ययुगीन चॉसर ने भी फ्रांस की कविता से ही प्रेरणा ली और उसको आदर्श मानकर अपनी "केण्टरबरी टेल्स" की रचना की। उनके काल में अब तक आधिपत्य या तो प्राचीन नियमों का था जो प्राचीन ग्रीस और रोम के थे, अथवा फ्रांस के साहित्य का, जिसका अन्धानुकरण हुआ करता था। ये दो व्यवधान ऐसे थे, जिनका उल्लंघन करना अंग्रेजी साहित्य के लिए इसलिए अनिवार्य था कि जिससे वह स्वयं सत्तावान बन सके और अपनी आन्तरिक शक्ति के अनुसार प्रस्फुटित हो। यद्यपि प्राचीन नियमों का अनुपालन उस सीमा तक उचित है; परन्तु जहाँ तक कला की अपनी पूर्णता और सुदृढ़ता का सम्बन्ध है इन नियमों के अन्धानुकरण से कोई साहित्य जीवन्त नहीं हुआ। ड्रायडन की मान्यता थी कि एक विदेशी अर्थात् फ्रेंच साहित्य का प्रभुत्व मानने से अंग्रेजी साहित्य में केवल हीन भावना ही प्रवेश करेगी। अतः उसकी समीक्षा की जो मुख्य देन है, वह यह है कि अंग्रेजी साहित्य में देशी तत्वों को प्रोत्साहित करके उसे एक ऐसे स्तर पर लाना चाहिए जहाँ वह सुचारू रूप से अपनी निहित और स्वाभाविक प्रवृत्तियों को पूरे रूप से विकसित कर सकें। यद्यपि ड्रायडन रीतिवादी था और ऐक्यत्रयी में उसका विश्वास था, फिर भी वह उनका अन्धानु-करण नहीं करता था। एक स्थान पर उन्होंने फ्रेंच नाटक का इसलिए उपहास किया कि उसमें स्थान ऐक्य का अनेक स्थलों पर ऐसा अन्धानुकरण है कि पात्र तो एक जगह खड़े रहते हैं परन्तु मार्ग, घर, खिड़कियाँ चलते हुए बतलाए जाते हैं। इस प्रबन्ध में उसने न केवल फ्रेंच नाटक के लकीर-के-फकीर होने का उपहास

किया है, वरन् उसमें पायी जाने वाली उस प्रवृत्ति का भी, जिससे कथोपकथन में बनावटीपन आ जाता है। फ्रेंच नाटक में ऐसे जोशीले भाषणों का बाहुल्य रहता था जो नाटक की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए घातक होता था। ड्रायडन ने इस फ्रेंच प्रभाव का पूरी शक्ति से विरोध किया।

ड्रायडन ने नाटकों में तुकान्त कविता के प्रयोग पर भी बल प्रदान किया, जिसने कालान्तर में अपना तीव्र प्रभाव डाला। अब तक नाटक "ब्लैंक वर्स" (Blank Verse) में लिखा जाता था जिसमें तुक नहीं होती थी। इसी 'ब्लैंक वर्स' में शेक्सपीयर ने भी अपने नाटक लिखे। ड्रायडन ने इस मत का प्रतिपादन किया कि जब नाटक में मानव स्वभाव का सत्याभास दिखलाया जाता है, तब उसमें वह सब करना चाहिए जिससे इस सत्याभास को अधिक से अधिक रोचक और गहरे ढग से प्रस्तुत किया जा सके। तुकान्त काव्य में ही कथोपकथन हों। यद्यपि नाटक इससे वास्तविकता से तो दूर हटेंगे, परन्तु मानव-हृदय का विविध द्वन्द्व प्रदर्शित करने के लिए तुकान्त कविता में कथोपकथन सफल रहेंगे। यह उक्ति स्वाभाविक तो लगती है परन्तु ड्रायडन की मूल व्याख्या (सत्याभास) पर दृष्टि डाली जाय तो इसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट हो जायगा। नाटक में वास्तविक जीवन का वैसा ही चित्रण नहीं होता जैसा किसी दर्पण में मानव चेष्टाओं का। इसमें सत्याभास ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मानव के स्वभाव का वह सार अपने भ्रामक परिवेश में प्रदर्शित किया जाता है जो दर्शक के मन में एक स्थायी आह्लाद की सृष्टि कर सकता है। सत्याभास के लिए जिन-जिन उपकरणों की आवश्यकता है उनका समावेश नाटक में होना चाहिए। तुकान्त कविता में पात्र अपनी भावनाओं को द्रुत गति से इस लय के साथ प्रस्तुत कर सकता है कि मानव स्वभाव के उस पक्ष का सत्याभास, जो नाटककार प्रस्तुत करना चाहता है बड़ी कुशलता से हो जाता है। वास्तविक जीवन में हम छन्दों और तुकान्त कविताओं में बोलते नहीं हैं परन्तु नाटक वास्तविक जीवन से ऊँचा उठकर उस विहंगम दृष्टि की छवि को प्रस्तुत करता है, जो जीवन उस पर आँक जाता है। जैसे अरस्तू ने कहा था—

> "काव्य अथवा नाटक दर्शन (Philosophy) की श्रेणी का है। उसमें अमुक-अमुक की वास्तविकता विद्यमान नहीं रहती है। इस सार्वभौमिकता को ही सत्याभास की झिलमिल, परन्तु अनुभूति से ओतप्रोत, प्रतिमा प्रदर्शित कर सकती है।"

आगे की सदियों में, विशेषकर बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में, जिस काव्यमय नाटक (Poetic Drama) का जन्म हुआ। उसमें ड्रायडन की उपरोक्त उक्ति

सार्थक मानी जा सकती है क्योंकि कथोपकथन में वास्तविकता का लक्ष्य नहीं है वरन् केवल सत्याभास का; और उसे अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए छन्द-बद्ध, लयबद्ध और कभी-कभी तुकान्त कविता प्रयोग में आती है ।

नव-रीतिवादी होने के कारण बेन जान्सन ने ऐक्यत्रयी का समर्थन किया, और जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसके अन्धानुकरण के विरुद्ध लेखकों को सचेत भी किया । अपनी सत्याभास की विचारणा में उसने नाट्य समीक्षा को और आगे बढ़ाया । नाटक में तुकान्त कथोपकथन के महत्व को उसने सत्याभास के साथ जोड़कर, एक उपादेयता प्रदान की । अंग्रेजी साहित्य के देशी तत्वों को विदेशी अनुकरण और प्राचीनता का अन्ध अनुयायी बनने से बचाया । फिर भी उसने सिद्धान्तवादी और केवल प्रेरणोन्मुखी साहित्य का अनुकरण नहीं किया । इस तरह नव-रीतिवाद की मान्यताओं को देशी ढाँचे में ढालते हुए ड्रायडन ने उस मौलिकता का परिचय दिया जिससे देशी साहित्य की आत्मा अपने कर्त्तव्यों के प्रति और अधिक सचेत हो सकती है ।

इस सन्दर्भ में ड्रायडन के उस तर्क का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है जिसके अन्तर्गत उसने तुकान्त कविता को नाटक में स्थान देने का आग्रह किया । उसने कहा कि तुकान्त कविता अगर कथोपकथन में हो तो और कुछ परिणाम भले ही न हो, एक लाभ तो सुनिश्चित है और वह है दर्शकों के हृदय को प्रभावित करना । मानव स्वभाव के इन रागों और द्वन्द्वों का मुख्य रूप से अभिव्यंजित होना ऐसी तुकान्त कविता के माध्यम से ही अधिक सम्भव हो सकता है । यदि, जैसा कि सर्वमान्य है, कवि का कार्य जीवन का अनुसरण करना है और उस अनुसरण के द्वारा मानव हृदय को आह्लादित करना है, तब कथोपकथन में सब अलंकार प्रयुक्त हों जिनसे इस लक्ष्य की प्राप्ति हो सके । इस अनुकरण में यदि तुकान्त कविता सहायक होती है तो यह एक उपलब्धि ही सिद्ध होगी ।

एक उदाहरण देते हुए ड्रायडन ने अपने तर्क की और पुष्टि की । उन्होंने कहा कि एक सफल चित्रकार जिस प्रकार अपना चित्र बनाता है वैसे ही नाटककार अपने कथोपकथन में भाव-विचारों का सम्मिश्रण करे । चित्रकार किसी चित्र में कोई बहुत ही निकटता का सादृश्य नहीं ढूँढता । जैसे, यदि वह किसी व्यक्ति का चित्र बनाता है तो उसके प्रत्येक शारीरिक अवयव अथवा रेखाओं, रोम कूपों या उन शारीरिक तत्वों का निकटता से सादृश्य प्रस्तुत नहीं करेगा । अपने चित्रण में उसकी सम्पूर्णता और मर्म की अभिव्यंजना करना ही उसका लक्ष्य होगा । इस प्रकार, नाटककार भी जीवन के सत्याभास को प्रस्तुत करते समय उन उपकरणों

की सहायता लेगा जिससे सत्याभास अपनी सम्पूर्णता के साथ सबको प्रभावित करे ।

नाटक के कथोपकथन में ऐक्य-त्रयी का विरोध करते हुए ड्रायडन ने कहा कि यह गम्भीर नाटकों के लिए उपयुक्त नहीं है । इस तरह गद्य की आवश्यकता को कथोपकथन में निरस्त करते हुए ड्रायडन ने ब्लैंक वर्स (Blank Verse) की उपादेयता पर विचार किया । उसके अनुसार "ब्लैंक वर्स" गद्य के ही समकक्ष है; अतः सत्याभास को वह उस सम्पूर्णता से व्यक्त नहीं कर सकता जिस तरह तुकान्त कविता ।

ड्रायडन का निष्कर्ष यह है कि प्राचीन काल के ग्रीक नाटकों में कविता प्रयुक्त हुई है, चाहे कोरस (Chorus) हो अथवा पात्रों का कविता में कथोपकथन । इसमें प्राचीन नाटककारों ने बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की है; अतः प्राचीन नाटक साहित्य का इस पक्ष में अनुकरण करना उचित प्रतीत होता है ।

ड्रायडन के इस तर्क का महत्व इसमें है कि नाटक यथार्थ को अपना लक्ष्य समझकर कथोपकथन को गद्य में लिखते हुए वास्तविक बनाते हैं । वह 'सत्याभास' के लक्ष्य से दूर हो जाते हैं । वास्तविकता और सत्याभास परस्पर विरोधी हैं, जिस नाटक में सत्याभास का जीवन्त चित्रण होता है वही अपने लक्ष्य अर्थात् आह्लाद देने और उपदेश देने में सफल होता है ।

बेन जान्सन और ड्रायडन इस प्रकार नव-रीतिवाद (Neo-Classicism) के प्रमुख स्तम्भ थे । उनके प्रयत्नों से होरेस के समय आगस्तीन युग की प्रतिभा अथवा रीतिबद्ध नियमावली अपने परिष्कृत रूप में फिर जागरूक हुई । नव-रीतिवाद कुछ ऐसी ही नवीन मान्यताओं को लेकर अपने प्रभावपूर्ण क्षेत्र में काफी दिनों तक क्रियाशील रहा । जहाँ एक ओर पुनर्जागरण (Renaissance) की प्रतिभासम्पन्न वैयक्तिक तथा स्फुरणायुक्त चेतना एक अलग ही सम्प्रदाय को स्थापित कर रही थी, तब दूसरी ओर नव-रीतिवादी अपने समूचे अनुशासनबद्ध प्रयत्नों के द्वारा अर्वाचीन साहित्य को एक सुगठित और सुदृढ़ स्वरूप देने का प्रयत्न कर रहा था ।

## बुद्धि-विलास तथा सम्यक्वाद–एलेक्सांडर पोप (सन् १६८८-१७४४)

ड्रायडन के बाद एलेक्सांडर पोप व्यंग्यकाव्य के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं । इन्होंने ऐसी व्यंग्य कविताएँ लिखीं जो बहुत चुभती हुई और कहीं-कहीं वैयक्तिक वैमनस्य से पूर्ण हैं । परन्तु उनके व्यंग्य-काव्य में जिस तत्व की प्रधानता है वह है बुद्धि-विलास की विजय ।

एलेक्सांडर पोप अठारहवीं सदी के अंग्रेजी-समाज के ऐसे प्रतिनिधि कवि थे जिन्होंने शहरी संस्कृति तथा रुचि पर आधारित परिवेश की लक्षणाओं को अपने "हीरोइक कपलेट" (Heroic Couplet) में बाँधने का सफल प्रयत्न किया। व्यंग्य बुद्धि-विलास के ऊपर बहुत कुछ निर्भर रहता है। अतः यह निश्चय करना है कि बुद्धि-विलास किस प्रकार काव्य में प्रयुक्त हुआ, और समीक्षा के मानदण्ड में उसका स्थान क्या है।

बुद्धि-विलास कल्पना का विरोधी शब्द है। कल्पना स्वयं प्रेरित शक्ति है जो एक भ्रामक सत्याभास उत्पन्न करती है और जिसमें वास्तविक जीवन की बौद्धिक मान्यतायें नियमों के रूप में रहती हैं। कल्पना में भाव विचार के ऊपर हावी होता है तथा उसकी अभिव्यंजना की सीमा नहीं होती। कल्पना जिस साहित्य में केन्द्रीभूत शक्ति है वह साहित्य वैचित्र्य पूर्ण अर्थात् रोमांटिक होने की ओर तत्पर दिखता है।

बुद्धि-विलास (Wit) उस बौद्धिक क्रियाशीलता का नाम है जो भिन्नताओं, मतभेदों और विरोधाभासों का अवलोकन करते हुए उनको भेद देती है। इससे जो अन्तर दिखाई पड़ता है वह अपने क्षेत्र में प्रविष्ट होकर दूसरे क्षेत्र के अन्तर से विरोध का रूप ले लेता है। बुद्धि-विलास, विचार के माध्यम से उस विजयोल्लास में डूबा होता है जो बौद्धिक अन्तर तथा विरोधाभासों को स्पष्ट कर उनके उपहासा-स्पद तत्वों को प्रकाश में लाता है। एलेक्सांडर पोप ने बुद्धि-विलास को अपना प्रधान अस्त्र बनाकर ऐसे व्यंग्य काव्य की रचना की जिसका न केवल तत्कालीन कविता, वरन् समीक्षा पर भी गहरा असर हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि बुद्धि-विलास का प्रथम बार एलेक्सांडर पोप के द्वारा कविता में उपयोग हुआ। सत्रहवीं सदी में जान डन तथा उनके सम्प्रदाय के कवियों ने ऐसे माध्यम अपनाए जिसमें बुद्धि-विलास और उससे उत्पन्न चातुर्य भी एक तत्व था। यह सम्प्रदाय "Metaphysical School of Poetry" अर्थात् दार्शनिक काव्य-सम्प्रदाय कहलाता है। इसमें विचार और भाव इस प्रकार सम्मिलित होते हैं कि वे एक स्वतंत्र अस्तित्व के पूर्ण तत्व बन जाते हैं। इस प्रकार की कविता में विचित्र उपमायें होती हैं। उपमान और उपमेय दूर के विरोधी दीख पड़ने वाले क्षेत्रों से लेकर प्रयुक्त किए जाते हैं। इस प्रयोग में बुद्धि-विलास अवश्य होता है, परन्तु अठारहवीं सदी में जिस बुद्धि-विलास (Wit) का उपयोग कविता में हुआ वह ऐसी बौद्धिक शक्ति है जो उपमेय और उपमान के चक्कर में नहीं पड़ती, वरन् उसका लक्ष्य यही होता है कि विरोधाभासों को पृथक् करके बौद्धिक चातुर्य से ऐसा बतलाया जाय कि उनके अन्तर पर व्यंग करने की इच्छा हो।

बुद्धि-विलास के साथ ही साथ दूसरी प्रमुख काव्य लक्षणा जो उस समय पोप ने प्रचलित की वह थी सम्यक्वाद (Correctness) ! पोप के संरक्षक वाल्श ने उन्हें "सम्यक् मानदण्ड" के उपयोग की सलाह दी। सम्यक् मानदण्ड उस समय के समाज में सम व्यवहारों, सम लक्षणाओं तथा सम चेतना के आदर्श का पालन करता है। इसमें नियमों का पालन तो होता ही है परन्तु यह भी ध्यान रखा जाता है कि प्रकृति में पाई जाने वाली व्यवस्था, रचनाओं में भी हो; मर्यादा का अतिक्रमण न हो, भावनाओं का अतिरेक न हो। इस विचारणा का भी एक दर्शन था, और वह था पोप का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण।

प्रकृति साधारण रूप से वृक्ष, फल-फूल, सरिता, समुद्र, नक्षत्र, ग्रह आदि समझे जाते हैं, परन्तु यह प्रकृति जब अठारहवीं सदी के कवि पोप की विचार प्रणाली में स्थान पाती है तो उसका दार्शनिक रूप सामने आता है। पोप की दृष्टि में प्रकृति का वह रूप नहीं है जो आगे चलकर उन्नीसवीं सदी के कवि वर्ड्सवर्थ आदि में था।

पोप ने प्रकृति को तीन दृष्टिकोणों से देखा—प्रथम वह आदर्शवादी सार्वभौमिक व्यवस्था है जिसमें हर वस्तु नियम के अनुसार, कार्य-कारण के अनुसार तथा उचित शृंखला से चलती है। दूसरा, प्रकृति का यह व्यवस्थापूर्ण क्रम मानव अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है। तीसरा, प्रकृति का सादृश्य उस समय होता है जब लेखक प्राचीन आदर्श साहित्यकारों को अपने सम्मुख रखता है क्योंकि उनकी रचनाओं आदि से उनमें पाई जाने वाली व्यवस्था और क्रम, जो प्रकृति के ही लक्षण हैं, सम्मुख आते हैं।

इस प्रकार लेखक प्रकृति की आत्मा प्राचीन आदर्श साहित्यकारों की उपस्थिति में अनुभव करने लगता है।

प्रकृति के इन तीन विविध स्वरूपों में एलेक्सांडर पोप ने अपने काव्य और समीक्षा की अभिव्यंजना का सफल प्रयत्न किया। प्रकृति के उपर्युक्त पारिभाषिक संकेतों में जिस विचार का आभास मिलता है उसके कुछ उदाहरण एलेक्सांडर पोप की कविताओं से नीचे दिए जाते हैं। पोप ने कहा—

(१) "प्रकृति और होमर एक ही थे ऐसा पाया गया।" इस पद का अर्थ यह है कि प्राचीन कवि में वही व्यवस्था और क्रम है जो प्रकृति में है।

(२) "प्रथम प्रकृति का अनुसरण करो और तब अपना निर्णय दो।"

(३) "ऐसे निर्णय, जो उसके मानदण्ड के अनुसार हो।"

(४) "कभी न भ्रान्त करने वाली प्रकृति सदा ही दैवी आभा से युक्त होती है।"

(५) "वह स्पष्ट, परिवर्तनशील तथा सार्वभौमिक प्रकाश है।"

आगे एक और उद्धरण पोप की कविता से दिया जाता है जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि बुद्धि-विलास का प्रकृति से क्या सम्बन्ध है।

> "सच्चा बुद्धि-विलास प्रकृति का वह स्वरूप है जो उपयुक्त रूप से सुसज्जित है। वह ऐसा विचार है जो मस्तिष्क में तो आया परन्तु इतना उपयुक्त रूप से कभी वर्णित नहीं हुआ।"

यहाँ बुद्धि-विलास उस सम्यक् सिद्धांत को लेकर चलता है जिससे प्रकृति में पाए जाने वाले क्रम, श्रृंखला तथा व्यवस्था, विचार में भी प्रवेश करते हैं जिनके कारण कवि का बुद्धि-विलास जाग्रत हो उठता है और वह अन्तरों तथा भिन्नताओं को एक दूसरे के निकट लाकर हास का तत्व पैदा करता है।

सम्यक्वाद (Correctness) इस तरह काव्य का प्राचीन लक्षण हो गया जिससे अठारहवीं सदी के समीक्षक इसे ही एक अद्वितीय मानदण्ड समझने लगे। उसके लम्बे प्रबन्ध काव्य "समीक्षा पर प्रबन्ध" (An Essay on Criticism) में कविताओं की वह श्रृंखला है जिसमें समीक्षात्मक विचार और बुद्धि-विलास के माध्यम से ऐसी कविता का सृजन हुआ है जो वास्तव में प्रबन्ध नहीं है। इस लम्बी कविता में बुद्धि-विलास खुलकर खेलता है और समीक्षा के सिद्धान्त लयबद्ध होकर इस तरह उपस्थित किए जाते हैं कि हमारी बौद्धिक शक्ति इसकी ओर आकृष्ट होती है। शैली के विषय में पोप ने करीब-करीब वही मत प्रकट किया जो होरेस ने अपने समय में किया था। प्राचीनता का अनुकरण इसलिए करना चाहिए कि नवीन हमेशा ही हीन होता है, एक गलत धारणा है। शब्दों का इस तरह नवीनीकरण किया जाय जिससे उनमें जीवन बना रहे। पुराने शब्दों के नवीनीकरण से ऐसी सार्थकता सिद्ध होती है जिसके कारण कवि प्राचीन शब्दों के जाल में फँसने से बच जाता है और विविध प्रकार के शब्द प्रयुक्त करने में उसकी रुचि होती है।

## डा. जानसन की समीक्षा (सन् १७०९-१७८४)

अठारहवीं सदी में डॉ० एस० जानसन ऐसे समीक्षक हुए जिनका प्रभुत्व तत्कालीन समीक्षा-क्षेत्र में सर्वोपरि था। डॉ० जानसन की विशेषता यह थी कि

नाटक अथवा अन्य साहित्यिक विचारणाओं पर उनका मत इस प्रकार व्यक्त होता था मानों कोई न्यायाधीश अपना निर्णय दे रहा हो। वह एक बहुत प्रतिभावान, गहन विचारक तथा कवि भी थे। जिन समीक्षात्मक प्रबन्धों का उन्होंने श्री गणेश किया, वे एक भिन्न ही कोटि के थे। उन्होंने कवियों की जीवनी लिखना आरम्भ किया जिसमें उनके समीक्षा सम्बन्धी निर्णयात्मक विचार बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत हुए हैं। इस प्रकार उनके समय से जीवनी (Literary Biography) लिखना प्रारम्भ हो गया। साहित्यिक जीवनियों का सिलसिला और भी आगे बढ़ा, जब उनके निकटतम सहयोगी बॉसवेल ने उनकी ही जीवनी लिख डाली। साहित्यिक जीवनियों की समीक्षा को एक और देन है। इसमें व्यक्ति की इकाई भी रह जाती है और नियमों की वह सार्वभौमिकता भी जिसके प्रकाश में उस इकाई को देखा और आँका जाता है।

डॉ० जानसन हृदय से कभी नव-रीतिवाद के समर्थक नहीं थे। उनकी समीक्षा का प्रधान लक्ष्य यह था कि आलोचक आलोचनाओं को सिद्धान्तों से ऊपर उठाकर ऐसी पारदर्शी दृष्टि से देखे जिसमें प्रकृति के नियमों के अनुसार उसके विचार और भाव सुनाई देते हों। समीक्षाकार, प्रकृति को अन्तिम निर्णायक मानता है, उसके नियमों को, व्यवस्था और क्रम को भी। परन्तु उनसे भी अधिक शक्ति, साधारण-बुद्धि (Common Sense) होती है। नियमों का पालन और प्रकृति के अनुरूप व्यवस्था का पालन इन दोनों में यदि द्वन्द्व हुआ, तो वह आलोचकों से कहते हैं कि प्रकृति का ही निर्णय, अन्तिम निर्णय है। डॉ० जानसन प्राचीन नाट्य समीक्षा की ऐक्यत्रयी में विश्वास नहीं करते थे। विशेषकर वे इस बात से सहमत नहीं थे कि दुखान्त नाटक में स्थान और काल की एकता इस दृढ़ता से पालन की जाय कि वास्तविकता बिल्कुल नष्ट हो जाय। विशेषकर वह काल ऐक्य (Unity of Time) के घोर विरोधी थे। उनके कथन के अनुसार नाटक के कथानक में जिस विविधता और वैचित्र्य का होना आवश्यक है वह काल की एकता के बन्धन में जकड़ी जाकर प्राप्त नहीं हो सकती है। काल और स्थान इन दोनों का बन्धन यदि कथानक को गहनता देता है तब तो वह सार्थक है, परन्तु यदि वे विविध रंग और नाट्यचातुर्य के लिए व्यवधान स्वरूप हैं तो उनका पालन नहीं होना चाहिए। इस प्रसंग में उन्होंने महान नाटककार शेक्सपीयर की प्रशंसा की; क्योंकि उसने प्रकृति को अपनी कला के आईने में पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित किया। शेक्सपीयर प्राचीन नियमों से बँधा नहीं था। डॉ० जानसन भी इन नियमों की उपादेयता किसी पूर्ण सत्य के रूप में नहीं मानते थे और इसका समुचित कारण उन्होंने शेक्सपीयर की विविधता और विलक्षणता में ढूँढा।

डॉ० जानसन दुखमय सुखान्त नाटक के (Tragi-Comedy) पक्ष में थे। यद्यपि प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार दुखान्त नाटक में सुखान्त नाटक का समावेश वर्जित है। इस प्रकार के दुखमय सुखान्त नाटक के विषय पर उनके विचारों के उद्धरण देना आवश्यक प्रतीत होता है—

"क्या यह सत्य नहीं है कि एक ही नाटक में दुखमय और सुखमय भावनाओं को इस तरह प्रदर्शित किया जाता है कि वह अपने पूरे वेग से एक अन्तर के साथ दर्शकों को समान रूप से प्रभावित करती हों; अथवा क्या यह सत्य नहीं है कि नाटकों ने आँखों में आँसू पैदा कर दिए और हृदय में धड़कन ? उनमें ऐसी विविधता थी कि शोकमयी भावनाओं के साथ हास्य का भी पुट होता था।"

"हृदय का गतिशील परिवर्तन, जिसमें हास्य और गाम्भीर्य एक अन्तर से विद्यमान रहते हैं, इस बात का द्योतक है कि लेखक में अपनी बड़ी शक्ति है। शेक्सपीयर ने सफल दुःख-सुखान्त (Tragi-Comedy) नाटक लिखे हैं, हमें यह चाहिए कि उस विलक्षण प्रतिभा को प्रणाम करें जो भावनाओं को इस तरह खेल-खेल में प्रदर्शित कर देती है कि हास्य, कौतुक और दुःख एक विशेष अन्तर से हमें प्रभावित करें।"

"ऐसे नियम भी हैं जिनका पालन करना उचित है। यह आवश्यक है कि प्रत्येक नाटक में प्रधान कार्य-कलाप (Action) लौकिक हों, क्योंकि जब कोई नाटक उस कार्यकलाप का चित्रण करता है, जो अपने चरम लक्ष्य पर पहुँचेगा, तब दो प्रकार के समानान्तर कार्यकलाप आवश्यक नहीं हैं।"

"दुखान्त नाटक का लक्ष्य है शिक्षा देना; और यह भावनाओं को प्रेरित करके दी जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि नाटक में एक नायक हो जो अन्य पात्रों से श्रेष्ठ हो और जिस पर ध्यान केन्द्रित किया जा सके और जिसके लिए चिन्ता की जा सके। यदि दो नायक हुए जिनमें से एक खलनायक के विरुद्ध युद्ध-रत है, तब उनके गुणों अथवा खतरों से कोई भाव पैदा नहीं होगा; क्योंकि दोनों नायक समान रूप से हमारे ध्यान पर दबाव डालेंगे।"

"लेखक का यह प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह प्रकृति और केवल परम्परा में अन्तर कर सके। उसे इस बात को भी जानने का विवेक होना

चाहिए कि कोई वस्तु इसलिए प्रतिपादित हुई है क्योंकि वह सम्यक् है। लेखक को केवल नवीनता के लिए सारभूत सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए और न ही उसे ऐसे नियमों में बँधना चाहिए जिससे सौन्दर्य की विविधता उसकी दृष्टि से ओझल हो जाए।"

सैमुअल जान्सन जिस 'सहजबुद्धि' (Common Sense) को समीक्षा के मानदण्ड का महत्वपूर्ण अंश समझते थे, वह एक गहरी अनुभूति थी। यह अनु-भूति समाज की तत्कालीन परम्परायें, सर्वमान्य धारणायें और मूल्यों की समकालीन मान्यताओं से उत्पन्न होती थी। 'सहजबुद्धि' इस गहराई की थी कि यदि उस समय के समाज में या शासन में ही जब तक आमूल परिवर्तन न हो जाए उस पर कोई आँच नहीं आ सकती थी। वह व्यक्ति की अर्जित अनुभूति नहीं थी। वह उस समाज की चेतना की ऐसी सतह थी जो उथली अवश्य दिखती थी, पर उसमें गम्भीर मान्यताओं का समावेश था।

पोप की चर्चा करते समय हमने अन्यत्र यह देखा है कि वह एक ऐसे युग का कवि था जिसमें 'सम्यक्ता' (Correctness) का ही आदर्श सर्वोपरि था। यह 'सम्यक्ता' उस सौम्य और निर्मल शैली की जननी हुई जिसमें किसी प्रकार का अतिरंजन नहीं था। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर था और प्रत्येक भाव बुद्धि के अनुशासन में। ड्रायडन एक प्रतिभावान कवि अवश्य था पर उसकी रचनाओं में व्यर्थ का आडम्बर तथा शब्द-बाहुल्य का दोष था। उसकी शैली पोप की तरह सुघड़, स्वच्छ और सुडौल नहीं थी।

सम्यक्ता के मानदण्ड के आधार पर ही जान्सन की समीक्षा में पोप, ड्रायडन से श्रेष्ठतर सिद्ध होता है। 'सम्यक्ता', एक प्रकार से, 'सहजबुद्धि' (Common Sense) की एक विभिन्न अभिव्यंजना है। उस काल का समाज, जो मुख्यतः शहरी समाज था, बाह्य तथा आन्तरिक कारणों से एक स्थिरता और सन्तुलन लिए हुए था। सामाजिक चेतना की समष्टि अपने सहज ज्ञान में मुखरित हुई। साहित्य समाज की मान्यताओं से प्रभावित होकर एक ही मार्ग पर अग्रसर था, और वह मार्ग था कि किस तरह परिष्कृत व्यवहार, शिष्टता और रीति का उदय हो। यह लक्ष्य इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि सामाजिक और साहित्यिक आन्दोलन एकोन्मुख होकर, केवल जिस साहित्यिक-स्वरूप (Literary Form) की साधना में बढ़ रहा था, वह यथार्थ में शिव-रूप (Good Form) है। कला केवल कला के लिए अथवा उपदेशों के लिए नहीं, वरन् सामाजिक सहजबुद्धि के अनुमान से ऐसे स्थिर स्वरूपों की खोज है, जिनमें युग का सन्तुलन है। उपयुक्त

शब्द, उपयुक्त पद, शैली के आवश्यक अंग बनें जिससे भाव विचार के अंकुश में रह सके।

शिव-रूप (Good Form) का लक्ष्य एक ऐसा प्रसाद सिद्ध हुआ जिससे दार्शनिक चेतना भी जागी। साहित्यकार यह अनुभव करने लगे कि शिव-रूप की आराधना, वास्तव में प्रकृति की उस व्यवस्था और रीति की आराधना है, जो आदर्श शैली के निर्माण में आवश्यक है। निष्कर्ष यह निकला कि जो बुद्धि-पूर्वक सोच सकता है वही नैतिक रूप से सोच सकने में समर्थ है।

सैमुअल जान्सन की समीक्षात्मक विचारधारा इस प्रकार दर्शन, नैतिकता और सहजबुद्धि के पुष्ट सम्बल पर आधारित है, और ये तीनों ही परस्पर सम्बद्ध विचारणायें हैं। साथ ही, हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सैमुअल जान्सन समीक्षक को स्वस्थ रूप से व्यक्तिवादी बनाना चाहते हैं, जिससे वह सहजबुद्धि के अस्त्र से सुसज्जित होकर साहित्यिक मूल्यों के तल तक पहुँच जाए। यह व्यक्तिवाद समीक्षक की वह विशिष्ट प्रतिभा है जो अपने तीव्र प्रवाह से स्वयं के लिए पथ बना लेती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि समीक्षक अपने वैयक्तिक ओज से परम्पराओं को ही ओझल कर दे। उसकी व्यक्तिवादी अभिव्यंजना ऐसी हो कि उस पर सामाजिक अनुशासन की छाप हो। इस कार्य में व्यक्तिवाद के लिए परम्परा का साहचर्य आवश्यक है, नहीं तो व्यक्तिवाद समीक्षक एक उच्छृंखल पारखी हो जाएगा।

परिच्छेद–७

# स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग की मूल प्रेरणायें और समीक्षा

स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग पश्चिम के साहित्य में एक तूफान की तरह उदित हुआ। कहा जाता है कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति, जो १७७९ में हुई थी, के बाद समूचे यूरोप में न केवल राजनीतिक उथल-पुथल प्रारम्भ होने लगी, वरन् विचारों और भावनाओं में भी एक क्रान्ति के दर्शन होने लगे। राजनीतिक विचारों के लोग ऐसे भविष्य की कल्पना करने लगे जिसमें समस्त मानवता एक नवीन आवरण में बाँधी जा सकती हो। यह क्रान्ति के द्वारा सम्भव होगा, यह एक आदर्शवादी और कल्पनात्मक राजनीतिक विचार था जिसकी जड़ें फ्रांस की राज्य क्रान्ति में थीं। इसके साथ ही एक दूसरी क्रान्ति अंग्रेजी साहित्य में हुई जो एक कवि ने की। यह क्रान्ति राजनीतिक, या सामाजिक नहीं थी; वरन् साहित्य के क्षेत्र की थी।

सैमुअल जान्सन, पोप, ड्रायडन आदि कवियों और समीक्षकों के विषय में जब हम विवेचन कर रहे थे, तब हमने देखा कि वे प्रकृति की व्यवस्था और उसकी रीति पर बल इसलिए देते थे क्योंकि वे उनके समकक्ष अनुभव अपने साहित्य और जीवन में लाना चाहते थे। इस प्रकार प्रकृति की जो मान्यता उस समय प्रचलित थी, वह बाह्य जगत की प्रकृति थी, जिसमें कार्य-कारण के अनुसार व्यापार होता था। सैमुअल जान्सन ने जिस सहजबुद्धि और सहज ज्ञान को आधार मानकर समीक्षा का भवन निर्मित किया था, वह सूझबूझ और पैनी दृष्टि तो थी; परन्तु उसमें वह अन्तर-भेदी दार्शनिक दृष्टि नहीं थी जिसे उन्नीसवीं सदी के कवियों और कवि दार्शनिकों ने अपनाया था। सैमुअल जान्सन की उस उक्ति का, कि समीक्षा का मानदण्ड सामान्य मत (General Opinion) पर आधारित है, उन्नीसवीं सदी में रहस्यवादी कवि ब्लेक ने खण्डन किया और उसका उपहास करते हुए उसके विषय में लिखा—

"विचारों का सामान्यीकरण किसी अहमक़ का ही काम हो सकता है। व्यक्तिगत रूप से उत्पन्न की हुई विचारणा ही श्रेष्ठ है। सामान्य ज्ञान क्या है? क्या ऐसी कोई वस्तु है? आखिर सामान्य प्रकृति भी क्या है? क्या उसका कोई अस्तित्व है? सच पूछा जाय तो सम्पूर्ण ज्ञान व्यक्ति-विषयक है।"

## विलियम वर्ड्सवर्थ (सन् १७७०-१८५५)

ऊपर जिस साहित्यिक क्रान्ति का उल्लेख किया जा चुका है वह स्वच्छन्दतावादी-युग के सबसे महान कवि विलियम वर्डस्वर्थ ने अपनी कविताओं के प्रथम संकलन की प्रस्तावना के माध्यम से आरम्भ की। यह प्रस्तावना सन् १७९८ में प्रकाशित हुई थी और इसमें विलियम वर्डस्वर्थ ने यह कहा था कि अब शैली में ऐसे शब्दों का चयन होगा जो दैनिक जीवन की भाषा में प्रयुक्त होते हैं। ये शब्द उन व्यक्तियों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं जो अपना जीवन बहुत सादगी और गरीबी में बिताते हैं। ऐसे लोग, जिनमें मछुए, जुलाहे, किसान आदि सम्मिलित हैं, एक छोटे वर्ग के अन्दर रहते हैं, और वहीं उनका मानसिक तथा भावनात्मक व्यापार चलता है। इन लोगों में कोई सामाजिक दर्प नहीं होता है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द दैनिक जीवन का ठोसपन लिए हुए होते हैं, जिनमें व्यंजना का रईसी ठाट भले ही न हो परन्तु चुभती हुई शालीनता, जो विनम्र जीवन से आती है, उनके शब्दों में होती है। इस नैकट्य का संस्पर्श लिये ये शब्द ऐसे होते हैं जो सम्यक्वाद अथवा सहजबुद्धि द्वारा निर्मित शैली से भिन्न होते हैं। इनमें होरेस की वह परिकल्पना नहीं होती जिसके अनुसार प्राचीन शब्द और नए शब्द किसी ऐश्वर्य के सम्बन्ध में युक्त होकर पदों को दीप्त करते हैं। अलंकार शक्ति के ओज से प्रदत्त अलंकार इनमें नहीं होते, परन्तु निम्न वर्ग के इन प्राणियों की बोलियों में ऐसे शब्द होते हैं जिनमें हृदय का स्पन्दन होता है और उनके माध्यम से जगत की वस्तु तथा विचार के अनुभव का रहस्य भली-भाँति पकड़ में आ सकता है; क्योंकि कविता की प्रधान शक्ति बुद्धि-विलास, बाह्य जगत की नैसर्गिक व्यवस्था का अनुकरण, और बुद्धि का वह खेल जिसके अनुसार विचारों का साम्राज्य भावनाओं को जकड़े रहता है, नहीं है।

स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग के तीन महान कवि थे—विलियम वर्ड्सवर्थ, विलियम ब्लेक और कोलरिज; जिन्होंने इस युग का प्रवर्त्तन किया, और इसे एक विशिष्ट छाप दी। विलियम ब्लेक के काव्य सम्बन्धी विचार बहुत कुछ रहस्यवादी हैं और शैली की परिभाषा जो स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग में हुई उस पर उनका प्रभाव तो रहा, परन्तु निर्णयात्मक नहीं। जैसा कि

सर्वविदित है उन्नीसवीं सदी की कविता कल्पना-केन्द्रित है। 'कल्पना' शब्द का प्रयोग भी अब तक होता आया था परन्तु अठारहवीं सदी की नव-रीतिवादी कविता में कल्पना को कोई स्थान नहीं था। 'कल्पना' शब्द से समीक्षक और कवि कतराते थे। उनकी दृष्टि में कविता करना एक बौद्धिक कौशल था, जिसमें भावना और विचार केवल बाह्य सत्य पर आधारित होते थे। स्थूल जगत और उसकी वस्तुएँ, तथा कोई विचार-प्रणाली काव्य में अपना स्थान एक सन्तुलन करने वाली शक्ति के रूप में लेती थीं। यदि 'कल्पना' का सहारा कवि ने उन रीतिवादी युगों में लिया होता, तो उस समय का काव्य ऐसे सत्य की ओर उन्मुख रहता जो स्थूल जगत के सत्य से भिन्न है, और परे है।

प्रकृति के विषय में जो एक प्रशंसात्मक रवैया समीक्षकों का होता था वह अठारहवीं सदी के अन्त तक इस कारण था कि उनके मानदण्ड में प्रकृति की व्यवस्था, क्रम, शृंखलाबद्धता आदि गुणों का भी समावेश हो सके और उसके अनुसार ही साहित्य की अभिरुचियों का निर्माण हो सके। परन्तु, इन दो महान कवियों (कोलरिज और विलियम वर्ड्सवर्थ) में से कोलरिज ने अपने सुन्दर और महत्वपूर्ण प्रबन्ध 'कला' में प्रकृति को कला से सम्बद्ध बताते हुए उसे एक नीचे दरजे का तत्व माना। यह प्रबन्ध पहली बार अंग्रेजी साहित्य में एक सौन्दर्य-शास्त्र का निर्माण करता है, जिसे उसका सबसे प्रमुख ग्रन्थ तो नहीं माना जा सकता; परन्तु फिर भी, उन्नीसवीं सदी की समीक्षा की पृष्ठभूमि उससे अवश्य ही निर्मित होती है। इस प्रबन्ध में कोलरिज ने कहा—

> "यदि कलाकार केवल ऐसे रूप के आधार पर रचना करता है जो सौन्दर्य की परिभाषा के अनुसार है तब उसकी रचना में कितना खोखलापन और कितनी वास्तविकता होगी ?"

इस तरह कोलरिज ने इस बात की ओर संकेत किया कि सच्चे कलाकार को उस सार तत्व की खोज करना चाहिए जो प्रकृति और मानव-आत्मा को एक कड़ी में बाँधता है। उसने मानव बुद्धि से परे दार्शनिक तत्व को सौन्दर्य-शास्त्र में स्थान दिया और उस सार तत्व की ओर कलाकार को उन्मुख किया जो उसकी रचना और प्रकृति के बीच एक ऐसा सेतु हो सकता है तथा जो मानव की आत्मा को एक सादृश्य में दिखा सकता है। प्रकृति का अठारहवीं सदी के विचारकों में जो आग्रह था वह उसकी व्यवस्था और रीति का था। यहाँ कला में एक ऐसी दूसरी विचारणा की कल्पना है जो मानव-आत्मा और प्रकृति के बीच कड़ी की कल्पना करती है और यह स्थापना करती है कि प्रकृति सर्वोपरि नहीं है और न ही उसका अनुकरण कोई आदर्श।

प्रकृति सम्बन्धी विचारणा अब इस सदी में परिवर्तित होने लगी। वह मानव कार्य-कलापों की न तो पृष्ठभूमि रही और न ही ऐसी प्रणाली, जिसके अन्तर्गत चेष्टाओं और व्यवस्थाओं का मानव अनुकरण करना चाहता है। विलियम वर्डस्वर्थ की दृष्टि में वह एक गुरु, एक दार्शनिक के रूप में देखी गई जिससे मानव मन उस अन्तर-निहित व्यवस्था की कल्पना करने में समर्थ हो सकता है जिसकी स्थूल-जगत, अपनी प्रकृति के साथ, केवल एक अस्थायी झलक है। कोलरिज तथा वर्ड्सवर्थ दोनों ने अलग अलग ढंग से प्रकृति के अठारहवीं सदी वाले रूप पर आक्रमण किया। विलियम वर्ड्सवर्थ ने तथा कोलरिज ने भी, 'कल्पना' और कल्पना के चमत्कार पर बल दिया। और आगे विवेचन करने के पहले हमें यह देखना आवश्यक प्रतीत होता है कि उन्नीसवीं सदी की स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कविताओं में कल्पना किस प्रकार एक विलक्षण और चमत्कारिक शक्ति बन गई।

उन्नसवीं सदी के दो महान वैज्ञानिक और दार्शनिक लॉक और न्यूटन ने मस्तिष्क की परिभाषा इस प्रकार की—

> "मस्तिष्क केवल ऐसा पटल है जिस पर बाह्य जगत अपनी आकृतियाँ अँकित करता जाता है। इसलिए वह स्थूल जगत की रेखा-सीमाओं को अंकित करने का एक निष्क्रिय माध्यम है।"

इस परिभाषा से ब्रह्माण्ड का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है जिसमें मशीन की निपुणता के समान सारे कार्य होते हैं और किसी महान शक्तिपुँज या परब्रह्म की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इन दार्शनिक और वैज्ञानिक विचारणाओं से उन्नीसवीं सदी के स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कवि बहुत हतोत्साह हुए। उनकी एक बड़ी अभिलाषा थी कि वे उस यथार्थ का चित्रण करें जो स्थूल जगत से परे है। ऐसे चित्रण में यदि मस्तिष्क केवल पटल की तरह एक निष्क्रिय वस्तु होगी जो स्थूल जगत के लिए केवल केमरा मात्र है तब कवि अपनी क्या सामर्थ्य रखेगा जिससे वह उस सत्य का निरूपण कर सके जो वास्तविक दृष्टि से ओझल है। इन कवियों में 'अहम्' (Self) की चेतना जाग्रत हो उठी और वे अनुभव करने लगे कि उनका अपना स्वयं का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है जिसमें मस्तिष्क केवल पटल नहीं है। इस अहम् की प्रभुसत्ता में ऐसे जगत का निर्माण करना उचित था जो अपने ही प्रकार के सत्यों से संचालित हो तथा अपने ही प्रकार की भावनाओं से प्रेरित हो। इस प्रकार का एक समानान्तर जगत जो कवि के अपने स्वयम् के अनुभव से उसकी इस चेष्टा के फलस्वरूप हो सकता है जिसमें यह प्रबल भावना विद्यमान है कि हम स्वयम् में एक सम्पूर्ण जगत हैं और इसके अन्तर को ही कविता में अभि-व्यंजित करना है। ऐसे समानान्तर जगत का एकमात्र माध्यम कल्पना है। कल्पना

ही वह शक्ति है जो कवि की स्थूल प्रकृति-व्यापार के परे जो दूसरी शक्ति है, उसे ग्रहण करने की क्षमता दे सकती है। इस व्यापार में ही कवि स्रष्टा बन जाता है। उसके भाव, भावनाएँ, विचार सब उसके अपने सत्य से सम्बद्ध होते हैं। उसका यह व्यक्तिगत सत्य उस जगत के परिवेश से ओतप्रोत है जो कल्पना बाँधती है।

अठारहवीं सदी तथा उसके पहले की कविता में काव्य-रचयिता को स्रष्टा नहीं माना जाता था। वह मात्र जीवन की प्रकृति का व्याख्याकार था। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था। उसकी तूलिका उन्हीं रंगों का चित्रण कर पाती थी जो एक स्थूल जगत की प्रकृति में या मानव समाज में पाए जाते हैं। अब स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग के कवियों में कल्पना के इस चमत्कार ने कार्य करना प्रारम्भ किया जिससे न केवल समानान्तर जगत की रचना हुई, वरन् ऐसे सत्यों की भी सृष्टि हुई जो वास्तविक सत्य के मानदण्ड से दूर भले ही हों, परन्तु कवि की भावनाओं से सुचारु रूप से सम्बद्ध रहते हैं। इसलिए स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग की कविता में यदि कल्पना नहीं हो तो वह स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कविता रह ही नहीं जायगी। उसका अस्तित्व कल्पना में ही है और इसके सहारे ही इस सम्प्रदाय के काव्य में एक रहस्यमयता तथा दूरस्थ झाँकी और व्यक्तिगत सत्यों का विधान पाया जाता है।

दूसरी बात जो कल्पना की विचारणा के सम्बन्ध में हमारे मन में उत्पन्न होती है, वह है यह जानने की अभिलाषा कि इस कल्पना का रूप सीमित है अथवा असीम। कल्पना स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) कवियों की दृष्टि से एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें नियमों, परम्पराओं और दूसरे सामाजिक व्यवधानों की विचारणाओं से मुक्त करती है। यदि कल्पना सीमित हुई, तब जिस समानान्तर जगत की वह रचना करना चाहते हैं वह नहीं कर पायेंगे। अतः नियमों का व्यवधान कल्पना शक्ति के लिए नहीं है। इसलिए स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग के प्रथम कवि ब्लेक ने कहा—

> "कल्पना जगत अनन्त का जगत है। यह वह दैवी वक्ष है जिस पर हम अपनी मृत्यु के बाद अपना सिर टिका देंगे। सृष्टि, प्राणी की हो या वनस्पति जगत की, सीमित है और क्षणिक है; परन्तु कल्पना के उस अनन्त जगत में हरएक वस्तु स्थायी सत्य होती है जिसकी परछाईं मात्र हम वनस्पति जगत के दर्पण में देख पाते हैं। सारी वस्तुएँ अपने अनन्त स्वरूप में उस दैवी शक्ति के अन्दर निहित हैं जिसका नाम है मानवीय कल्पना।"

ब्लेक ने इस तरह कल्पना को ईश्वर के समकक्ष स्थान दिया है क्योंकि इसमें सृजन करने की महान शक्ति है।

कल्पना के सहारे न केवल कवि एक समानान्तर जगत की रचना करता है वरन् उसमें ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे वह उस रहस्यमय सत्य का दर्शन करता है जिसे पार्थिव आँखें नहीं देख पाती और न ही दर्शक की उड़ानें उसे छू पाती हैं। यह इसलिए संभव है कि वास्तविक जगत से परे वह रहस्यमय ताना-बाना है जिसका, स्थूल जगत की प्रत्येक वस्तु, एक संकेत मात्र है। रहस्य को सुलझाना न तो बुद्धि का काम है और न भावना का। इसका केवल आभास मात्र एक झिल-मिलाते दर्शन में हो सकता है और यह हो सकता है हृदय की चेतना के द्वारा जिसे अन्तर्बोध (Intuition) कहते हैं। कल्पना ही इस हृदय की सत्ता को सुदृढ़ करती है और इसके ही माध्यम से उस रहस्यमय जगत की परिकल्पना हो सकती है जो वास्तविकता के परे है, और फिर भी उसमें निहित है, जिसे स्थूल के कारण न तो विचार पकड़ सकते हैं और न भावना ग्रहण कर सकती है। कल्पना द्वारा प्रदत्त यह शक्ति कवि को उस उड़ान तक ले जाती है जहाँ से वह काल और अनन्त का प्रत्यावर्तन उस संसार में देख सकता है जिसकी स्थूल जगत कोई समता नहीं कर सकता।

इसमें संदेह नहीं कि कल्पना या स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) स्वरूप कवि को घोर व्यक्तिवादी बना देता है, परन्तु जिस विशिष्ट कविता की रचना स्वच्छन्दतावादी कवि करता है उसमें उसका व्यक्तिवाद सहायक होता है, बाधक नहीं। इस व्यक्तिवाद से काव्य में विशिष्टता आ जाती है। उसका अपना दर्शन कल्पना के पंखों पर उड़ता हुआ वह दृष्टि पा लेता है जो अंतर-भेदी होती है। इस कल्पना का रीतिवादी युग में कोई स्थान नहीं हो सकता था, इसलिए जब उन्नीसवीं सदी में इसका पूरे वेग से प्रचार हुआ तब संपूर्ण साहित्यिक-क्षेत्र इससे प्लावित हो गया।

## कोलरिज (सन् १७७२-१८३४)

कल्पना (Imagination) के साथ ही एक दूसरी, परन्तु समान, विचारणा का प्रतिपादन हुआ, और वह थी कल्पनातरंग (Fancy ललित कल्पना), अर्थात् मस्तिष्क की वह धारणा जो कल्पना की उड़ानें तो भर सकती है, परन्तु उसमें सृजन की वह शक्ति नहीं होती जो कल्पना में होती है। इस कल्पनातरंग (Fancy) और कल्पना (Imagination) में अंतर बतलाते हुए कोलरिज ने एक गंभीर प्रबंध की रचना की, जिस पर आगामी पृष्ठों में विचार किया जायगा।

कल्पना की विविध रूप और नाना प्रकार की अभिव्यंजनाएँ स्वच्छन्दतावादी-युग के कवियों में हुई। स्वछंदतावादी युग की कविता दो स्तरों की हुई, एक में तो पहली पीढ़ी के स्वच्छन्दतावादी कवि हैं जिसमें विलियम ब्लैक, विलियम वर्ड्सवर्थ और कोलरिज आते हैं, तथा दूसरे में दूसरी पीढ़ी के प्रधान स्वच्छन्दतावादी कवि कीट्स और शैली। शैली की 'कवि' की परिभाषा सर्वविदित है। उसने कवि को मानवता के लिए विधान बनाने वाला ऐसा विधायक कहा है जो मोटे रूप से विधायक नहीं माना जाता (Poet is an Unacknowledged Legislator of Mankind)। इस परिभाषा में कल्पना की वह महत्ता निहित है जिसके अनुसार कवि का स्वयं का ऐसा एक अहं होता है, जो एक समानान्तर जगत की परिकल्पना कर, उसका सृजन कर सकता है।

काव्य की शैली में दैनिक जीवन की भाषा का उपयोग करने का प्रस्ताव विलियम वर्ड्सवर्थ ने पहले-पहल १७९८ ई० में किया था और इस विचारणा की पुष्टि उसने अपने उस स्पष्टीकरण में की जो उस प्रस्तावना में प्रकाशित हुआ। विलियम वर्ड्सवर्थ ने उसमें यह कहा कि निम्न वर्ग के लोग सामाजिक घमण्ड से अछूते होकर ही अपनी भावना सीधे-सादे शब्दों में व्यक्त कर देते हैं, इसलिए ऐसी भाषा, जो पुनरावृत्ति, अनुभव और भावनाओं पर आधारित है, अधिक स्थायी रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक सीमित समाज में कार्य करने वाले और अपने जीवन का व्यापार संचालित करने वाले विनम्र लोग सचाई से भावनाओं और विचारों को, बिना आडम्बर के, प्रस्तुत कर देते हैं। परन्तु इनकी इस भाषा में स्थायित्व कैसे आता है? प्रतीत होता है, कि विलियम वर्ड्सवर्थ ऐसा अनुमान करता था कि अपने संकुचित ध्येय के होते हुए भी ये निम्न वर्ग के विनम्र पुरुष निरन्तर उस पद, शब्द और व्याख्या को अपनाए रहते हैं जिनका परिवर्तन केवल बढ़ती शिक्षा से ही संभव है, और वे शिक्षा से अछूते रहते हैं। उनकी इस भाषा में इसलिए पुनरावृत्ति भी होती है, परन्तु इस पुनरावृत्ति के कारण उसमें एक ऐसी स्थिरता आ जाती है जिसे काल और रुचि बार-बार बदलते नहीं। इस स्थिरता के कारण ही इस वर्ग के लोग एक प्रकार की दार्शनिकता के परिवेश में अपनी भाषा को बनाए रखते हैं, क्योंकि वही स्थायी होता है जो दार्शनिक है। बदलती रुचियों और विशाल जनसमुदायों के शहरी जीवन से उत्पन्न विकारों से ग्रसित मनोदशाओं से यह भाषा अछूती रहती है, इसलिए इसमें एक ठोसपन और एक स्थिरता रहती है। अठारहवीं सदी की कविता शहर की कविता थी और उस पर भी वह ऐसे स्रोतों को लक्ष्य करके लिखी गई थी जो राज्य के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की तह में थे। यह कविता मुख्य रूप से मध्यमवर्गी और शहरी कविता थी।

रूसो की दार्शनिक विचारणा और फ्रांस की राज्य-क्रांति के बाद, प्रकृति का जो रूप सामने आया, वह अठारहवीं सदी की प्रकृति से भिन्न था। इस प्रकृति में यह विचार निहित था कि वही सौन्दर्यमय है जो मुक्त है। रूसो ने कहा कि मानव पहले मुक्त ही पैदा हुआ था परन्तु संस्थाओं, कानूनों और परम्पराओं ने उसे बन्दी बना दिया। प्रकृति ही उस मुक्ति का सच्चा स्वरूप है जहाँ मानव की प्राथमिक और निर्दोष स्थिति पाई जाती है। आदिवासी लोग और इसी तरह के मछुए, किसान तथा अन्य लोग अपनी उस प्रारम्भिक निर्दोष अवस्था में रहते हैं जिस अवस्था का उल्लेख रूसो ने अपनी सर्वविदित परिभाषा में किया है।

विलयम वर्ड्सवर्थ ने जब अपनी शैली में जन भाषा के इन शब्दों का समावेश करने का आग्रह किया, जिनमें भावनात्मक स्पन्दन होता है, तब उसकी शैली की परिभाषा को सीमित और विशिष्ट करने का प्रयास पाया गया। इसके अनुसार वैसी ही भाषा, जिसे जन साधारण बोलते हों, काव्य में प्रयुक्त हो सकती है, जब वह भावनात्मक उत्तेजना की स्थिति में बोली गई हो। साथ ही वलियम वर्ड्सवर्थ यह भी कहता है कि इस प्रकार की शैली पर कल्पना का रंग भरा जाना चाहिए। आगे चलकर उसने यह भी कहा जो समीक्षा सिद्धान्तों में एक महत्वपूर्ण उक्ति बन गई—

> "अच्छी कविता शक्तिशाली भावनाओं का स्वाभाविक निस्सरण है।"
> (Good poetry is spontaneous overflow of powerful feeling.)

अपनी इस परिभाषा को और स्पष्ट करते हुए तथा उसकी व्यञ्जना की अपनी व्याख्या करते हुए विलियम वर्ड्सवर्थ ने कहा—

> "ऐसी निःसृत शक्तिशाली भावना शान्ति की मनोदशा में ही उत्पन्न होती है। कवि भाव का चिन्तन करता है, और तब तक करता रहता है जब तक कि प्रतिक्रिया स्वरूप वह शान्त मनोदशा शनैः शनै अदृष्ट न हो जाए तथा उस भाव का अस्तित्व फिर से न उदय हो जाए जो कवि के चिन्तन के पहले विद्यमान था। यह भाव, वास्तव में मस्तिष्क में ही होता है।"

उपरोक्त उद्धरण में विलियम वर्ड्सवर्थ के कविता सम्बन्धी वह विचार हैं जो आगे की सदी में चर्चा तथा आक्षेप के विषय हुए। विलियम वर्ड्सवर्थ ने जिन लोकोक्तियों का प्रथम संस्करण सन् १७९८ में निकाला था और जिसकी प्रस्तावना में ही उसने जन साधारण की भाषा के काव्य-शैली में उपयोग का प्रतिपादन किया।

था, वह दूसरे संस्करण में कुछ भिन्नता लिए हुए दर्शाया गया। दूसरे संस्करण की प्रस्तावना में विलियम वर्ड्सवर्थ ने कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनसे उसके प्रथम मत का, एक प्रकार से बहुत कुछ अंशों में स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने कहा कि जिस जन भाषा का उपयोग मैंने अपनी प्रथम प्रस्तावना में प्रतिपादित किया है वह जहाँ तक सम्भव हो, जन भाषा का एक चयन किया हुआ अंश हो। इस चयन से उस सामान्यता तथा निम्न अभिरुचि का लोप हो जाएगा जो बिना चयन किए हुए जन भाषा में रह सकती है। इस तरह जन भाषा का यह चयन सुरुचि और अच्छे भाव से ही प्रेरित होगा। और यदि इस चयन को छन्दों के द्वारा काव्य में दर्शाया गया तो यह सचमुच ऐसा काव्य होगा जो शैली को घटियापन से ऊपर उठा देगा।

अलंकार और अन्य विशेषताओं से सम्पन्न इस चयन से जन भाषा में ऐसी मर्यादापूर्ण सुरुचि जाग उठेगी जिसकी हम एक आदर्श और ऊँची कविता में अपेक्षा करते हैं। इस प्रकार विलियम वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रथम प्रस्तावना में जिस मत का प्रतिपादन किया था वह दूसरी प्रस्तावना में कुछ भिन्नता लिए है। चयन (Selection) ऐसी प्रणाली है जो कवि के समीक्षात्मक व्यक्तित्व में ही सम्भव है। परन्तु विलियम वर्ड्सवर्थ इस शैली की समुचित व्याख्या करते समय अपने मूल तर्क से हटते नहीं हैं। जन भाषा का शैली में स्थान एक बहुत ही महत्वपूर्ण लक्ष्य है जिससे आडम्बर, भावनातिरेक तथा अन्य प्रकार से साहित्यिक दोष दूर हो सकते हैं। प्रकृति के इस महान कवि ने एक महत्वपूर्ण तथ्य कहा है, जो निम्न-लिखित है—

> "काव्य ज्ञान का जीवन और सर्वोत्तम रूप है। वह ऐसी भावनात्मक अभिव्यंजना है जो विज्ञान की परिधि को छूते हुए उसे काटती ही है।"

कवि का यह स्वरूप उन्नीसवीं सदी में एक सामाजिक मूल्यों के परिवेश में प्रकट होने लगा। उसे एक मसीहा तथा एक नैतिक विचारक के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। वह मानव स्वभाव का प्रतिरक्षक और उसमें पाए जाने वाले सम्बन्धों और प्रेम का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि बतलाया जाने लगा। उसकी सार्वभौमिकता सामाजिक दृष्टि से प्रकट हुई। समस्त मानवता को अपनी भावनात्मक और ज्ञान प्रेरित कल्पना से बाँधकर "एकात्म" के सृजन की सम्भावना, उन्होंने उत्पन्न कर दी। ऐसा कवि अक्षुण्ण प्रेरणा का स्रोत है और उसका साम्राज्य सम्पूर्ण जगत और काल के ऊपर है। कविता ज्ञान का प्रथम तथा अंतिम सर्ग है। वह मानव हृदय की तरह ही अमर है।

जो कवि रीतिवादी युग में केवल एक व्याख्याकार था और जिसके पाठक और श्रोता शहरी जीवन और राजकीय क्षेत्र में सीमित थे, वही अब समस्त मानवता का एक मसीहा और दार्शनिक बन गया। स्वच्छन्दतावादी युग में कल्पना की शक्ति ही उसे उन अमर क्षणों का आस्वादन देने लगी जिसे पाकर वह एक भविष्य-वक्ता के रूप में मानव स्वभाव पर अपने विचार प्रकट करने लगा।

विलियम वर्ड्सवर्थ की शैली की परिभाषा का, जिसका उल्लेख ऊपर आया है, उसके समकालीन तथा सहायक कवि कोलरिज ने पहले तो दबे स्वर से और फिर प्रत्यक्ष रूप से विरोध किया। कोलरिज ने अपने ग्रन्थ "Biographia Literaria" में कहा कि विलियम वर्ड्सवर्थ की परिभाषा, जिसमें जन भाषा को ही काव्य की शैली का मुख्य रूप से साधन माना है, कोई पूर्ण परिभाषा नहीं है। उन्होंने कहा कि यह परिभाषा उसी दशा में मान्य हो सकती है जब केवल छन्दबद्ध शब्द ही शैली में प्रयुक्त हों और गद्य की शैली से इसका कोई सम्बन्ध न हो। यदि विलियम वर्ड्सवर्थ का अभिप्राय यह है कि पद्य और गद्य दोनों ही समान शब्द भण्डारों का उपयोग करते हैं तब वह मत एक सत्य धारणा है। परन्तु शब्दों का चयन गद्य और पद्य में बिलकुल भिन्न प्रकार से होता है; अतः यहाँ विलियम वर्डसवर्थ का मत मिथ्या है क्योंकि उन्होंने कहा कि गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से शब्दों का चयन हो। इस सम्बन्ध में आगे चलकर कोलरिज ने काव्य के लिए कहा है कि वह उत्तमोत्तम क्रम से नियोजित श्रेष्ठतम शब्दों की अभिव्यंजना है। ('The best words in the best order') कोलरिज ने यह मत भी प्रकट किया है कि शिक्षित मनुष्य ही अधिक अच्छा कवि हो सकता है। अशिक्षित मनुष्य की भाषा कविता में घटियापन लायेगी। अशिक्षित मनुष्य अपनी रचनाओं में असम्बद्ध होते हैं और उन्हें शैली के ढाँचे की कोई कल्पना नहीं होती। यदि मछुओं और किसानों की भाषा ऐसी पायी गयी है जो काव्य की भाषा है और जिसमें ओज तथा शक्ति है तो इसका कारण यह नहीं है कि इन मछुओं या किसानों ने प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित करके उससे ही यह सब सीखा है। इस भाषा का सशक्त होना इस बात पर निर्भर है कि उन्होंने किस प्रकार और कितनी सीमा तक धार्मिक शिक्षा लोक-रीति के अनुसार पाई है। इस ठोस धार्मिक शिक्षा से ही उनकी भाषा पर बायबिल की शैली का प्रभाव पड़ा है जिससे उनकी खुद की भाषा प्रभावित हुई। इसमें कवि का कोई हाथ नहीं है।

## परिच्छेद—८

# कल्पना-शक्ति और कल्पना-तरंग (Fancy)

वर्ड्सवर्थ के सहयोगी तथा समकालीन कवि कोलरिज एक समर्थ समीक्षक थे। उन्होंने वर्ड्सवर्थ की शैली की परिभाषा पर अपनी टीका की है जिसका उल्लेख किया जा चुका है। वह आरम्भ में वर्ड्सवर्थ के ही अन्यतम सहयोगी थे और उनमें विचारों का साम्य था। परन्तु कोलरिज अपने अध्ययन और प्रकृति से दार्शनिक अधिक थे। जर्मनी के दर्शनशास्त्र का उन पर गहरा प्रभाव था। उनके समय के अंग्रेजी दर्शन और मनोविज्ञान के विचारों का भी उन पर काफी प्रभाव था। स्वच्छन्दतावादी युग का मुख्य साधन कल्पना था और इस विलक्षण शक्ति के विषय में कोलरिज ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उसकी सारगर्भित विवेचना में हमें कल्पनाशक्ति (Imagination) तथा कल्पना-तरंग (Fancy) में स्पष्ट भेद मिलता है और कल्पना-शक्ति के दो विभिन्न रूपों से भी हम अवगत होते हैं। उनके अनुसार कल्पना-शक्ति के दो चरण होते हैं। कल्पना-शक्ति का प्रथम चरण दृष्टि की इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली छवि या प्रतिबिम्ब से प्रारम्भ होता है; और वह ऐसी क्रिया है जो इस सीमित संसार में किसी निस्सीम स्पर्श को लिए हुए आती है। वह सीमाओं का लोप होते हुए बतलाती है, परन्तु इसमें वह सृजनात्मक शक्ति नहीं होती है जो द्वितीय चरणवाली कल्पना-शक्ति में होती है। द्वितीय चरणवाली कल्पना-शक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए कोलरिज ने कहा कि यह ऐसी शक्ति है जो इसके प्रारम्भिक चरण से कुछ साम्य लिए हुए भी है परन्तु; अपने लक्ष्य में और अपनी निहित शक्ति में भिन्न है। यह द्वितीय चरणवाली कल्पना-शक्ति के द्वारा सृजन अथवा किसी समानान्तर रचना की सम्भावना विद्यमान रहती है। यह कल्पना-शक्ति मिटाती, बिगाड़ती और फिर उन टूटे हुए तत्वों को लेकर एक तीसरा ही तत्व, जो अपने में पूर्ण है, रच डालती है। यही इसकी क्रियाशील रचनात्मक शक्ति है। इसका लक्ष्य हमेशा ही यह होता है कि किस प्रकार इन विभिन्न तत्वों में ऐक्य लाए और उन्हें किसी आदर्श आत्मा से अनुप्राणित करे। यही शक्ति कविता की केन्द्रीभूत शक्ति होती है। यह हमेशा ही सजीव है जबकि स्थूल जगत की वस्तुएँ स्थिर और मृत हैं।

कल्पना-शक्ति की इस परिभाषा में कोलरिज का वह दृष्टिकोण निहित है जो दार्शनिकता के उद्‌गम में है। कल्पना का यह जाज्वल्यमान स्वरूप इस प्रकार क्रियाशील रहता है कि कवि की मानसिक शक्तियाँ सुदृढ़ होकर केवल एक ही लक्ष्य की ओर उन्मुख रहती हैं और वह लक्ष्य है, किस प्रकार अलंकारों के माध्यम से ऐसी समानान्तर रचना की जाय जो अब तक विद्यमान नहीं थी। यही एक समानान्तर रचना है जिससे कवि सृष्टा के रूप में विभूषित किया जाता है। इससे भिन्न कोलरिज ने उस तीसरी काव्य-प्रणाली का उल्लेख किया जिसको कल्पना-तरंग अथवा 'फैन्सी' (Fancy) कहते हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कोलरिज ने कहा कि यह शक्ति कल्पना-शक्ति की तरह सर्जक शक्ति नहीं है, और जिन वस्तुओं से यह सम्बद्ध रहती है वे स्थित और ससीम हैं। इस प्रकार यह तरंग केवल उस स्मृति की तरह है जो काल और स्थान के परे है। स्मृति केवल स्मरण दिला सकती है, परन्तु नवीनता का सृजन नहीं कर सकती। इसलिए इस तरंग में जब कवि उपमान और उपमेय का सहारा लेकर अलंकार गढ़ता है तब उसके सम्मिश्रण से वह जो एक नया चित्र-कल्प (Image) निर्मित करता है, वह टूटता सा, विलग और केन्द्र-विहीन होता है। कल्पना-तरंग (Fancy) में एक हीन काव्य-प्रणाली है जिससे अलंकार तो गढ़ा जा सकता है; परन्तु उसमें वह जीवन्त शक्ति नहीं होती जिसकी तुलना आत्मा से की जा सके। दूसरी ओर कल्पना-शक्ति उसे सृजन करने में सफल होती है, जो उस रचना का केन्द्रबिन्दु है, और उसमें ऐसे सार तत्व हैं जिससे उसकी सीमा लाँघी जा सकती है।

कोलरिज ने कुछ उदाहरण दिए हैं जिनसे कल्पना-शक्ति और कल्पना-तरंग में अन्तर किया जा सकता है। उन्होंने शेक्सपीयर के "ऑथेलो" से कुछ उद्धरण दिए, जिनमें से एक यह है—

> "मैं उसका वध नहीं करूँगा,
> न ही उसके श्वेत चर्म पर कोई धब्बा डालूँगा,
> ऐसा चर्म जो बर्फ से भी अधिक श्वेत है,
> तथा संगमर्मर की प्रतिमा सा स्निग्ध और मूर्तिमान है।"

इस उद्धरण में 'ऑथेलो का वह वाक्य है जो वह अपनी पत्नी डैस्डीमोना के वध के पूर्व कहता है। डैस्डीमोना पर उसने बिना किसी प्रमाण के सन्देह करना शुरू कर दिया था; परन्तु साथ ही, मन से उसका सौन्दर्य अब भी उसे आसक्त किए हुए था। यहाँ जो उपमान हैं वे हैं श्वेत चर्म, श्वेत संगमर्मर और श्वेत बर्फ। उपमेय है डैस्डीमोना का वह चरित्र जिस पर उसके पति की अब भी अगाध श्रद्धा है। श्वेत चर्म की तुलना श्वेत बर्फ और संगमर्मर से की गई और इसमें डैस्डीमोना

का शारीरिक सौन्दर्य निखर उठता है; परन्तु, साथ ही, इस शब्द-चित्र में कल्पना-शक्ति एक दूसरी ही रचना कर डालती है और वह है अपने तल में ऐसी उपमापूर्ण छवि आँकना, जिससे यह प्रदर्शित होता है कि डैस्डीमोना का चरित्र सुन्दर और निर्मल था। संगमर्मर प्रतिमाओं को गढ़ने में काम आता है—ऐसी प्रतिमायें जो किसी महान पुरुष की होती हैं। इस तरह इसमें विशालता या महानता का तत्व आया। दूसरी उपमा है श्वेत बर्फ। श्वेत वैसे ही पवित्रता का प्रतीक है और श्वेत बर्फ उस पवित्रता का, जो रागहीन होकर बर्फ की तरह ठण्डा है और बौद्धिक है। इस प्रकार एक ही तुलना में कवि ने दो अर्थ उन शब्द-चित्रों में अंकित कर दिए जो उपमा द्वारा निर्मित हुए। डैस्डीमोना का वाह्य सौन्दर्य तो सुविदित अर्थ है परन्तु उसका जो निहित व्यक्तित्व है वह है बर्फ की तरह निर्मल और श्वेत, संगमर्मर की तरह कठोर, निर्मल और श्वेत। इस दूसरे अर्थ की अभिव्यंजना कल्पना-तरंग (Fancy) द्वारा नहीं हो सकती क्योंकि वह तो केवल स्थिर और अपरिवर्तित वस्तु से सम्बन्ध रखती है। उसके परे वह नहीं जाती। दूसरी ओर कल्पना-शक्ति वह है जो किसी स्वरूप की रचना करती है और जिस तरह आत्मा शरीर में प्रवेश कर उसे क्रियाशील और ज्वलन्त रखती है (परन्तु फिर भी शरीर के परे उसका अनन्त अस्तित्व होता है) उसी प्रकार कल्पना-शक्ति यद्यपि किसी स्वरूप (Form) का निर्माण करती है; परन्तु वह उसे पार करके अपना स्वयं का अस्तित्व रखती है। वह उस स्वरूप के बाहर नाना प्रकार के अर्थ और शब्द की छवि गढ़ सकती है। यही उसका चमत्कार है।

कल्पना-शक्ति की संयोजन करने की जो बलवती प्रवृत्ति है उसका प्रभाव तुरंत देखा जाता है। इसकी तुलना में बुद्धि या तर्क से जो अवलोकन किया जाय उसकी अनुभूति तुरंत नहीं होती, वरन् बुद्धि के ग्रहण करने योग्य उसका निष्कर्ष अपरोक्ष रूप से बाद में ही उत्पन्न होता है। जब नाटककार अपने नाटक को विभाजित कर अंक तथा दृश्य निर्धारित करता है, तब वह बुद्धि के सहारे और आन्तरिक तर्क के अनुसार नाटक का स्वरूप गढ़ता है; परन्तु नाटक की सम्पूर्णता उसकी आत्मा से, उसके नाट्य की आत्मा से जीवन्त और मूर्तिमान होना तभी संभव है जब नाटककार अपनी सहज-कल्पना (Intuition) से उस पूर्णता को दर्शन (Vision) में स्थापित कर लेता है। इस सहज-ज्ञान या सहज-अनुभूति, जिसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है, वह शक्ति है जो कल्पनाशक्ति से ही आती है। पूर्णता, जो कला के स्वरूप में होती है, तर्क के द्वारा खण्ड-खण्ड होकर विचार में उतारी तो जा सकती है, परन्तु उसका वास्तविक सृजन तभी संभव है जब अपनी सहज अनुभूति द्वारा कल्पना-शक्ति जगाकर कवि ऐसे दर्शन का आभास पाता है जिसमें वह पूर्णता प्रतिबिम्बित हो।

बुद्धि के सहारे हम किसी सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं परन्तु कल्पना के सहारे हम ठोस और व्यक्तिगत अनुभूतियों को साकार रूप देते हैं। कल्पना-शक्ति की विशेषता के कारण व्यक्तिगत, परन्तु साकार रूप को भी एक सार्वभौमिकता प्रदान की जा सकती है। इस तरह कल्पना-शक्ति के सहारे ही कविता में दर्शन-शास्त्र का वह गुण विद्यमान हो जाता है जिसका उल्लेख अरस्तू ने नाटक की परिभाषा करते समय किया था। उसने कहा था कि काव्य दर्शन की तरह सार्व-भौमिकता लिए हुए है। तरंग का कार्य होता है कि उपमा का उपयोग करना, परन्तु उपमान और उपमेय केवल स्थित वस्तुएँ रहते हैं और उनमें कोई निहित अर्थ या दूसरी छवि उत्पन्न करने की शक्ति नहीं होती। चरम-सीमा की कल्पना-तरंग विक्षिप्तों में पायी जाती है; जब जब वे स्वयं की उपमा किसी सम्राट से देने लगते हैं। इसमें पागल और सम्राट दोनों ही मानव हैं और इस साम्य में उपमा बनती तो है, परन्तु कोई नयी छवि या नया अर्थ इससे उत्पन्न नहीं होता। वह काव्य घटिया होता है जिसमें कल्पना-तरंग क्रियाशील होती है। ऊँचे स्तर के काव्य में कल्पना-शक्ति ही वह विलक्षण अलंकार पैदा करती है जिनमें भाँति-भाँति के अर्थ और शब्द निहित होते हैं। यहीं हम अनुभव करते हैं कि कल्पना-शक्ति निःस्सीम है। कल्पना-शक्ति के विषय में क्लीन्थ ब्रुक्स अपने ग्रंथ "साहित्यिक आलोचना—एक संक्षिप्त इतिहास" (Literary Criticisma Short History) में एक सूची देते हैं जिसमें उन्होंने कल्पना-शक्ति के भिन्न कार्यक्षेत्रों का वर्णन किया है। उस सूची से यहाँ उद्धरण दिए जाते हैं—

**कल्पना-शक्ति जो समन्वय कर सकती है—**

(क) (१) एकरूपता का सामञ्जस्य विविधता के साथ,<br>
(२) सामान्य का सामञ्जस्य ठोस के साथ,<br>
(३) विचार का सामञ्जस्य चित्र-कल्प (Poetic Image) के साथ,<br>
(४) प्रतिनिधित्व का सामञ्जस्य एकत्व के साथ,<br>
(५) निकटता का सामञ्जस्य नवीनता के साथ,<br>
(६) व्यवस्था का सामञ्जस्य भाव के साथ,<br>
(७) निर्णय का सामञ्जस्य उत्साह के साथ,<br>
(८) अवास्तविकता का सामञ्जस्य स्वभाव के साथ।

इस सूची में दूसरा खण्ड भी है जिसमें यह दर्शाया गया है कि कल्पना-शक्ति किन वस्तुओं को किनके अधीन रखती है—

(ख) (१) प्रकृति के अधीन कला को;
(२) विषय के अधीन व्यवहार को;
(३) काव्य से सहानुभूति के अधीन कवि की प्रशंसा।

उपरोक्त सूची में खण्ड (क) मानवीय स्थितियों से सम्बद्ध है और खण्ड (ख) वस्तु-परक (Objective) है। कल्पना-शक्ति के विषय में सर जौन डेविस नामक अंग्रेज कवि की "आत्मा" पर की गई कविता बहुत कुछ अंशों में लागू होती है। उनकी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

वह (आत्मा) एक विलक्षण भावोद्रेक के माध्यम से शरीर को मन बना देती है।

जिस प्रकार अग्नि उन वस्तुओं को अग्नि बना देती है जिन्हें वह जला डालती है।

उनके स्थूल पदार्थों में से वह स्वरूप चयन कर गढ़ डालती है,
समस्त वस्तुओं से उनका वह सार निकाल डालती है,
जिस सार को वह प्रकृति के अनुसार बदल डालती है,
जिससे वह उसके अमर पंखों से उड़ सकें।

कोलरिज ने भी अपनी परिभाषा का तर्क इस प्रकार प्रस्तुत किया—

सुज्ञान काव्यमयी प्रतिभा का सार है,
कल्पना-तरंग (Fancy) इसका केवल आवरण है,
गति, लय, इसका जीवन है और कल्पना-शक्ति इसकी आत्मा,
जो हर जगह है और इसके प्रत्येक अंग में है और,
जो (कल्पना-शक्ति) हर अंग और हर लक्षण का समन्वय कर एक सम्पूर्णता प्रदान कर देती है॥

कुछ आलोचकों के मत में कल्पना-शक्ति और तरंग (Fancy and Imagination) की अलग-अलग परिभाषा करके कोलरिज ने एक बहुत बड़ा योगदान समीक्षा के क्षेत्र में दिया है। इसके कारण काव्य की प्रतिभा को बल मिला क्योंकि अब समीक्षकों के पास वह मानदण्ड हो गया जिसके माध्यम से वे अच्छी कोटि की कविता और लचर कविता में भेद कर सकते हैं।

वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे भी आलोचक हैं जिन्होंने कोलरिज की इस परिभाषा में कोई मौलिकता नहीं देखी और उनके दृष्टिकोण में यह केवल अठारहवीं सदी में प्रचलित 'भव्यता' की विचारणा को एक दूसरे ही परिवेश में प्रस्तुत करना था। लांजाइनस की 'भव्यता या उदात्त' के सिद्धान्त का पहले ही विवेचन किया जा चुका है। अठारहवीं सदी में यह भव्यता जिस प्रकार प्रदर्शित हुई और समीक्षकों ने जिस दृष्टिकोण से इसे देखा वह भी एडमण्ड बर्क की चर्चा करते समय हमने देख लिया। भव्यता में जटिलता, गहनता और कुछ विस्मयप्रद भय का तत्व रहता है, यह एडमण्ड बर्क का मत था। जब वर्ड्सवर्थ और कोलरिज दोनों ही कल्पना-शक्ति के विषय में अपने विचार प्रकट करते है तो वे कल्पना-शक्ति के केन्द्रबिन्दु 'भव्यता' की ओर ही इंगित करते हैं। यह भव्यता लांजाइनस की उस परिष्कृत भव्यता के निकट है जिसे अठारहवीं सदी के समीक्षक और सौन्दर्य-शास्त्री प्रयोग में लाते थे और जिसका उदाहरण एडमण्ड बर्क के विचारों में हमें मिलता है। इस भव्यता को इन दोनों कवियों ने आत्मा की वह उदात्त स्थिति बतलाया जो दैवी स्फुरणा से उनमें आती है और यही स्फुरणा कल्पना-शक्ति का एक करतब माना जाता है।

एक बात इस विवेचन में पूर्णतः उभर आती है और वह है कोलरिज का कल्पना-शक्ति को एक समन्वय करने वाली प्रणाली का रूप देना। अन्तर-विरोधी वस्तुओं में साम्य लाकर, एक अन्तर रखते हुए उन घटनाओं और वस्तुओं में साम्य लाना, जो निम्न दिखलाई पड़ती हैं और इस साम्य से एक नवीन वस्तु को उत्पन्न करना, कल्पनाशक्ति का वह लक्षण है जो बुद्धि में भी पाया जाता है। बुद्धि की प्रवृत्ति भिन्न व्यवस्था को भेदकर साम्य स्थापित करना होता है। कल्पना-शक्ति साम्य प्रस्तुत करने के बाद समन्वय स्थापित करती है। इससे यह ध्वनित होता है कि जिस काव्य की रचना कोलरिज करते थे उसका लक्ष्य था बौद्धिक सुख देना (Intellectual Pleasure)। वैसे यथार्थ में कोलरिज की कविता में बौद्धिक सुख तो कम, परन्तु इन्द्रिय जनित छवि से उत्पन्न सुख अवश्य मिलता हैं जिसका कारण यह प्रतीत होता है कि उसकी तत्व प्रणाली और काव्य में अन्तर था।

## शैली के काव्य सम्बन्धी विचार (सन् १७६२-१८२२)

स्वच्छन्दतावादी युग की दूसरी पीढ़ी के दो महान कवि हुए—शैली और कीट्स। शैली युवाकांक्षाओं और क्रांतिकारी लक्ष्यों का प्रतिनिधि कवि था। उसमें एक विद्रोही मनोवृत्ति थी जिसके कारण उसके चित्र-कल्प परिवर्तनशील और वायु की तरह ही सीमा हीन थे। इस कवि ने काव्य सम्बन्धी अपने समीक्षात्मक

विचार अपने प्रबन्ध—"काव्य का प्रतिरक्षण" (A Defence of Poetry)" में प्रकट किए हैं। इसमें समीक्षा सम्बन्धी कोई गहन विचार तो सिद्धान्तों के रूप में नहीं प्रतिपादित किए गए हैं; परन्तु स्वच्छन्दतावादी युग की दूसरी पीढ़ी के प्रतिनिधि कवियों का काव्य के प्रति कौनसा दृष्टिकोण था, यह इसमें पूरी तरह से झलकता है। इसके पूर्व कि शैली की काव्य समीक्षा के विषय में कुछ विवेचना की जाय, यह उचित प्रतीत होता है कि उसके प्रबन्ध से कुछ मुख्य उद्धरण दे दिए जायँ जो उसकी समीक्षा के प्रतिनिधि तत्व हैं—

> "मानव मस्तिष्क जब सृजन करने की स्थिति में होता है तब वह उस कोयले के समान होता है जो बुझने ही वाला है; परन्तु जब कोई वायु का झोंका आता है तो क्षणिक रूप से प्रज्ज्वलित हो उठता है। सृजन की यह क्रिया एक शक्ति है, जो कलाकार के अन्तर से उपजती और प्रज्ज्वलित होती है।"

इस उद्धरण में कलाकार की आन्तरिक सत्ता और उसकी प्रेरणा, जो वायु हो सकती है, परन्तु अन्तर में स्फुरणा के रूप में वह प्रवृत्ति होकर कवि के व्यक्तित्व से एकाकार हो जाती है।

> "कवि उन सर्वोत्तम और सुखी क्षणों का इतिहास है जो श्रेष्ठतर मस्तिष्क अनुभव किया करते हैं। हम जानते हैं कि कभी-कभी ऐसे विचार और भावनायें क्षणिक तौर से हमें अनुप्राणित कर लेती हैं, तब हमें लगता है कि कोई दैवी शक्ति हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को भेद जाती है।"

यहाँ शैली ने काव्य की स्फुरणा को वह दैवी शक्ति बतलाया है जो प्लेटो की काव्यमयी दैवी शक्ति से भिन्न है; क्योंकि प्लेटो के अनुसार कोई बाहर से एक ऐसी शक्ति आकर कवि को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है जिससे वह विक्षिप्त सा हो जाता है। यहाँ अन्तर और बाह्य का अन्तर-छेदन (Inter-penetration) बतलाया गया है। एक दैवी स्फुरणा कवि के अन्तर में समाकर उससे एकाकार हो जाती है। चाहे यह अनुभूति क्षणिक ही क्यों न हो, परन्तु अन्तर और बाह्य का संगम ही काव्य रचना की सृजन-वेला है।

> "काव्य मानव में दैवी शक्ति के प्रवेश को हमेशा पुनर्जागरण प्रदान करता रहता है, जिससे वह अवरुद्ध होकर अस्त न हो जाय।"

इस उद्धरण में शैली ने काव्य का वह स्वरूप अंकित किया है जो धार्मिक अथवा आध्यात्मिक चेतना को सम्बल देने में सक्षम होता है।

"काव्य, जगत से परिचित और सामान्य परिवेश के छद्म को हटा देता है और उसे शब्द के वास्तविक सौन्दर्य में प्रदर्शित करता है; जो जगत के स्वरूपों में आत्मा के रूप में विद्यमान रहता है।"

इस उद्धरण में शैली ने अपनी इस मूल प्रेरणा की ओर इंगित किया है जो प्लेटो के दर्शन से उसने पाई है। शैली पर सर फिलिप सिडनी का कुछ प्रभाव था और कहीं-कहीं इन दोनों व्यक्तियों की परिभाषाएँ समान जान पड़ती हैं। काव्य को आनन्द और शिक्षा देने वाली कला, इन दोनों ने माना है। दोनों ही कवि को सृष्टा अथवा रचयिता कहते हैं। दोनों की दृष्टि में कवि का धर्म शिक्षक का है, और अपनी ही स्थिति में मसीहा है। यह एक सर्वप्रचलित धारणा है कि शैली कवि को किसी क्रान्ति का एक माध्यम मात्र समझता था और इसी तरह काव्य-कला को केवल प्रचार का साधन। परन्तु यह सत्य नहीं है। निःसन्देह उसने कवि को "मानवजाति का ऐसा विधायक (Unacknowledged Legislators of Mankind)" जो विधायक न माना गया हो" कहा है। इससे यह ध्वनित होता है कि कवि उसकी दृष्टि में विप्लवकारी परिवर्तनों का वह माध्यम है जिसके द्वारा ही मानवता के लिए नया विधान बन सकता है। शैली की कविता मानव जाति के पुनर्जागरण की कविता है। जहाँ तक मानव-समाज के लक्ष्य का सम्बन्ध है। उसमें क्रान्ति और आशावादिता है। परन्तु शैली एक कलाकार था और अपने समय के गीतिकाव्य का सबसे कुशल कवि। उसने काव्य में शब्दों की स्वयं की सत्ता को पहचाना और बाह्य आक्षेप या किसी अन्य प्रकार के प्रभावों से उसने उसे बचाना चाहा। शब्दों की अपनी आन्तरिक सत्ता होने से उनका अपना ही शक्ति-स्रोत है। और किसी बाह्य सत्ता को, दर्शन या राजनीति को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। शैली बुद्धि से बनने वाली कविता के पक्ष में नहीं था। मिल्टन के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए शैली ने कहा था कि उसकी महानता इसमें है कि अपने महाकाव्य में उसने ईश्वर को शैतान से अधिक गुणों से सुशोभित नहीं बतलाया। उसमें एक सच्चे कलाकार की तटस्थता थी; अतः वह महान है। शैली के इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार को अपनी कला के प्रति ही निष्ठावान होकर किसी बाह्य हस्तक्षेप को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। वैसे यह मत उसकी समीक्षा का सार मत नहीं है, परन्तु फिर भी वह इस ओर संकेत करता है कि एक क्रान्तिकारी कवि होते हुए भी शैली ने कविता को प्रचार करने वाली 'शब्द नैपुण्य' का विशेषण नहीं दिया।

स्वच्छन्दतावादी युग में दो महान कवि हुए जो साथ ही समीक्षक भी थे, वर्ड्सवर्थ और कोलरिज—जिनके मतों का विवेचन हो चुका है और शैली के

काव्य सम्बन्धी मत का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। स्वच्छन्दतावादी युग का समीक्षा-शास्त्र प्लेटो और सर फिलिप सिडनी के विचारों से बहुत अंशों तक प्रभावित होकर जर्मनी के दर्शन शास्त्र से भी प्रभावित था। वास्तव में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन जर्मनी से प्रबल धारा की भाँति निःसृत था; परन्तु उस देश में उसका स्वरूप दूसरा ही था। उस देश में स्वच्छन्दतावाद किसी विलक्षणता और वैचित्र्य को ही प्रधान मानकर आगे चलता था। यह तो वर्ड्सवर्थ, विलियम ब्लेक और कोलरिज की तत्व प्रणाली है कि उस समय समीक्षा को कल्पना-शक्ति की सबल परिभाषा मिली; जिससे न केवल काव्यात्मक आलोचना, वरन् स्वयं काव्य भी, उससे गहन रूप से प्रभावित हुआ।

परिच्छेद–९

# विक्टोरिया युग की समीक्षा : मैथ्यू आर्नल्ड
## (सन् १८२२-८८)

स्वच्छन्दतावादी युग में काव्य की परिभाषा सिमटकर "गीतिकाव्य" (Lyrical Poetry) में सीमित हो चली थी, वर्ड्सवर्थ ने कविता को सशक्त भाव की एक स्व-निःसृत धारा कहा। इस तरह काव्य के भाव का उदय कवि के हृदय में अन्तर-प्रेरणा के कारण हुआ जो उसकी व्यक्तिगत अनुभूति का समन्वय है। काव्य में भावना और चित्र-कल्प (Image) एक रूप हो गए, जिनसे कवि के हृदय ने तादात्म्य का अनुभव किया। यही "गीतिकाव्य" के विकास का प्रथम तथा सबल चरण है। इसके पूर्व जो अठारहवीं सदी तक कविता होती आई है उसमें चित्र-कल्प और भावना समानान्तर रूप से चलते थे। ऐसा नहीं था कि भाव चित्र-कल्प में ही केन्द्रित हो। पूर्व-स्वच्छन्दतावादी कविता में बुद्धि-विलास के अतिरिक्त वर्णन, अभिव्यंजना, वस्तुस्थिति आदि पर अधिक बल था और कवि के व्यक्तिगत अथवा उसके हृदय में होने वाली उसकी अनभूतियों का कोई महत्व-पूर्ण स्थान नहीं था। स्वछन्दतावादी कविता के परीक्षणों के बाद प्रेरणा से जाग्रत होकर कल्पना-शक्ति की उदात्त आभा छिटक पड़ी और उसके साथ ही कवि का स्वयं का हृदय उसके व्यक्तित्व में उभर कर सस्वर हो उठा।

वर्ड्सवर्थ, कोलरिज और ब्लेक के बाद की स्वच्छन्दतावादी कवियों की जो पीढ़ी थी, उसमें शैली और कीट्स प्रधान थे। शैली के समीक्षात्मक विचारों का विवेचन हो चुका है, जिसने यह स्पष्ट कर दिया कि गीतिकाव्य के इस महान प्रति-निधि कवि ने काव्य के किसी परिवर्तन का परोक्ष अथवा पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार माध्यम नहीं माना। यह सत्य है कि शैली की अपनी विचारणा में मानव-समाज के परिवर्तन का एक विद्रोही रूप विद्यमान था। वह यौवन का अग्रगामी दूत था। उसकी कविता में चित्रकल्प अपनी अस्थिरता, परिवर्तन और सीमाहीन छवि लिए हुए होते थे; परन्तु इस कवि का श्रेष्ठ कलात्मक रूप उसके गीतिकाव्य में ही प्रस्तुत होता है। कीट्स में इन्द्रिय जनित अनुभूति ऐसे सुन्दर चित्रकल्प गढ़ती

है जो मूर्तिमान और जीवन्त होते हैं। उनमें जीवन के मीठे, कड़वे अनुभवों के सम्मिश्रण से एक ऐसा संगम फलित होता है जिसका रस केवल सौन्दर्य का होता है। इसमें भी गीतिकाव्य काफी महत्वपूर्ण अंशों में विद्यमान है।

पूर्व स्वच्छन्दतावादी कविता का स्वरूप किस प्रकार रीतिवादी (Classical) साँचे में ढल गया, यह अरस्तू तथा होरेस के काव्य-समीक्षा के मूल का विवेचन करने से स्पष्ट हो जाएगा। अरस्तू ने कहा था कि काव्य, अर्थात् नाट्य-कला में, आख्यायिका अर्थात् कथानक (Story Fable) ही कविता का स्वत्व है। किन अर्थों में यह नाट्य की आत्मा है इसका विवेचन भी हो चुका है। काव्य का स्वरूप केवल नाटक से बदलकर किस प्रकार वर्णनात्मक कविता, नाटक की कविता, कथोपकथन की कविता, व्यंग्य आदि हुए। इन सब में कविता गीति-काव्य नहीं थी, वह वस्तुस्थिति (Objective Reality) से प्रभावित वह भाव-नात्मक अभिव्यंजना थी, जिसमें कवि का हृदय ही केन्द्रबिन्दु नहीं होता है। इस काव्य में कथानक अर्थात् वर्णन का मुख्य विषय या व्याख्या का मुख्य आधार ही प्रधान होता है। उसे ही केन्द्र मानकर पद्यात्मक रचना होती है जिससे व्यक्तिगत अनुभूति केवल एक माध्यम का स्वरूप ही रह जाती है। गीतिकाव्य के विषय में यह कहा जाता है कि वह कवि की अपनी भावनात्मक प्रतिक्रिया है, जो किसी एक क्षण में होने वाली घटना अथवा विशिष्ट चेतना पर होती है। गीतिकाव्य में इस तरह वर्णन, वस्तुस्थिति तथा व्याख्या नहीं होती। कवि का हृदय खुलकर अपनी समस्त गहराई और ऊँचाई को एक ऐसे अवगुंठन में बाँधता है जिसका लालित्य उसके व्यक्तिगत होने में रहता है। स्वच्छन्दतावादी युग का गीतिकाव्य इस प्रकार रीतिवादी (क्लासिकल) युग के काव्य से बुनियादी रूप से भिन्न था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह गीतिकाव्य का सम्प्रदाय काफी स्थिर हो चला था। ऐसे समय अंग्रेजी साहित्य के इतिहास में, जिसे हम विक्टोरिया का युग (Victorian Age) कहते हैं, तभी एक समर्थ कवि, सशक्त समीक्षक और समाजशास्त्री मैथ्यू आर्नल्ड का आविर्भाव हुआ।

इससे पहले कि मैथ्यू आर्नल्ड के समीक्षा सम्बन्धी विचारों पर चर्चा हो, यह उचित प्रतीत होता है कि जिस विक्टोरिया युग में वे पैदा हुए और जिसमें उन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाएँ कीं, उसके वास्तविक रूप को जाना जाय। स्वच्छन्दता-वादी युग के पश्चात् साहित्य में विक्टोरिया का युग आया। उनके राज्य-काल में बड़ी जीवन्त, तथा बलवती बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धारायें प्रवाहित हुईं। इस युग में धर्म और विज्ञान का द्वन्द्व अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। विज्ञान चार्ल्स डार्विन की खोजों और प्रतिपादित मतों के आधार पर बढ़

रहा था। उसने जीव की उत्पत्ति के विषय में "जीव विकास का उद्गम" (Origin of Species) नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। जीव विकास के सिद्धान्त के अनुसार मानव बहुत सी अवस्थाओं को पार कर वानर के स्तर से होता हुआ अपने वर्तमान चरण—मानवता की अवस्था में पहुँचा। इस प्रकार मानव अपने मूल में एक प्राणी है, जो धीरे-धीरे जीवन के संघर्ष में सफल होकर विकसित होता जा रहा है। जहाँ एक ओर चार्ल्स डारविन के इस मत से बौद्धिक क्षेत्रों में काफी हलचल हो चुकी थी; वहाँ दूसरी ओर धर्म, जो बाइबिल को ही शक्ति का मुख्य स्रोत समझता था, इस वैज्ञानिक तत्व के आगे झुकना नहीं चाहता था। बाइबिल में कहा गया है कि ईश्वर ने मानव को अपनी अनुकृति के रूप में ही बनाया है; अतः वह सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी और प्रथम प्राणी है। दूसरी ओर आर्थिक जगत में भी बड़ी क्रान्ति हो चली थी। औद्योगिक क्रान्ति के कारण समाज में विषमतायें पनप रही थीं। एक ओर अधिक उत्पादन पर जोर देने के कारण कारखानों का उत्पादन अपनी चरमसीमा पर पहुँच रहा था, तो दूसरी ओर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगिता और बहुतायत से उत्पादन इन दोनों कारणों से देश में बेकारी बढ़ी और बाहर उपनिवेश बसाने का क्रम आरम्भ हुआ, जिससे बहुतायत से उत्पादित माल की खपत सहज सम्भव हो सके तथा बेकारी की समस्या भी हल हो सके। औद्योगीकरण के कारण शहरों में अमानुषिक स्थितियों में मजदूरों का रहना और गाँवों से शहर की ओर भागना, ऐसी सामाजिक विषमता अपने साथ ले आए जिससे गाँव और शहर का तालमेल टूट गया। निर्दयता, छोटे बच्चों का फैक्टरी में उपयोग करना, शोषण, आर्थिक दबाव, ये सब ऐसी सामाजिक विषमताएँ थीं जिनसे समाज की आत्मा आक्रान्त हो उठी। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप रईसों में यह चेतना जाग्रत होने लगी कि उनके प्रभुत्व का अब धीरे-धीरे ह्रास होगा और पूँजीपति और व्यापारी ही उनका स्थान लेने लगेंगे। उधर शिक्षा बढ़ने और आर्थिक विकास के कारण मध्यम वर्ग भी सबल हो चला, जिसका पूँजी पर आधिपत्य तो नहीं था, परन्तु पूँजीवादी और सर्वहारा वर्ग (मजदूर) के बीच की स्थिति में रहता था। यह वर्ग संस्कृति, कला तथा अन्य दार्शनिक एवं अधिभौतिक क्षेत्रों से अनभिज्ञ था और उसका कार्य केवल कमाना, खाना और चैन करना था। दूसरी ओर एक शोषित वर्ग था जो अपने दैनिक जीवन की वस्तुएँ जुटाने में ही सारा जीवन लगा देता था। उसे आत्मिक मानदण्डों का कोई ज्ञान नहीं था और तमस में वह खोया हुआ था।

इन सामाजिक विषमताओं और धर्म तथा विज्ञान के द्वन्द्व तथा उत्तरोत्तर आर्थिक विकास का मनोहारी दृश्य एक ऐसे द्रुतगामी परिवर्तन का दृश्य उपस्थित करता है, जिसमें कोई तथ्य अथवा कोई तत्व स्थिर नहीं लगता। न तो जीवन में

स्थिरता थी, न सिद्धान्तों में और न विश्वासों में। इस अस्थिर परिवेश में कवि का हृदय उस रक्तपात का बोध पाता है जो प्रकृति के केन्द्र में चलती आ रही है। वह उस तीक्ष्ण विषमता का अनुभव करता है जिसने समाज में ऐसे वर्ग उपस्थित कर दिए जो परम्परा और संस्कृति विरोधी थे। सामञ्जस्य का तो प्रश्न ही नहीं, ये विषमताएँ अपने केन्द्र पर रहते हुए आपस में टकराती हैं। परन्तु जो गम्भीर अनुभूति वाले और संवेदनशील चिन्तक नहीं हैं, वे इस उत्तरोत्तर विकास को एक आशाप्रद प्रवृत्ति मानते हैं। इस युग के दर्शन-शास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार हर वस्तु अपनी अपूर्णता से उठकर पूर्णता की ओर बढ़ती है। डारविन की जीवन विकास की विचारणा भी इस ओर इंगित करती थी कि मानवता आगे चलकर स्वयं में पूर्ण हो जाएगी और उस चरम-विकास के बाद उसकी अपूर्णता लोप हो जायगी। यह धारणा उन विचारकों, लेखकों, साहित्यिकों की थी जिन्होंने इस परिवर्तनशील विक्टोरिया-युग के समाज के आवरण को ही देखा था। यह स्वाभाविक ही था कि इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि सब वस्तुएँ जब अपने स्थान पर हैं, तब विकसित होते हुए पूर्णता के लक्ष्य को किसी समय प्राप्त कर लेंगी। इस युग के प्रमुख कवि राबर्ट ब्राउनिंग ने भी दो पंक्तियों में इस मानवता को बाँध लिया—

> "ईश्वर स्वर्ग में है और,
> जगत पूर्ण रूप से कुशल है।"

इस पृष्ठभूमि में मैथ्यू आर्नल्ड की समीक्षा अपना विशेष महत्व रखती है। मैथ्यू आर्नल्ड ने स्वच्छन्दतावाद के काव्य की सबसे बड़ी देन अर्थात् "गीतिकाव्य" के विरोध में अपना स्वर ऊँचा किया। उन्होंने इस विचार का समर्थन करके स्वच्छन्दतावादी युग की इस प्रवृत्ति को रोकना चाहा। उन्होंने कहा कि आज के युग में ग्रीक साहित्य की रीतिवादी (क्लासिकल) भावना का पुनर्जागरण साहित्य में अति आवश्यक है। मैथ्यू आर्नल्ड ने, जिस कथानक अथवा आख्यायिका को अरस्तू ने नाटक में प्रधान तत्व माना है काव्य में उसकी महत्ता पुनस्र्थापन पर अत्यधिक बल दिया, जिससे समीक्षा और काव्य दोनों ही मर्यादा के दायरे में चलते हुए व्यक्तिवाद को रोक सकें। उन्होंने तो अपनी कविताएँ भी ऐसी लिखीं जो किसी विषय विशेष पर आधारित हैं तथा किसी विचार का ही प्रतिपादन करती हैं। उनकी कविताओं में शुद्ध काव्य तत्व (Pure Poetry) नहीं था। वे किसी नैतिक विचारणा को प्रस्थापित कर अपनी कविता के माध्यम से पाठकों को उससे प्रभावित करने की दृष्टि से कविता में स्थान देते थे। या किसी विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण का वह अपनी कविता में इस तरह सन्निवेश करते थे, जिससे

काव्य के लक्षण और गुण तो दब जाते थे, परन्तु उस दर्शन विशेष की विचारधारा अथवा चिन्तन-धारा प्रमुख होती थी। काव्य इस तरह सामाजिक उत्थान या व्यक्ति के बौद्धिक स्तर को लक्ष्य करके लिखा जाने लगा। काव्य, यद्यपि गीति-काव्य का तरल और ललित स्वरूप नहीं रहा, परन्तु फिर भी, उसमें रीतिवादी (क्लासिकल) कविता का वह ठोसपन लाने का प्रयत्न किया गया जिसमें वस्तु-स्थिति तथा विषय का स्थान काफी ऊँचा रहता है। उन्होंने अपने समीक्षा सम्बन्धी व्याख्यानों में साहित्य और कविता को विशेषकर ऐसी परिभाषा में बाँधा—

"काव्य, अपने मूल में, जीवन की एक आलोचनात्मक अभिव्यंजना है।"
(Poetry at bottom is a criticism of life)

इस सारगर्भित उक्ति में बहुत कुछ निहित है, जो केवल एक काव्य-समीक्षक के सीमित क्षेत्र से बाहर की चीज है। इस परिभाषा में उन्होंने काव्य को समाज से इस तरह सम्बद्ध कर दिया जिससे वह सामाजिक चेतना में परिवर्तन करने का एक माध्यम हो। यहाँ "कला कला के लिए" एक निरर्थक नारा लगता है; क्योंकि जब कला अपने मूल में जीवन की आलोचना करती है तो जीवन से और उसकी वस्तु-स्थिति से किसी प्रकार पलायन नहीं कर सकती।

इस साहित्यिक परिभाषा के पीछे आर्नल्ड का एक सामाजिक दृष्टिकोण था जो शुद्ध-काव्य समीक्षा के परे है। उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि विज्ञान के द्वन्द्व के साथ धर्म अपने सर्वोत्कृष्ट स्थान पर टिका नहीं रह सकता। उसकी आधिभौतिक अपील दिनोंदिन क्षीण होती जायगी और विज्ञान की उत्तरोत्तर प्रगति। इसलिए एक ऐसे सम्बल का सहारा चाहिए जो धर्म की तरह ही मनुष्य में प्रबल आस्था उत्पन्न कर सके। उन्होंने कहा कि किसी संस्कृति का यह महान उद्देश्य होना चाहिए कि वह मनुष्य में "माधुर्य और प्रकाश" (Sweetness and Light) का सृजन कर सके। जब काव्य अपने मूल में समाज की आलोचना है, तब समाज से इस तरह सम्बद्ध होने के कारण उस पर समाज का जो प्रभाव पड़ेगा वह संस्कृति को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता। संस्कृति में जब माधुर्य और प्रकाश का सृजन काव्य के द्वारा होगा तब वह काव्य प्रेरित संस्कृति ऐसी होगी कि धर्म का धीरे-धीरे ह्रास होने तक मनुष्यों में विश्वास, आस्था तथा आधिभौतिक प्रेरणायें दे सके। माधुर्य और प्रकाश, ये दो अति प्राचीन संस्कृति के स्थूल प्रभाव हैं। माधुर्य तो बाइबिल में आई हुई उन भव्य वाणियों का प्रतिबिम्ब है जिनके पीछे एक आध्यात्मिक माधुर्य है; स्पन्दनशील संवेदना, करुणा और मानव समाज का हित है। ये धर्म की मूल प्रेरणायें बाइबिल की उत्कृष्ट शैली में उसे जीवित किए हुए हैं। इनके द्वारा ही कविता में अथवा अपने में ऐसा माधुर्य सृजित किया जा

सकता है जो आधिभौतिक चेतना भले ही न हो परन्तु उसके समानान्तर ही एक ऐसी चेतना है जो मानव हृदय में सत् को सबल किए है। वहाँ, दूसरी ओर, प्रकाश उस संस्कृति का गुण है जिसे हम प्राचीन 'ग्रीक संस्कृति' कहते हैं। इसमें भौतिक जिज्ञासा, दार्शनिक विचारणा, सत्य की खोज, 'अहं' की खोज ये सब ऐसे दार्शनिक दृष्टिकोण हैं जिनके समन्वय से ही मानव मन के लिए प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार काव्य में धार्मिक उद्गम और उससे होने वाली प्रेरणा एक प्राचीन सांस्कृतिक प्रभाव और उससे उत्पन्न होने वाले प्रकाश, ये दोनों ही मिलकर ऐसी संस्कृति की रचना करें जो काव्य के द्वारा अनुप्राणित हो रही हो। तब ही यह सम्भव है कि वर्तमान सामाजिक तथा नैतिक विषमताओं में, जब धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा हो, तब काव्य उसका स्थान धीरे-धीरे ले सकता है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने समाज में बढ़ती हुई पदार्थवादी मान्यता को लक्ष्य करके उस संस्कृति की भर्त्सना की। उन्होंने ऐसे वर्ग के लिए जो भौतिक, आधिभौतिक अथवा साहित्यिक अनुभूतियों से बिलकुल विलग है और केवल पदार्थवादी जीवन में ही लीन है, एक पारिभाषिक शब्द की रचना की; वह था 'फिलिस्टीन—(Philistine)"। यह उस वर्ग का द्योतक था जिसमें लोग भौतिक व्यापार, साहित्यिक चर्चाएँ और कलात्मक रचनाओं के प्रति न केवल उदासीन थे, वरन् अपने नकारात्मक रवैये से उनके रास्ते में व्यवधान से बन रहे थे। ऐसे वर्ग के विरोध में उन्होंने अपनी आन्दोलन शक्ति को प्रवृत्त किया, क्योंकि उनके मत में संस्कृति का उद्धार तभी हो सकता है जब इन संस्कृति विरोधी तत्वों को उसे भ्रष्ट करने से रोका जाय। संस्कृति में यही तत्व अराजकता फैलाता है।

समाज, संस्कृति और काव्य का इस तरह पारस्परिक सम्बन्ध आर्नल्ड ने पहली बार निरूपित किया। उन्होंने उस युग में यह बात पहली बार कही कि साहित्यिक मानदण्ड अपने समय की सांस्कृतिक दशा तथा सामाजिक परिस्थिति के प्रभाव से परिपूर्ण होते हैं। इसके अभाव में साहित्यिक समीक्षा पूर्ण नहीं होती।

यद्यपि मैथ्यू आर्नल्ड ने समाज और काव्य का सम्बन्ध स्थापित किया और समीक्षा के मानदण्ड और उद्भव के विषय में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को लेकर एक नई बात कही, परन्तु फिर भी न तो उनका काव्य में और न उनकी काव्यात्मक समीक्षा में कोई ऐसा प्रतिभावान तत्व मिलता है जिसके कारण वह मौलिक अथवा विशिष्ट हो। काव्य का समाज से सम्बन्ध प्रस्तावित करना और इस प्रकार व्याख्या करना कोई सूझ-बूझ का परिचय नहीं देता; क्योंकि काव्य की प्रणाली अलग है और समाज की अलग। फिर भी, गीतिकाव्य के विरोध में उन्होंने जो आवाज उठाई उसका अपना ही अलग महत्व है, जिस पर आगामी परिच्छेदों में विचार किया जायगा।

परिच्छेद—१०

## विशुद्ध कविता (Pure Poetry)-एडगर एलन पो
(सन् १८०६-१८४६)

वर्ड्सवर्थ के समीक्षात्मक सिद्धान्तों का विवेचन करते समय हमने यह देखा कि कविता में स्व-निःसृत भावना का वेग एक शान्त मनोदशा में स्मरण कर छन्दबद्ध करने से ही कविता का उद्भव होता है। इस प्रकार की वेगवती भावना हृदय के ही उद्गम से निकलती है। इसी को वर्ड्सवर्थ ने अन्यत्र भावावेग (Passion) भी कहा है।

मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्तों का अवलोकन करते समय हमने यह पाया कि उसने गीतिकाव्य के विरोध में समीक्षात्मक आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया और उसके स्वयं के काव्य में लम्बी वर्णनात्मक शैली, जो किसी एक विचार या दर्शन का वहन करती है, प्रयुक्त हुई है। कविता, उसकी दृष्टि में, एक ऐसा माध्यम हो गया जिससे किसी तत्व या विचार का वहन किया जा सके। यह समीक्षा समाज और उसकी संस्कृति से सम्बद्ध है और कविता के प्रति उस दृष्टिकोण का परिचायक है जो काव्य को धर्म का एक समान रूप मानता है। आर्नल्ड के समीक्षात्मक दृष्टिकोण में समाज, संस्कृति, विचार तथा विचारणाओं की प्रणाली सब, इस तरह काव्य की केन्द्रित शक्ति को दबाए हुए है कि कहीं-कहीं वह इन अकाव्यात्मक धारणाओं के अधीन प्रतीत होती है।

अब हम एक ऐसी नई विचारणा का विवेचन करें जो अमेरिकन कवि और आलोचक एडगर एलन पो ने प्रारम्भ की। इस कवि के सिद्धान्त का फ्रांस में बड़ा प्रभाव रहा। फ्रेंच कविता के तीन प्रमुख स्तम्भ—बोदलेयर (Baudlaire) वैलारे (Valery) और मलार्मे (Mallarme) एडगर एलन पो की काव्यात्मक विचारणा से विभिन्न कारणों से बहुत सीमा तक प्रभावित रहे। अंग्रेजी साहित्य में भी पो की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का, अभी हाल ही में, महत्व समझा जाने लगा है। वैसे, उसकी कविताएँ बहुत सीमा तक काफी लोकप्रिय हो चली थीं।

पो ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह है "विशुद्ध कविता" का सिद्धान्त। यह ऐसा सिद्धान्त है जो कविता को केवल अपने में ही सम्पूर्ण और स्वयं-निर्देशित मानता है। "कविता का लक्ष्य केवल कविता ही है।"—यह इस सिद्धान्त का सार है। यह किस तरह मैथ्यू आर्नल्ड की समीक्षा से भिन्न है, यह बात सरसरी निगाह से देखने में भी स्पष्ट हो जाएगी। पो के अनुसार कवि किसी विचार, विचारणा, तत्व अथवा प्रचार को वहन करने का माध्यम कभी नहीं हो सकता। वर्ड्सवर्थ के काव्य की परिभाषा से यह किस प्रकार भिन्न है इसे आगे चलकर चर्चा का विषय बनाया जायगा।

पो ने अपने प्रख्यात प्रबन्ध "काव्य सिद्धान्त" (Poetic Principle) के आरम्भ में ही यह कह दिया कि लम्बी कविता एक आन्तरिक विरोधपूर्ण शब्द है। लम्बी कविता वास्तव में छोटी-छोटी कविताओं का ऐसा स्वरूप है, जिसमें यह छोटी कविताएँ एक अन्तर से तथा कुछ समय से ही अपना ओज प्रदर्शित कर अभिव्यंजना के लालित्य में मुखर हो उठती हैं। सच्ची कविता तो वह है जो उच्च और घनिष्ठ भावना से ओत-प्रोत हो। काव्य की जो यह आन्तरिक शक्ति है कवि की उदात्त आत्मा से निःसृत होती है। यह उदात्त आत्मा जब उत्तेजना की स्थिति में होती है, तब ही कविता का निस्सरण होता है। जो कविता छोटी या लम्बी और बड़ी है, उसमें उत्तेजनात्मक स्थिति, जब काव्य के रूप में आत्मा को प्रेरित कर उत्पन्न होती है, तब सच्ची कविता, विशद्ध कविता को अपने सौष्ठव से आकृष्ट करती है। परन्तु उत्तेजनात्मक स्थिति, जो आत्मा की भव्यता से सम्बद्ध है, उसी अनुपात में कविता की श्रेष्ठता निश्चय कर पाती है जिस अनुपात में वह इस कविता में अपनी गहनता और घनिष्टता के साथ विद्यमान रहती है। ऐसे उत्तेजनात्मक क्षण भी कवि के जीवन में थोड़े ही होते हैं और इस उत्तेजनात्मक अवस्था के समय कविता उदात्त आत्मा से निःसृत होती है, तब ये और भी थोड़े होते हैं। उनका प्रमुख रूप एक प्रगाढ़ अंक तब बन जाता है जब कवि इसकी एक ही मूड (Mood) अथवा चित्तवृत्ति में रचना करता है। यह एकरस, एक चित्तवृत्ति, एक ही काल सम्पुट में अंकित उस सर्जनात्मक प्रक्रिया का स्वरूप है जो कवि की आत्मा की उत्तेजनात्मक दशा में अनुभव किया जाता है।

कुछ आलोचक लम्बी कविता के समर्थन में यह कह सकते हैं कि यदि ऐसी लम्बी कविता में आदि, मध्य और अन्त हों और कलात्मक छवि का ऐक्य रहे, तब भी यह अपने में सम्पूर्ण एक कविता है, न कि भिन्न अन्तर से अभिव्यंजित छोटी-छोटी कविताएँ। पो इसके उत्तर में कहता है कि यह दृष्टिकोण दोषपूर्ण है; क्योंकि यदि हम इस लम्बी कविता को एक सम्पूर्ण इकाई मानें, भले ही इसमें कलात्मक

आरम्भ, मध्य और अन्त हों, तब इसको आद्योपान्त पढ़ने की अवधि में हमें उतार-चढ़ाव तथा भावनाओं की उदारता और निम्नता दोनों ही के अनुभव होंगे। इस तरह के उतार-चढ़ाव से एक ऐसा भावनात्मक मिश्रण तैयार हो जाएगा जिससे रस की प्रधानता उसकी इकाई के आस्वादन में ही नष्ट हो जाएगी। अतः लम्बी कविता एक स्वयं अन्तर-विरोधी विचारणा है और केवल छोटी या इस अनुपात की कविता जिसमें घनिष्ठ रूप से कवि की उदात्त उत्तेजनात्मक आत्मा की अभिव्यंजना है—वही विशुद्ध कविता है।

इस दृष्टिकोण से महाकाव्य का मूल्यांकन उसके उदात्त आंशिक अंशों पर ही आधारित रख कर किया जा सकता है। महाकाव्य की अनुकृति में जो बड़े काव्य आजकल लिखे जाते हैं उनका महत्व इसलिए घट जाता है कि बड़े अन्तर के साथ और केवल कभी-कभी ही, ऐसी अभिव्यंजना मिलती है जहाँ विशुद्ध कविता अपनी घनिष्ठता के साथ विद्यमान हो। पो का यह कथन कि विशुद्ध काव्य, महाकाव्य या लम्बी वर्णनात्मक कविता का विरोधी है, एक साहित्यिक वाद-विवाद का जनक हो गया। विशेषकर अंग्रेजी साहित्य में, जहाँ मिल्टन के महाकाव्य में लोगों की महान आस्था है, पो की इस विचारणा को लेकर मतभेद हुआ और उसका प्रभाव अपने प्रारम्भिक काल में करीब-करीब नहीं के बराबर रहा।

इसका अर्थ यह नहीं कि पो यह कहता था कि बहुत ही छोटी कविता ही आदर्श और विशुद्ध कविता है। बहुत ही छोटी कविता कोई गम्भीर और स्थायी प्रभाव पैदा नहीं कर सकती। उसमें केवल बौद्धिक चमत्कार और चुभते चौपदे ही लिखे जा सकते हैं।

अपने इस सिद्धान्त का केन्द्रीभूत विचार पो ने इस प्रकार प्रस्तुत किया। उसके अनुसार यह प्रचलित धारणा, कि काव्य विचारों के वहन करने का एक माध्यम है और उससे समाज को उपदेश या शिक्षा मिल सके, एक ऐसी भ्रान्ति है जो काव्य के उद्देश्य से टकराती है और उसे अपने विरोधाभास से विमुख करने की चेष्टा करती है। उसने यह कहा कि कुछ समीक्षकों का यह विचार, कि काव्य सत्य की खोज से सम्बद्ध है और सत्य के द्वारा ही उसको प्रेरणा मिलती है, एक नितान्त भ्रान्त धारणा है। सत्य का काव्य से बहुत ही अपरोक्ष सम्बन्ध है। काव्य केवल अपने ही लिए है और वही स्वयं का लक्ष्य है। यह न तो सत्य से प्रेरित है न सत्य ही इसका लक्ष्य है। न यह शिव की भावना से प्रेरित है और न शिव ही इसका लक्ष्य है। केवल काव्य ही अपना लक्ष्य है, क्योंकि यह कवि की उदात्त आत्मा की उत्तेजनात्मक अभिव्यंजना है, जो अपने अन्तर और बाह्य में उस परम सौन्दर्य (**Ideal Beauty**) की वास्तविक खोज है जो इन्द्रियातीत होते हुए भी इन्द्रियों

के द्वारा आँका जाता है। सत्य की खोज के लिए चित्त को जिस एकाग्रता, निष्पक्षता और अनुत्तेजित वृत्ति में रहना चाहिए, वह स्थिति काव्य की रचना करते समय कवि के मस्तिष्क में नहीं होती।

सत्य की खोज का सम्बन्ध बुद्धि से होता है। सत्यान्वेषी और काव्य के रचयिता ये अलग-अलग लक्ष्यों से प्रेरित होते हैं। सच पूछा जाए तो काव्य के अन्वेषण में लगा हुआ मानव का मन और चित्त दोनों ही काव्य की प्रेरणा से रचनात्मक कार्य में लगे हुए मानव के मन और चित्त के बिलकुल विरोध में हैं। इसलिए सत्य और काव्य में जो समन्वय या सामञ्जस्य ढूँढने की कोशिश करते हैं, वे भटक जाते हैं। एडगर एलन पो ने मानसिक जगत की तीन मुख्य वस्तुएँ बतलाई हैं—पहली है विशुद्ध बुद्धि, दूसरी है रस और तीसरी है नैतिकता। ये तीनों ही क्षेत्र मानव मस्तिष्क को विभाजित किए हुए हैं और तीन विभिन्न प्रणालियों द्वारा संचालित हैं। पो ने इन तीन में से 'रस' को (Taste), जिससे अभिरुचि का निर्माण होता है, उनके केन्द्र में रखा है। रस केन्द्र में इसलिए है कि यह सत्य और नैतिकता से कार्य-कारण के रूप में सम्बद्ध नहीं है और न ही इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। यह सत्य से बहुत ही दूर से और केवल अप्रत्यक्ष रूप से सत्य की ओर आकृष्ट है, और वह भी अपने कारणों से। नैतिकता से भी यह प्रत्यक्ष रूप से दूर है, यद्यपि नैतिकता के कुछ गुण इसमें भी पाए जाते हैं, परन्तु नैतिकता की मूल शक्ति से यह प्रथक है। फिर प्रश्न हो सकता है कि 'रस' (Taste) मध्य में क्यों रखा जाकर ऐसा प्रदर्शित किया जा रहा है कि न तो सत्य से यह सम्बद्ध है और न ही नैतिकता से, जबकि यह तीनों प्रवृत्तियाँ मस्तिष्क से ही संचालित प्रक्रियाएँ हैं। उत्तर यह है, कि 'रस' इसलिए केन्द्रीभूत है, क्योंकि यह मानव मन को उस परम सौन्दर्य के लिए तत्पर करता है जिनकी अनुभूति न तो विशुद्ध बुद्धि के द्वारा हो सकती है और न केवल नैतिकता के द्वारा। नैतिकता हमारे धर्म और कर्त्तव्य से हमें अवगत कराती है और शुद्ध बुद्धि हमें सत्य का अन्वेषण करने के लिए प्रेरित करती है। नैतिकता से हमें अपने कर्त्तव्यों का आभास दैनिक जीवन में होता है और दैनिक जीवन में ही शुद्ध बुद्धि हमें उपादेयता का पाठ पढ़ाती है। यह दोनों ही प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार में उपादेयता को मानदण्ड मानकर, हमारे जीवन को उस ओर मोड़ देती हैं। इसलिए मानव या तो चिन्तक हो सकता है अथवा उपयोगिता वाद से प्रेरित होकर केवल उपयुक्त तथ्यों को खोजनेवाला। परन्तु, दूसरी ओर यह रस की शक्ति है जो हमें उस परम सौन्दर्य की अनुभूति देती है, जो दैनिक व्यवहार में आने वाली उपादेयता से बिल्कुल ही स्वतंत्र है। यह इन आकर्षणों और मोहकताओं के द्वारा हमारे मन को दैनिक जीवन के संघर्षों, उपादेयता से युक्त असंस्कृत प्रवृत्तियों, और उथली भावनाओं से ऊपर उठाकर

उस परम मोहक का दर्शन कराती है जिससे हमारा मन स्वस्थ, संतुलित और स्वयं में आनन्द मग्न हो जाता है। रस की शक्ति उन समस्त विकृतियों पर आक्षेप और वार करती है जो असंतुलित, बेढंगे, कुरूप, अनुपातहीन तथा जीवन में विरोधी हैं। रस, जो सौन्दर्य के दर्शन का माध्यम है, कुरूपता का शत्रु है, और कुरूपता एक ऐसा दोष है जो विकृति, असंतुलन, अनुपातहीनता और बेडौलपन में विद्यमान है। इसलिए जब कवि अपने सौन्दर्यपूर्ण जगत से कुरूपता को बहिष्कृत करता है तो वह अपने मानदण्ड से उस विकृति को निकालता है जो उसकी दृष्टि में दोष है। सौन्दर्य, जो एक दैवी अनुभूति है, केवल क्षणों में और विलय होने वाले दर्शन में ही इन्द्रियों से अनुभव या स्पर्श की जा सकती है। इसलिए जो कवि इस सौन्दर्यजनित आनन्द से, विभोर हो जाता है, तब सारे बेडौल तत्व, सारी अनुपात-हीनता और सारा असंतुलन उसे उस दोष की तरह मालूम होता है जो सौन्दर्य पर आक्षेप या वार इस प्रकार कर रहा हो, जैसे पाप-पुण्य पर।

मानव मन की समस्त चेष्टायें और संघर्ष इस लक्ष्य से प्रेरित हैं कि उस दैवी सौन्दर्य का स्पर्श और अनुभव, जो कितना ही क्षणिक क्यों न हो, किया जाय; जिससे जीवन में एकरसता, तन्मयता और आनन्द सृजित हो, जो उपादेयता और बुद्धि जनित तत्वों से अलग हो।

इस संघर्ष में रत कवि उस छवि को अपने छन्द में अंकित करने का प्रयत्न करता है तब उसकी आत्मा उदात्त भावना से भर जाती है और उत्तेजना के उन क्षणों में वह महान सौन्दर्य का क्षण अनुभव करता है। इस एकरस में उसे एक ही चित्तवृत्ति (Mood)बनाए रखनी होती है। एकरस और एक चित्तवृत्ति की ही पकड़ में वह क्षणिक दर्शन आ सकता है। इसलिए कविता में यदि यह घनिष्ठ अनुभूति, एक रस और एक चित्तवृत्ति में पिरोकर अभिव्यंजित होगी तभी वह कविता स्वयं में पूर्ण कला होगी।

यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि पो ने कविता को आत्मा से बहने वाली धारा बतलाया है, न कि हृदय से। हृदय से केवल मनोवेग का प्रवाह हो सकता है तथा मनोवेग उस उदात्त आत्मा द्वारा रचित भव्यता से बहुत ही भिन्न है। यह तथ्य इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि हृदय से जो आवेग फूटकर कविता में बहता है उसमें वह गहराई और लालित्य नहीं होता जो 'महान् सौन्दर्य' के प्रधान तत्वों में होना चाहिए। हृदय से जिस मनोवेग का संचार होता है, उसमें ज्वार होता है। ऐसा प्रवाह कविता को नीचे की ओर ले जाता है। इसमें कवि के व्यक्तिगत अनुभवों, उसकी स्वयं की आशा-निराशाओं तथा उसकी अपनी सफलताओं-असफलताओं से जनित उद्वेग और मनोवेग हृदय के विकार के रूप में प्रवाहित हो,

कविता में समा जाते हैं। यह व्यक्तिगत अनुभूति अब भी उस परम सौन्दर्य की आत्म-जनित अनुभूति से तादात्म्य नहीं स्थापित कर सकती; अतः जिस स्वच्छन्दतावादी कविताओं में मनोवेग या भावनायें हृदय प्रधान हैं तो कवितायें मानव मन की उस महान संघर्षशील प्रवृत्ति से विलग हैं, जिसके द्वारा ही हम महान सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं।

इसलिए जिस कविता में ऐसा परिवेश है और अलंकारों का ऐसा बाँध है कि उस सीमा के अन्दर केवल महासौन्दर्य का साम्राज्य कण-कण में छाया रहता है, तो उस कविता के सार-तत्व उस महान सौन्दर्य के अक्षुण्ण प्रभाव के अन्तर्गत कार्यशील रहेंगे। यही वह प्रधान स्थिति है जो अपने रंग से कविता की हर वस्तु को रँगे हुए है। कविता का विषय कुछ भी हो, वह किसी तत्व या प्रणाली या विचार के वहन का माध्यम नहीं है। वह तो एक स्वयं में पूर्ण जगत है जिसके समान वातावरण में महान सौन्दर्य की आभा चाहे कितनी भी उच्च कला के लिए क्यों न हो, वहाँ समा गई है। यह आभा कवि की दृष्टि में उसकी आत्मा के माध्यम से उतर कर आई है न कि हृदय से। इसलिए उसमें वह गम्भीरता और विचारों की गहनता, जो विस्मय और भय मिश्रित है, होती है और जो हृदय की व्यक्तिगत अनुभूति में नहीं होती। इस एक रहस्यमयता के लिए यह आवश्यक है कि कवि इसे ही अपना लक्ष्य समझे, किसी दूसरे तत्व को नहीं।

पो ने कविता को सौन्दर्य की वह रचना कहा जो लयात्मक है। यह एक ऐसी शक्ति है जो यदि शब्दों में वर्णित हो तो कविता बन जाती है। यही शक्ति चित्रांकन में है; यही स्थापत्य कला में है; यही संगीत में है और नृत्य में भी यही है। ये सारी ललित कलायें एक ही रुझान से प्रेरित हुई हैं, एक ही केन्द्रित स्फुरणा से अनुप्राणित हैं। नृत्य के छन्द में, अथवा रंगों के लालित्यपूर्ण सम्मिश्रण में, या शिल्पी की सुडौल, संतुलित और गम्भीर अन्तरभेदी रेखाओं में या संगीत की आत्म विभोर करने वाली शक्ति में इस आत्मा का ही स्वरूप है।

मानव का यह संघर्षशील यत्न जिससे वह 'महान सौन्दर्य' की एक झलक मात्र पाना चाहता है, उसके आनन्द को लक्ष्य करके प्रभावित होने वाली आत्मिक प्रवृत्ति का एक अंग है। अपनी अमरता मानव कभी नहीं भुलाना चाहता। इस अमरता के क्षण उस महान सौन्दर्य के क्षणिक स्पर्श में मिल जाते हैं। यह दैवी इन्द्रियजनित सार्वभौमिक, विश्वकस्वरूप (Universal) महान सौन्दर्य उसे जब स्पर्श करता है तब ही वह अपनी रचना में उस अवैयक्तिक, परन्तु सौन्दर्य से पृथक्, ऐसा ओज वातावरण में उत्पन्न कर देता है जिसके अधीन सारी छोटी वस्तुएँ, घटनायें, भावनायें अपना विलगपन, छोटापन और घटियापन खो देते हैं,

और उस प्रकाश में सीमाहीन से प्रवाहित मालूम होते हैं जो महान सौन्दर्य का ही दूसरा नाम है। इसलिए हृदय के स्थान पर उदात्त आत्मा अपनी उत्तेजित अवस्था में ही यह अनुभूति कवि को प्रदान करती है जिससे उपयुक्त वातावरण उसकी कविता में आ जाता है। अतः विशुद्ध कविता वह है, जो केवल सौन्दर्योन्मुखी हो, जिसका स्वयं का साम्राज्य हो, जो किसी अन्य तत्व या वस्तु का माध्यम न हो, जो आत्म-जनित हो, जिसकी उत्तेजना आनन्द की जननी हो।

कविता की इस परिभाषा ने फ्रेंच कविताओं को एक नया मोड़ दिया। जब पो ने कहा कि कवि का महान सौन्दर्य की अनुभूति में लीन होना इस बात का द्योतक है कि वह पाप के, जो महान सौन्दर्य का शत्रु है, विरोध में खड़ा हो सकता है; और "पाप" इस सन्दर्भ में केवल उन विकृतियों और कुत्सित तथा बेडौल भावनाओं या वस्तुओं की ओर इंगित करता है जो सौन्दर्य के भाव में  स्वतः ही उत्पन्न हो जाते हैं। "पाप" इस तरह नैतिक अथवा धार्मिक पाप से अलग है। यह दुष्प्रवृत्ति है, जो विकृति का ही दूसरा नाम है। इसका ही प्रभाव फ्रांस के कवि बोदलेयर (Baudlaire) पर हुआ और उन्होंने अपने जीवन में पाप और पुण्य की खोज में यही मानदण्ड अपनाया कि कौनसा  सौन्दर्य और असौन्दर्य जीवन के क्षेत्रों को प्रथक् किए हुए है। "कविता कविता के लिए" है ही परन्तु उसमें यह एक नैतिक भावना, जो इस प्रकार की प्रचलित नैतिकता से अलग है, पो की परिभाषा के स्वरूप उत्पन्न हो जाती है। यह कलाकार की नैतिकता है जो महान सौन्दर्य के मानदण्ड से शिव और अशिव की विचारणाओं को अलग-अलग कर, जीवन को उनसे माप सकती है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा था, किसी कवि के लिए एक सुन्दर संसार में पैदा होना एक ऐसी देन है जो उसे उपयोगी सिद्ध हो सकती है। परन्तु यथार्थ में केवल सुन्दर जगत में, या सुन्दर जीवन में, अथवा सुन्दर समाज में पैदा होकर ही कवि सुन्दर कवितायें नहीं कर सकता। जिस महान सौन्दर्य के लिए उसकी काव्य प्रतिभा सक्रिय है और संघर्षशील है वह इस तरह सहज ही नहीं पायी जाती। महान सौन्दर्य के इस सन्दर्भ में कलाकार का पाप और पुण्य का सिद्धान्त, जो सुन्दर और असुन्दर का सिद्धान्त है, जब तक कवि नहीं अपनाता तब तक उसमें वह संघर्षशीलता नहीं आ सकती और यही संघर्षशीलता उसकी रचनात्मक प्रवृत्ति का केन्द्र रूप है। जीवन में सुन्दर-असुन्दर, शिव और अशिव, पाप-पुण्य इन दोनों के द्वन्द्व के बीच ही जब महान सौन्दर्य को तपस्वी कलाकार जीवित रहकर असुन्दर से सुन्दर तथा अशिव से भी शिव तत्व इत्र की तरह खींचकर ले आता है, तभी उसकी कविता में आत्मिक सौन्दर्य का परिवेश बन सकता है। इस प्रकार की विशुद्ध कविता की सिद्धान्त-परम्परा एडगर एलन पो ने स्थापित की और वर्तमान सदी में वह एक बहुचर्चित विषय बन गई।

परिच्छेद–११

## स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) विरोधी नयी धारा–ह्यूम

स्वच्छन्दतावादी युग का आरम्भ वर्ड्सवर्थ, ब्लेक और कोलरिज की कविताओं से हुआ था और तत्कालीन समीक्षा पर इन कवियों का गहरा प्रभाव भी रहा। परन्तु इस युग की मुख्य धारा केवल उस ऐतिहासिक युग तक ही सीमित नहीं रही। कल्पना केन्द्रित कविता, जिसमें भाव और चित्र-कल्प (Image) सादृश्य से एकाकार हो जाते हैं, उन्नीसवीं सदी के अन्त तक प्रभावशील रही। विक्टोरिया युग में भी सामाजिक उद्वेलनों की पृष्ठभूमि में कविता करीब-करीब उसी से प्रेरणा पाकर प्रवाहित होती रही। समीक्षा में मैथ्यू आर्नल्ड ने संस्कृति के तत्व को प्रविष्ट कर, काव्य को विचार के वहन का माध्यम बना दिया। कवि हृदय, दूसरी ओर काव्य की रस धारा का मूल स्रोत माना गया। इस तरह एक प्रकार की झिल-मिलाहट के तट से समीक्षा और काव्य की अस्पष्ट रूपरेखा दीख पड़ती थी।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में पहले महायुद्ध (१९१४-१८) की अवधि में और उसके तुरन्त बाद, काव्य के इस अस्पष्ट, ढुलमुल और अस्थिर स्वरूप के प्रति कुछ साहित्यकारों ने ध्यान देना आरम्भ किया। उनमें टी० ई० ह्यूम (T. E. Hueme) मुख्य थे। वे एक नई विचारधारा के प्रवर्त्तक हुए।

ह्यूम कुछ फुटकर कवितायें और एक गहन अध्ययनशील ग्रन्थ 'स्पेकुलेशन्स' (Speculations) ही लिख पाए। वे प्रथम महायुद्ध में १९१७ में मारे गए। अपने जीवन के इस छोटे से समय में ही उन्होंने एक गहन प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का परिचय दिया और एक ऐसे साहित्यिक आन्दोलन को जन्म दिया, जिसने वर्तमान काव्य के महारथियों को भी प्रभावित किया।

इसके पहले कि ह्यूम की समीक्षात्मक विचारणा पर विवेचन किया जाए उसके केन्द्रीभूत दर्शन पर ध्यान देना आवश्यक है।

ह्यूम ने यह प्राथमिक तथ्य अपनी विचार-व्यवस्था में नींव के रूप में रखा कि स्वच्छन्दतावादी प्रधान धारा, न केवल साहित्य में, वरन् दर्शन, राजनीति, सामाजिक विचार और संस्कृति में भी पूरी तरह प्रवेश पा चुकी थी। इस स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) धारा के साथ ही, मानववाद (Humanism) की वह धारा भी जो दसवीं सदी से और भी अधिक प्रबल हो गई थी। स्वच्छन्दतावादी धारा और मानववाद दोनों ही अनर्गल विचारणायें सिद्ध हो रही हैं, जिनके कारण मानव जीवन और उसकी साहित्यिक उपलब्धियाँ अस्थिर और अनर्थपूर्ण होती जा रही हैं।

टी० ई० ह्यूम के अनुसार उन्नीसवीं सदी आर्थिक और सामाजिक प्रगति, औद्योगिक क्रांति और वाणिज्य के विस्तार के साथ आराम की चीजें और पदार्थवादी जीवन की मान्यतायें लेकर आई। हरबर्ट स्पेन्सर ने ब्रह्माण्ड की जो विचारणा प्रस्तुत की, उसमें यह दर्शाया गया है कि हर वस्तु, चाहे वह जीवन हो अथवा प्रकृति, एक पूर्व निर्धारित विधान के अनुसार चलती है। इस तरह ब्रह्माण्ड एक मशीन की तरह लगने लगा। कुछ विचारकों ने यह भी देखा है कि जीवन और प्रकृति एक तारतम्य में हैं। जीवन को उन्होंने इतना महत्व देना आरम्भ किया कि उसे 'सम्पूर्ण' (Absolute) का ही एक स्वरूप समझा जाने लगा। ऐसे चिन्तक यह भूल गए कि जीवन और प्रकृति एक ओर ऐसी शक्तियाँ हैं जो 'सम्पूर्ण—(Absolute)' की श्रेणी में नहीं आतीं। उनका कितना ही बड़ा वैभव और ऐश्वर्य क्यों न हो, वह अनन्त नहीं हैं। इस भ्रान्त विचारधारा के अनुसार मानव में दैवी तत्व देखा जाने लगा और उसका जीवन परब्रह्म की ही एक झलक समझा जाने लगा। इस तरह, जो वस्तु अपने स्वभाव से ही नाशवान है, वह परब्रह्म की सम्बद्ध भावना से ओतप्रोत बतलायी जाने लगी। यथार्थ में जीवन या जीवनशक्ति उस क्षेत्र की है, जिसे हम अब्रह्म (Non-Absolute) कहते हैं। परब्रह्म (Absolute) की परिधि में आने वाली जो मानवीय मान्यतायें हैं, वे धर्म और नैतिकता से सम्बद्ध हैं। प्रकृति अथवा जीवन शक्ति का क्षेत्र, तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण अथवा परब्रह्म का क्षेत्र, इन दोनों को, अलग-अलग रखने से ही किसी समाज की सन्तुलित प्रगति सम्भव है; क्योंकि जो क्षेत्र धर्म और नैतिकता का है उसमें वही आस्थायें, विश्वास और मान्यतायें लागू होंगी जो किसी सम्पूर्ण (Absolute) की विचारणा पर होती हैं। दूसरी ओर जीवन-शक्ति, जो सम्पूर्ण नहीं है, उन मानदण्डों से मूल्यांकित होगी जो इसकी अवस्था के अनुसार हैं। यदि जीवन शक्ति के मानदण्ड से धर्म और नैतिकता का मूल्यांकन किया जाने लगे, तो विचार में, आत्मा में एक प्रकार की दरार पड़ जायेगी।

मानववाद इस प्रकार का एक प्रयास है, जो यह समझता है कि मानवीय मस्तिष्क की अनन्त शक्ति है और वह किसी भी चरम सीमा तक प्रगति कर पहुँच सकता है। मानव मस्तिष्क की निहित शक्तियाँ ही मानववाद की मुख्य सीढ़ी है। मानववाद (Humanism) इस तरह मानव मस्तिष्क को एक अनन्त की मान्यता से मण्डित करता है। इस प्रकार जो क्षेत्र 'ब्रह्म' या 'सम्पूर्ण' का है, उसी क्षेत्र में जीवनशक्ति का क्षेत्र आकर मिला दिया जाता है। इससे ही एक अस्थिरता, विचारों में अस्थायित्व, और जीवन में एक अनजानी बेचैनी आने लगती है; क्योंकि आत्मा और मस्तिष्क दोनों ही पृथक-पृथक हैं।

मानववाद की कसौटी पर यह बात स्पष्ट उतरती है कि मानव मस्तिष्क की अपरिमित शक्तियाँ होने के कारण, वे कुछ भी और कहीं तक भी बढ़ने की सामर्थ्य रखती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव स्वभाव भी अपने अन्दर ऐसी शक्तियों को लिए हुए हैं जो निरन्तर वृद्धि की ओर अग्रसर हैं। जहाँ एक ओर धर्म और नैतिकता यह सिखाते हैं कि मानव स्वभाव अपने मूल में पशु-स्वभाव है, और उस पर प्रतिबन्ध उचित है, वहीं दूसरी ओर मानववादी यह कहते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो; क्योंकि उसकी निहित शक्तियाँ हैं, और अपरिमित सम्भावनायें हैं। जहाँ एक ओर धर्म कहता है कि मानव-स्वभाव बिल्कुल ज्यों का त्यों है और नितान्त सीमित है, वहीं दूसरी ओर मानववादी कहते हैं कि मानव स्वभाव उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ एक दिन परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। इन दो परस्पर विरोधी विचारणाओं के कारण वह भ्रान्ति जन्म लेती है जो जीवनशक्ति के क्षेत्र को परब्रह्म के क्षेत्र से मिश्रित करने से उत्पन्न होती है।

स्वच्छन्दतावादी युग का प्रमुख वाद इस मानववाद से बहुत सीमा तक प्रभावित है। स्वच्छन्दतावाद मानव स्वभाव की निहित सम्भावनाओं और अपरिमित शक्तियों को समझता है, और उनका ही आधार लेकर वह ऐसे साहित्य या विचार-व्यवस्था का निर्माण करता है जो इसके अनुरूप है। इस कारण स्वच्छन्दतावादी युग के प्रमुख वाद में उस भविष्य की एक ऐसी अस्थिर कल्पना होती है जिसमें मानव स्वभाव सम्पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हो सकता है। यह स्वच्छन्दतावाद ही है जिसे दूरस्थ वस्तुएँ दूरी के कारण ही सुन्दर लगती हैं। यही वह स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) दृष्टिकोण है, जिसके कारण आँखों को बहुत दूर स्थित पर्वत की छटा, ऊदी-ऊदी और भली लगती है; जब कि वह निकटता से देखने पर चाहे पथरीली और ऊबड़-खाबड़ ही क्यों न मालूम हो। इस तरह दूरी, और दूरी से देखे गए लालित्य का सम्बन्ध स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) के मूल में

है। साहित्य में और विचारणा में यह सम्बन्ध मानववाद के कारण भी उत्पन्न होता है क्योंकि वह मानववाद भविष्य में सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिए मानवीय प्रयत्नों में विश्वास करता है।

टी० ई० ह्यूम ने इस तरह स्वच्छन्दतावादी युग की प्रमुख धारणाओं के विरोधी आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया। उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि मानव स्वभाव अति सीमित है, और वह उसी प्रकार का है जो मानव के उद्भव के समय था, इसलिए इसकी सीमा के अन्दर ही हमें उन विचारणाओं और मान्यताओं को स्थान देना चाहिए जो जीव-शक्ति (Vital) और परब्रह्म (Non-Vital Absolute) के क्षेत्र को मिश्रित न करके अलग-अलग रखती हैं और उनका उपयुक्त मानदण्डों से परीक्षण अथवा लेखा-जोखा करती हैं। यदि ऐसा हुआ तो साहित्य में रचनायें एक सन्तुलित और अनुशासनबद्ध स्वरूप पा सकेंगी। अस्पष्टता, भाववाद और स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) युग की हृदय-केन्द्रित भावनायें अब लोप होकर ऐसी साहित्यिक परम्परा को जन्म देंगी जो प्राचीन समय के रीतिवाद (क्लासिकल वाद) से बहुत साम्य रखती हों।

ह्यूम का कथन था कि कविता ऐसी हो जो स्पष्ट रूप से नुकीली हो, अर्थात् उसमें चित्र-कल्प एक गहरे अंकित चित्र की तरह हो। काव्य में वह लचीलापन या अस्थिरता लिए हुए झिलमिलपन न हो जो स्वच्छन्दातावादी कवियों में होता है। उसके स्थान पर कविता के परिवेश में एक गहन शुष्कता, जो आनन्दमयी हो, विद्यमान रहे। टी० ई० ह्यूम के प्रभाव ने एक ऐसे साहित्यिक सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसे "चित्रकल्पवाद" (Imagism) कहते हैं। इस सम्प्रदाय में कवि अपना मुख्य कार्य यह समझता है कि जीवन की किसी भी झलक को, उसके क्षणिक प्रदर्शन में, इस तरह बाँध ले कि वह क्षणिक आभास मूर्तिमान हो उठे; यही मूर्ति चित्रकल्प में इस रूप से निकली हो कि उसकी पूर्णता कला की पूर्णता हो। इस सम्प्रदाय से प्रभावित लेखकों ने जब कवितायें लिखना आरम्भ किया तो आन्दोलन का रूप थोड़ा बदला, पर बुनियादी रूप से वह वही रहा। ऐसे लेखक अब अपनी रचना का उद्देश्य इस प्रकार प्रदर्शित करने लगे—

(१) शब्दों का उपयोग अपने उपयुक्त स्थान पर हो, यह नहीं कि शब्द अलंकार की भाँति शैली में जड़ दिए जायँ। ऐसे शब्द रोज की बोल-चाल की भाषा के हों।

(२) ऐसी नई प्रकार की लय का कविता में निर्माण हो, जो रूढ़िवादी छन्दशास्त्र से अलग हो। यहाँ मुक्त कविता (Vers Libre) की ओर इंगित है।

(३) विषय के लिए पूरी छूट हो कि कवि किस प्रकार लिखे ।

(४) चित्र-कल्प प्रस्तुत करना । इसमें विवरण को ठीक रूप से सँवार कर वस्तुस्थिति द्वारा अंकित किया जाय और सब प्रकार की अस्पष्टता और झिलमिलाहट का अन्त किया जाय ।

(५) ऐसे काव्य का सर्जन हो जो कठिन हो और स्पष्ट हो तथा जो अनिश्चित या धब्बेदार न दिखे ।

(६) काव्य का मुख्य कौशल इसमें है कि किस तरह ध्यानावस्थित होकर काव्य की रचना हो । इसलिए काव्य-कौशल में एकाग्रता (Concentration) का महत्व है । इस एकाग्र चित्रण का अर्थ यह है कि कविता में किसी चित्र-कल्प को बनाकर, सँवारकर, जीवन्त कर प्रस्तुत किया जाय । उसमें अधिक व्यंजना का प्रसार या विस्तृतीकरण न हो ।

कविता के इस सम्प्रदाय ने विशेषकर आगे चलकर एज़रा पाउण्ड नामक एक महान कवि के नेतृत्व में प्रगति की । इसने टी० एस० ईलियट जैसे कवियों को भी प्रारम्भिक अवस्था में प्रभावित किया था । इसकी विशेष महत्ता इसमें है कि अब तक लिखी जाने वाली कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रभाव था, जिसके कारण उसमें एक धुँधलापन, एक अस्थिरता और विस्तार के कारण उत्पन्न होने वाला छिछलापन होता था, वह इस आन्दोलन के कारण धीरे-धीरे समाप्त होने लगा ।

ह्यूम का अपना विचार यह था कि काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसका विषय काव्यात्मक ही हो । इस उक्ति में आर्नल्ड के उस तर्क का खण्डन है जो उसने कविता को विचारों का वहन करने के माध्यम के विषय में कही थी । मैथ्यू आर्नल्ड ने जिस भव्यशैली (Grand Style) की कल्पना की थी, उसमें ऐसे ही विषय कविता में समावेश पा सकते थे जो उदात्त भावना से पूर्ण हों । ह्यूम ने इसका विरोध करते हुए कहा कि काव्य में किसी भी विषय पर प्रतिबन्ध न हो । जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जो कविता के क्षेत्र में वर्जित हो । यह एक क्रान्तिकारी विचारणा थी; क्योंकि आगे चलकर जब नयी शैली की आधुनिक कविता लिखी जाने लगी तब उसमें काव्यात्मक अथवा अकाव्यात्मक विषय का भेद नहीं रहा । सुन्दर और असुन्दर वस्तुएँ जीवन में होती हैं । प्रकाशमान और अन्धकारयुक्त पक्ष भी होते हैं । काव्य का यह प्रयत्न होना चाहिए कि जीवन को उसकी समष्टि में अँकित करने का प्रयास करे और उस जीवन को काव्यात्मक और

अकाव्यात्मक विषयों के क्षेत्रों में विभाजित नहीं करना चाहिए। कोलरिज द्वारा की गई कल्पना की परिभाषा, जिसे उसने कल्पना-तरंग (Fancy) से भिन्न माना है, ह्यूम को ग्राह्य नहीं है। ह्यूम ने इस बात पर वल दिया कि जो भावना कविता में प्रस्तुत की जाय उसमें एक नुकीलापन हो, कठोर स्थायित्व हो। शब्द या चित्र-कल्प के चारों ओर किसी प्रकार का अस्पष्ट विवरण न हो। इसलिए उसके अनुसार कल्पना-तरंग (Fancy) ही वह शक्ति है जिसके द्वारा एक स्पष्टतः कठोर, परन्तु आनन्दमयी, और सोफियाना कविता का उदय हो सकता है। इस प्रकार की कविता में चित्र-कल्प इस तरह जीवित दशा में प्रस्तुत किया जाएगा कि वही कवि की भावना-संयोजित-विचार का प्रतिरूप होगा। ऐसी सोफियाना कविता में आडम्बर नहीं होगा परन्तु अपनी एक निराली इकाई होगी। इसमें ठोसपन होगा। बुद्धि की लीला अब तक भावना के साथ होती थी, अब प्रहसन के साथ संयोग होगा। इसमें मन की विविध क्रियाएँ सीमित, पर शक्तिशाली चित्र-कल्प के माध्यम से, प्रदर्शित होंगी। ह्यूम की यह भविष्यवाणी जैसी उक्ति, आगे चलकर फलित हुई। आधुनिक कवियों ने जब लिखना आरम्भ किया तो स्वच्छन्दतावादी युग की मुख्य मान्यताओं को वे भी छोड़ चले और ऐसी कवितायें उन्होंने लिखना आरम्भ किया जिसमें विचित्र सूखापन है। इन आधुनिक कविताओं में वह भावनाओं का लिवलिबापन या विचारों के छटपुट आघात और न ही छिछले वर्णनों का शब्दों के साथ खिलवाड़ था। अपने एक निराले ही अवगुण्ठन में काव्य शुष्क दिखने वाली अभिव्यंजना में उत्पन्न हुआ। कविताओं का विषय भी अब केवल काव्य में वस्तुओं या विचारों से ऊपर उठकर जीवन का उसकी सम्पूर्णता में दर्शन करना है इसलिए इसमें स्वच्छन्दतावादी युग की मान्यताएँ जो काव्यात्मक और अकाव्यात्मक के भेद पर आधारित थीं, यहाँ आकर समाप्त हो गयीं।

टी० ई० ह्यूम का यह कथन भी था कि कवि का लक्ष्य काव्य-कौशल होना चाहिए। इस कौशल (Craft) के माध्यम से ही कवि ऐसा अनुशासन अर्जित कर लेता है फिर उसकी कविता में अपरिपक्वता या अर्द्धविकसित तत्व नहीं रहता। कुहरे की तरह झिलमिल और एक विचित्र, बेजान तथा अवसाद लिए काव्य का धीरे-धीरे विघटन होने लगा। कौशल का लक्ष्य होने के कारण कवि ने वह शिल्पी का सधा हाथ पाया जिसके कारण मूर्ति में रेखाओं की लोच की अभिव्यंजना बारीकी से की जाती है। यही लोच (Curve) काव्य में अभिव्यंजनात्मक स्वरूप में होनी चाहिए। रेखा के इस ऐश्वर्य को वही कवि छबि में उतार सकता है जिसे काव्यकौशल प्राप्त हो गया हो और उसे वही समीक्षक देख सकता है जो कवि के काव्य-कौशल को परखने की शक्ति रखता हो।

टी० ई० ह्यूम के अनुसार चित्र-कल्प (Image) ही कविता की सारवस्तु है, इसलिए यदि कुशल चित्र-कल्प अपने जीवन्त रूप में परिकल्पित होकर किसी कविता में विद्यमान है तभी उसमें ऊपरी विचार अथवा भावनात्मक वर्णन या भाव-विचार के सम्मिश्रण से उत्पन्न परिवेश सजाने की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि यह चित्र-कल्प ही कविता के केन्द्र बिन्दु में स्वयं संचालित है। इसके निखार में ही विचार, भावना, वर्णन आदि परोक्ष और इंगित रूप में अपनी सफल व्यंजना पा लेते हैं। ये चित्र-कल्प सहज-ज्ञान (Common Sense) से ही आते हैं और इस सहज-ज्ञान के द्वारा ही कवि अपनी अनुभूति प्राप्त कर सकता है और शैली में उस प्रतिष्ठा का निर्माण करता है जो एक स्थिर प्रणाली में रहती है।

चित्र-कल्प से बना हुआ 'वाद' यद्यपि अल्पकालीन रहा, फिर भी उसने गहरी छाप काव्य के इतिहास पर छोड़ी और आगे चलकर जब मनोविज्ञान ने कविता और सहित्य के अन्य क्षेत्रों को प्रभावित करना आरम्भ किया तव यह चित्र-कल्प इस तरह कविता में प्रयुक्त होने लगे मानो उन्मुक्त संयोग (Free Association) के वशीभूत हों। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में यह उन्मुक्त संयोग (Free Association) एक विधि है, जिसके अनुसार मनोदशा के मरीज के अन्तस्तल की सुप्त भावनाओं का शब्द-चित्र मरीज के द्वारा ही वर्णित होता है। चित्र-कल्प के कविता में होने से, ऐसी मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग होने लगा। कवि अब ऐसे चित्र-कल्प प्रस्तुत करने लगा कि उनका एक दूसरे से कोई तालमेल ही नहीं होता, कोई ऐसा बौद्धिक सम्बन्ध ही नहीं होता है जिनकी बुद्धि के अनुसार या तो व्याख्या की जा सके या समझा जा सके। परन्तु इस तरह विलग हुए चित्र-कल्पों में एक बहुत ही सूक्ष्म सम्बन्ध होता है, और सूक्ष्मता के सम्बन्ध के कारण ऐसे काव्य में परोक्ष वर्णन या बुद्धि का स्पष्ट उपयोग नहीं होता है। इस तरह कला छिपकर ही कला होती है।

ह्यूम का प्रभाव, यद्यपि बहुत गहरा रहा, फिर भी उसका अपना साहित्य बहुत ही थोड़ा है। उसकी कुछ छुटपुट कवितायें हैं, जो मुश्किल से दस-बारह पृष्ठों की हैं, परन्तु वे चित्र-कल्प का वह चमत्कार प्रदर्शित करती हैं जिन्हें आगे की पीढ़ी ने अपना मार्गदर्शक माना। ह्यूम ने स्वच्छन्दता वाद की मुख्य मान्यता को चुनौती दी और मानव स्वभाव के अति सीमित होने का कारण देकर उस रीतिवाद (क्लासिकल) की धारणा को दृढ़ किया जिसने कुछ सदियों पूर्व प्राचीन साहित्य में उच्छृंखलता, अस्पष्टता, घटियापन और बोझिलपन को अनुशासन में दबाकर समाप्त किया था। स्वच्छन्दतावाद व मानववाद, दोनों के विरोध में ही ह्यूम ने आवाज उठाई। टी० एस० ईलियट इस गम्भीर विचारक का बहुत ही बड़ा प्रशंसक था, जिसकी विचारधारा पर ह्यूम अपनी गहरी छाप छोड़ गया है।

परिच्छेद–१२

# मनोवैज्ञानिक छाप––रिचार्ड्‌स––कविता

आधुनिक संसार में दो प्रमुख विचारधाराएं ऐसी रही हैं, जिन्होंने, साहित्य के क्षेत्र की न होते हुए भी, साहित्य को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है। वे हैं, मनोविज्ञान और मार्क्सवाद। मनोविज्ञान का, विशेषकर फ्रायड का, प्रत्यक्ष रूप से काफी प्रभाव रहा है और मार्क्स के प्रभाव में अंग्रेजी कविता कुछ समय के लिए आई थी। परन्तु समीक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रयोग करना डाक्टर आई० ए० रिचार्ड्‌स का ही काम था। डा० रिचार्ड्‌स अपने मौलिक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध हैं, यद्यपि यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि समीक्षा-साहित्य में उनका कोई स्थायी स्थान है।

डा० रिचार्ड्स ने तीन प्रकार के ग्रन्थ लिखे—एक तो समीक्षा के सिद्धान्तों के विषय में, दूसरे, व्यावहारिक समालोचना के विषय में और तीसरे, शब्दों के अर्थ के विषय में। समीक्षा सिद्धान्तों के विषय में उनका ग्रन्थ बहुत गवेषणापूर्ण है और जिस समीक्षा के सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया है वह मनोवैज्ञानिक आधार पर है। उन्होंने सौन्दर्य-शास्त्र के उस आदर्श को प्रतिष्ठित किया, जिसमें मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न 'मूल्य' की वह मानसिक स्थिति दर्शायी जो कला की महत्ता को स्थायी रखती है।

डा० रिचार्ड्स कोई सफल समीक्षक नहीं हैं, और न ही उनके बिचारों के कारण किसी सम्प्रदाय का जन्म ही हुआ है। परन्तु उनकी समीक्षा का महत्व इसमें है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से उन्होंने कला की सार्थकता सिद्ध की है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—

> "समीक्षा का लक्ष्य होता है भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियों को विलग करके उनका लेखा-जोखा करे।"

यह हम तभी कर सकते हैं जब हम अनुभूति के स्वभाव को समझें और उन मानदण्डों के उद्भव को जानें जिनसे मूल्यांकन किया जाता है और अनुभूति को संचारित किया जाता है। अतः उन्होंने अनुभूति के प्रकार, कारण और उनमें होने वाली द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति को किस प्रकार सामञ्जस्य दें, आदि के विषय में समीक्षा लिखी। जिस प्रकार कोई डॉक्टर शरीर के स्वास्थ्य के लिए जिम्मेदार है वैसे ही एक अच्छा आलोचक मस्तिष्क के स्वास्थ्य के लिए। वही समीक्षक सफल है जो मूल्यों को अपने मानदण्ड से आँकने में सफल होता है। कला में उन समस्त अनुभूतियों का अंकन होता है जो उसके अनुसार मूल्यवान हैं और सुरक्षित रखने योग्य हैं। जिस वस्तु से कलाकार की कला में 'मूल्य' (Value) आ जाता है, वह उसकी अनुभूतियों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने से आता है। यह सामञ्जस्य परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को एक करके होता है।

मनुष्य दैनिक जीवन में भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियों से पूर्ण होता है। अपनी इन्द्रियों से वह जो देखता, सुनता और जिस वस्तु का उसे आभास होता है, वह परिपक्व होकर उसकी अनुभूति बन जाती है। अपने जीवन में रत रहने से वह देख नहीं पाता कि उसके अन्तर की प्रवृत्तियाँ (Impulses) किस प्रकार एक दूसरे से उलझी हुई हैं, जिसके कारण उसकी अनुभूतियों में भाँति-भाँति की उलझनें आ जाती हैं। परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ (Opposite Impulses) मानव स्वभाव में होती ही हैं। उनके परस्पर टकराने से ह्रास होता है, जो मानसिक और शारीरिक भी है। इसका कारण मन में और मानस में वह अव्यवस्था और अशान्ति रहती है जो मनुष्य अनुभव तो करता है पर उसकी अभिव्यंजना नहीं कर पाता।

यहाँ ही रिचार्ड्स की मूल विचारणा प्रस्तुत की जाती है। वे कहते हैं कि कला का वास्तविक मूल्य इसी में है कि वह ऐसी अनुभूति का संचरण करने में सफल हो जो इन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच सामञ्जस्य लाने से होती है। सौन्दर्य एक प्रकार से, एक सामञ्जस्य की प्रणाली है जिससे आनन्द प्राप्त होता है।

कला से अनुरूपता उत्पन्न होती है, जो बहुधा किसी में परस्पर विरोधी तत्वों को उत्साहित करती है, जैसे गम्भीर विचार फिर भी शक्तिशाली भाव, अथवा भय और फिर भी शान्ति। इनमें जो सन्तुलन बनाया जा सकता है वह तभी सम्भव है जब उनके सम्बन्ध में न तो कोई अभिलाषा हो और न कोहैं कार्य। केवल एक स्थिर आभास, एक गहनता हो जो उस समय की चेतना में आ-जा रही हो, और जिसके ध्यान में मानव की आन्तरिक शक्तियाँ और अधिक समृद्धिशाली हो सकें।

सौन्दर्य और अनुभूति में विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसे रिचार्ड्स ने 'Synaesthesis' कहा है जिसका अर्थ है ऐसी विरोधात्मक प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य लाना, जिससे सौन्दर्य की परिकल्पना होकर आनन्द प्राप्त हो सके। इस तरह कलाकार का काम ऐसी अनुभूति को व्यंजना देना है जो विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न कर सके; परन्तु इस तरह की क्षमता लेकर वह उत्पन्न हो कि अनुभूति करने वाला उन्हें अपनी एक स्थायी बुद्धि से और ध्यान से केवल अवलोकन करके उनका पारस्परिक सम्बन्ध देख सके। इस अवलोकन में ही उस आनन्द का अनुभव होगा। यही आनन्द सामञ्जस्य का आनन्द है जो विरोधी प्रवृत्तियों के होते हुए भी कलाकार के कौशल के कारण इस प्रकार उपस्थित किया गया है कि एकरस होकर पाठक या दर्शक उसका अनुभव कर उससे आनन्द प्राप्त करे।

आनन्द के इस आस्वादन में ही परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ एक सन्तुलन खोज पाती हैं। कला इस प्रकार दैनिक जीवन की उस अव्यवस्था और अराजकता को समेटकर सन्तुलन प्रदान करती है, जो हमारे विचारों और भावनाओं में जीवन के व्यवधानों अथवा परिस्थितियों के द्वारा उत्पन्न होती है। कला का कार्य है इस अव्यवस्था पूर्ण जीवन को उसकी भावना से इस तरह सम्बद्ध किया जाय कि उनमें व्यवस्था उत्पन्न हो। यह व्यवस्था बाह्य कारणों से, बाह्य क्षेत्रों में नहीं होती है। यह तभी सम्भव है जब कलाकार में यह क्षमता हो कि ऐसी अनुभूतियों में, जो हर व्यक्ति अनुभव करता है, सामञ्जस्य लाकर चित्रण करे। उसे देखकर या सुनकर, दर्शक या पाठक को एक व्यवस्था का अनुभव हो। वह कला की वस्तु के सामने ठिठक कर इस तरह खड़ा रह जाय कि मानो किसी शान्त और नीरव वन में वह आ गया है जहाँ उसकी सारी उलझनें और अन्तर-विरोध और अव्यवस्था समाप्त हो गए हैं। कला की शक्ति यह है कि देखने या सुनने वाले में अपने स्वरूप से विरोधी प्रवृत्ति उत्पन्न कर सके। परन्तु वह इसमें भी सक्षम हो कि विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्तेजित करने के साथ-साथ ही उन्हें सामञ्जस्य प्रदान कर सके। यह सामञ्जस्य पूर्ण परिणाम इतना ललित हो कि दर्शक या पाठक देखते रह जायँ। यही उनके आन्तरिक आनन्द का कारण होता है।

इसलिए कला का यह मनोवैज्ञानिक महत्व है कि उसके स्वरूप से मानव में जो अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियाँ रहती हैं, वे एकाएक शान्त हो जाती हैं और एक अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होने लगता है जो अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियों के सन्तुलन और सामञ्जस्य के दर्शन से होता है। इस तरह सामाजिक मूल्यों में कला का मूल्य यह है कि वह व्यक्ति में ऐसा आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ होती है जो अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियों का अन्तर-विरोध देखकर, अन्त में, उनके सामञ्जस्य का

दर्शन करता है। आनन्द की अनुभूति इस सामञ्जस्य पर आधारित है। इस तरह समाज में बहुत सारे व्यक्तियों को यदि कला से होने वाले आनन्द के रसास्वादन का मौका मिले तो उनकी अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे शान्त होने लगेंगी। इसलिए कला मूल्यों की एक निधि है। समाज और व्यक्ति इससे गम्भीर रूप से प्रभावित होकर लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

रिचार्ड्स ने अपने सिद्धान्त के दूसरे पक्ष 'प्रेषणीयता' पर बहुत बल दिया है। उसके अनुसार प्रेषणीयता (Communication) कला का प्रधान तत्व है। तीसरा पक्ष, जिस पर हमने बल दिया है, 'मूल्य' का मानदण्ड है। उसके अनुसार—

"समीक्षा के दो स्तम्भ हैं, मूल्य तथा प्रेषणीयता (Value of Communication)। हमारे मस्तिष्क का विशिष्ट गुण यह है कि उसमें प्रेषण शक्ति रहती है। हम अनुभव करते हैं कि यह अनुभूति प्रेषित होने के पहले हमारे द्वारा अनुभव की जाती है। परन्तु इस अनुभूति का स्वरूप कैसा है और कैसा होना चाहिए, वह प्रेषणीयता के ढंग पर निर्भर करता है। इस तरह कला प्रेषणीयता का सबसे उत्कट स्वरूप है। मूल्य के विषय में रिचार्ड्स ने कहा है—

> "कलाओं में हमारे मूल्य अंकित हैं, वे इनके भण्डार हैं। ये मूल्य उन अविस्मरणीय क्षणों की अनुभूति से सम्बद्ध हैं, जब हम अनुभूति को उसकी चरम-अवस्था में अनुभव करते हैं। ऐसे समय हमारे जीवन की विविध सम्भावनाएँ स्पष्ट रूप से दिख जाती हैं। हम भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य-कलाप भी स्पष्ट रूप से सम्भावनाओं की तरह देखते हैं। इन क्षणों का महत्व यह है कि हम इन विविध सम्भावनाओं में एक साम्य देख पाते हैं। उस समय हमारे दैनिक जीवन की संकीर्णताएँ और उलझनें समाप्त हो जाती हैं और उनके स्थान पर एक शान्ति आ जाती है। कला के रूप में, रचनात्मक क्षणों में और उसके उस पक्ष में जिसके द्वारा प्रेषण होता है, 'मूल्य' का मानदण्ड निर्माण होता है।"

रिचार्ड्स ने एक दूसरे ही प्रकार से समीक्षा को व्यावहारिक रूप दिया। उनकी पुस्तक "व्यावहारिक समीक्षा" ('Practical Criticism') में उन्होंने प्रयोग-शाला की विधि अपनाई। किसी कविता का आस्वादन करने से रस की अनुक्रिया (Response) होती है। उसके विश्लेषण के लिए उन्होंने चार 'माध्यमों' का उपयोग किया—पहला, अर्थ (Sense) दूसरा, भाव (Feeling); तीसरा स्वरक (Tone) और चौथा लक्ष्य (Intention)। उन्होंने पाठक की काव्यानुभूति को

इन चार विशिष्ट अंगों में बाँटकर उनमें सम्बन्ध परस्पर देखकर समीक्षा सिद्धान्त निश्चित किया।

इस व्यावहारिक समीक्षा में रिचार्ड्स ने प्रयोगों के पश्चात् यह पाया कि कविता या कोई कलात्मक वस्तु जब संप्रेषित होती है तब श्रोता, पाठक या दर्शक के मन में उसकी अनुक्रिया (Response) होती है। यह अनुक्रिया विश्लेषण करने योग्य है। रिचार्ड्स ने जिन चार माध्यमों का उल्लेख किया है उनके अनुसार काव्य के प्रति पाठक में चार प्रकार की अनुक्रियाएँ (Response) हो सकती हैं। विश्लेषण से यह जाना जा सकता है कि पाठक की अनुक्रिया किस सीमा तक स्वनिःसृत है और कहाँ तक वह गढ़े-गढ़ाए उत्तर की तरह है। गढ़े-गढ़ाए उत्तर (Stock Response) के समान अनुक्रिया पाठक में तब उत्पन्न होती है जब कवि ऐसे शब्दों, पदों या चित्र-कल्पों का उपयोग करता है जिसके विषय में पहले भी पाठक अनुभूति प्राप्त कर चुका होता है। काव्य में यदि इस तरह के चित्र-कल्प या शब्द हुए जिनसे पिटी-पिटायी अनुक्रियाएँ सम्भावित हों, तब वह काव्य, कला की दृष्टि से ऊँचा नहीं होता; क्योंकि पाठक के हृदय को प्रभावित करने के लिए वह उस माध्यम को अपनाता है जो पुराने पद्य की तरह सरल तो है परन्तु मौलिक नहीं।

व्यावहारिक समीक्षा इसलिए अधिक प्रचलित नहीं हो पायी क्योंकि काव्य के रसास्वादन को, जो एक मन की अनुभूति है, रिचार्ड्स ने बुद्धि की कसौटी पर कसना चाहा। कविता एक पूर्ण इकाई है जिसके अवयव नहीं हो सकते। इसका केवल रस लिया जा सकता है और रस का आनन्द पाठक के रक्त, हृदय और आत्मा तक प्रवाहित होता है। उसकी काव्यात्मक अनुक्रिया का प्रभाव प्रयोगशाला की परीक्षण-नलियों (Test Tubes) में डालकर लिटमस कागज से नहीं आँका जा सकता। यद्यपि कुछ अंशों में, समीक्षा की यह व्यावहारिक प्रणाली इस बात से हमें अवगत कराती है कि समीक्षक को काव्य की परख करने के समय सावधान होना चाहिए और विशेषकर यह ध्यान रखना चाहिए कि उस काव्य में, जिसकी वह परीक्षा कर रहा है, कौनसा ऐसा पद या शब्द है जो पिटी-पिटायी अनुक्रिया (Stock Response) उत्पन्न करता है। यदि करता है तो इस दशा में वह मौलिक कविता नहीं है। अतः इसमें नई अनुभूति संप्रेषित करने की क्षमता नहीं है।

रिचार्ड्स के 'Synaesthesis' के सिद्धान्त पर भी अनेक प्रकार की टीकाएँ हो चुकी हैं। यह विचारणा कि कला अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियों में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देने में समर्थ है, कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाती। वे प्रवृत्तियाँ कौनसी हैं अथवा कैसी हैं जिन्हें अन्तर-विरोधी प्रवृत्तियाँ माना जाय, इसका कहीं कोई ठोस

उत्तर रिचार्ड्स ने नहीं दिया। वैसे कला का, दर्शक या पाठक के मन में, एक भावनात्मक सामञ्जस्य उत्पन्न करने का लक्ष्य प्रायः माना गया है। इस कारण अरस्तू ने भी अपने दुखान्त नाटक की परिभाषा में भय और करुणा के विरेचन के पश्चात् एक भावनात्मक साम्य की ही कल्पना की थी। परन्तु उसने साहित्य के इस विशेष अंग अर्थात् दुखान्त नाटक का लक्ष्य भय और करुणा का विरेचन निरूपित कर दिया था। रिचार्ड्स ने सारी कलाओं के लिए जो अपनी मनोवैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत की, उसमें कला के भिन्न-भिन्न अंगों के लिए इस प्रकार कोई निश्चित लक्ष्य नहीं बतलाया। उनकी इस व्याख्या में केवल दो ही मुख्य तत्व पाए जाते हैं और वे हैं मूल्य और प्रेषणीयता (Value and Communication)। प्रेषणीयता और मूल्य में सापेक्ष रूप से किसी तरह का अन्तर है, यह उनकी समीक्षा में अच्छी तरह उभर आता है; परन्तु अन्त में, हमें यह इसी निष्कर्ष पर ला देता है कि यदि अनुक्रिया (Response) अपूर्ण है तो इसका अर्थ यह हुआ कि प्रेषणीयता में अपूर्णता है। कला का इस तरह व्यक्तिगत (Subjective) होना उनके समीक्षात्मक मानदण्ड को बहुत लचर बना देता है।

इस सन्दर्भ में एक दूसरे सफल कवि और समीक्षक का उल्लेख करने की आवश्यकता प्रतीत होती है और वह है टी० एस० ईलियट। ईलियट ने भी काव्य-प्रणाली में उस मुख्य तत्व को स्थान दिया है जिसके अनुसार विचार और भाव में सम्मिश्रण (Fusion) होता है। यह सम्मिश्रण ऐसा है जैसे रासायनिक प्रक्रिया (Chemical reaction) का अनुभूति की विभिन्न अवस्थाओं में और विविध रूपों में कवि इस सम्मिश्रण को पैदा करता है, जिसके फलस्वरूप एक नई पूर्णता उत्पन्न हो जाती है (A new whole is created)। यह सम्मिश्रण है, सामञ्जस्य नहीं। सामञ्जस्य में दोनों तत्व अपने-अपने अस्तित्व में विद्यमान रहते हैं; केवल इनमें तालमेल पैदा होता है। इस विचार से ईलियट और रिचार्ड्स में एक सादृश्य प्रतीत होता है; परन्तु यह पूरी तौर से सही नहीं है, ईलियट ने विचार और भाव में तन्मय-एकता को इस तरह बल देकर प्रतिपादित किया है कि अपनी उस प्रारम्भिक स्थिति से कभी विचलित नहीं हुई। जब इस सम्मिश्रण से एक नया तत्व, जो स्वयं में पूर्ण है, कविता में पैदा हो जाता है, तब वही कला का तत्व होता है। यदि पाठक को अपने रंग में रँगने की पूरी शक्ति इसमें होती है तो वह एक सफल कविता हो जाती है। परन्तु रिचार्ड्स ने मूल्य और प्रेषणीयता को अलग-अलग देखकर, कला के प्रभाव में आने वाले व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत अनुक्रिया ही मुख्य मानी। इस तरह, उन्होंने पाठक की व्यक्तिगत अनुक्रिया की शक्ति (Capacity to respond) को महत्व दिया।

परिच्छेद–१३

## नाटक और उपन्यास--आधुनिक स्थिति : समीक्षा

पश्चिम के आधुनिक नाट्य साहित्य में कुछ ऐसा पुनर्जागरण हुआ है जिससे कुछ पुरातन मान्यतायें फिर साहित्य में प्रवेश कर रही हैं। उपन्यास पर, जिसकी पृष्ठभूमि नाटक की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और जो समय के बन्धन से मुक्त है, इस समय की वर्तमान कला के मुख्य विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। इन दो प्रकार की धाराओं से समीक्षा अछूती नहीं रही।

पश्चिम के नाटक में, विशेषकर अंग्रेजी साहित्य में, समस्यामूलक नाटक इस सदी के पूर्वार्द्ध में काफी प्रभावशील रहे। उनकी मूल प्रेरणा नार्वे के नाटककार इब्सन (Ibsen) के नाटकों से आई। समस्यामूलक होने के कारण नाटकों में वाद-विवाद, तर्क-वितर्क तथा समाज में स्पष्ट दीख पड़ने वाले द्वन्द्वों का चित्रण बड़ी सफलता से किया जाने लगा। जब वास्तविकता पर आधारित ये नाटक समाज की उन ज्वलन्त समस्याओं के प्रति आकृष्ट हुए जिनसे मानव-जीवन नजदीक से सम्बद्ध है। ये नाटक वास्तविकता के अनुपात में गद्य में अर्थात् रोज की बोलचाल की बोली में कथोपकथन प्रस्तुत करने लगे। शैक्सपीयर के नाटक न गद्य में थे और न उस पद्य में जिसमें छन्द और तुक होती है। उनके नाटकों में शब्द का वैभव बुद्धि-विलास के माध्यम से निकलता था और यह इतना प्रखर होता था कि दर्शक उसको सुनते ही न केवल अर्थ की अभिव्यंजना से प्रभावित हो जाता था; वरन् चित्र-कल्पों की छटाएँ अपने आप मानस क्षितिज में वह देखने लगता था। शब्द का यह चमत्कार और उसमें जादू का सा स्पर्श नाटक के कार्यकलाप को पूरी तरह से प्रभावित करता था और उसको ऐसे परिवेश में रंजित कर देता था कि वातावरण, कथानक और पात्र ये सब एक ही विश्वक (Universal) के भिन्न-भिन्न खण्ड दिखाई पड़ते थे। इससे नाटक के कलात्मक लक्ष्य की पूर्ति तो होती ही थी; साथ ही, उसके समूचे ढाँचे में एकत्व आ जाता था। उन्नीसवीं सदी के नाटक में जब अंग्रेजी साहित्य के नाटक करीब-करीब शिथिल हो चुके थे, कुछ ऐसे भी प्रयास कवियों ने किए जो काव्य-नाटक के रूप में लिखे

गए। उसमें शैली भी एक जाना-माना कवि-नाटककार था। टैनीसन ने भी कुछ इसी प्रकार का प्रयास किया। कवियों का यह प्रयास रंग-मंच (Stage) पर सफल नहीं हो पाया, क्योंकि वह कविता में लिखा गया था और नाटक का उत्तेजनात्मक उतार-चढ़ाव, अन्तर्निहित द्वन्द्व कल्पना के बादल में छिप जाता था। उन दिनों ऐक्यत्रयी का भी कोई ध्यान नहीं रखा जाता था और रंगमंच (Stage) बड़े भारी भरकम तथा दृश्यपट आडम्बरपूर्ण होते थे।

बीसवीं सदी में जब नाटक में नया मोड़ दिखाई पड़ता है, तब हम उसमें एक शुष्क यथार्थवाद जो समस्याओं में उलझकर मानव के अन्तर को चित्रित करता है, पाते हैं। बर्नार्ड शा और गाल्सवर्दी इस प्रकार के नाटकों के प्रमुख स्तम्भ माने जाने लगे। गाल्सवर्दी के नाटकों में मानवीयता और स्पन्दनशील सहानुभूति थी। बर्नार्ड शा ने, समाज में जो प्रचलित आडम्बर, खोखलापन और ढोंग पाया, उसके विरोध में नाटकों की रचना की। उन्होंने समाज की श्रेणीबद्ध विषमताओं पर भी अपने नाटकों के द्वारा चोट की। उन्होंने अपने विशिष्ट प्रकार के व्यक्तिगत दर्शन 'रचनात्मक विकास (Creative evolution-Life force) के सिद्धान्त के अनुसार एक नाटक लिखकर अपने समय में पायी जाने वाली विविध प्रकार की भ्रान्तियों और भ्रामक विचारों तथा परम्पराओं के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया। उनके मतानुसार कला का एक ही लक्ष्य होता है और वह है प्रचार करना। 'कला कला के लिए' उक्ति का उन्होंने जोरों से खण्डन किया। सामाजिक उलझनों में जो समस्यायें रहती हैं तथा आधुनिक आन्दोलनों से जो सम्बद्ध होती हैं, उनकी झलक बड़ी कुशलता और स्पष्टता से उन्होंने अपने नाटकों में दर्शायी। कथोप-कथन में बुद्धि-विलास (Wit) और हास्य की स्थितियों को बड़े पैमाने पर उत्पन्न किया। इसलिए उनके नाटकों में गद्य का परिमार्जित शैली में उपयोग होने लगा। उनके नाटकों में कविता को कोई स्थान नहीं मिल सका। यथार्थवादी के नाते वह सत्य को जैसा देखता, वैसा ही प्रदर्शित करता था। ड्रायडन ने जिस सत्याभास को नाटक के लिए एक साधन कहा था, वह इसमें नहीं मिलता।

धीरे-धीरे इस प्रकार के नाटकों के प्रति दर्शकों में उपेक्षा पाई जाने लगी; क्योंकि वही समस्याएँ अब नहीं रहीं और न ही उस समय के भ्रम और भ्रान्तियाँ। शेक्सपीयर तो मानवहृदय की सार्वभौमिकता को ही आधार मानकर नाटक रचा करता था। बर्नार्ड शा ने समस्यायों को, जो क्षणिक होती हैं, को आधार बनाकर अपने नाटक रचे।

यथार्थवादी नाटकों के प्रति हुई प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नाटककारों ने कुछ पुरानी मान्यताओं को नया रूप देने की चेष्टा की; साथ ही नाटक की अभि-

रुचि में भी परिवर्तन होने लगा। शेक्सपीयर युग के शब्दों की महिमा और उनका चमत्कार जो काव्य की शक्ति से बँधा हुआ था और जो यथार्थवादी नाटक में लुप्त हो गया था, अब फिर से लोगों को आकृष्ट करने लगा। जो ऐक्यत्रयी बर्नार्ड शा के नाटकों में नहीं के बराबर थी, उसका भी धीरे-धीरे प्रचलन होने लगा। नाटककारों ने काव्य की नाटकीय सम्भावना पर खोज करना आरम्भ कर दिया। उधर, जर्मनी और फ्रांस के नाटकीय प्रयोगों के बाद अंग्रेजी के नाटक-कारों ने भी प्रतीकात्मक नाटक लिखना आरम्भ किया। यह सब यथार्थवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी।

नाटक में पुरानी मान्यताओं को फिर से नया रूप देने के प्रयास के साथ ही कुछ आधुनिक विचारणाओं का प्रभाव भी साफ-साफ दिखने लगा। फ्रायड और मार्क्स, जो इस सदी की अब तक प्रधान प्रेरणाएँ हैं, का भी प्रभाव परोक्ष रूप से नाटकों में आने लगा। फ्रायड का तो साहित्य पर प्रभाव होना ही था; क्योंकि यदि पात्र की मनोदशा का कोई शक्तिशाली चित्रण हो सकता है तो वही, जिसमें उसकी अन्तश्चेतना और मनोभाव संकेतात्मक माध्यम के द्वारा बतलायी जायें। मार्क्स का इस नए परिवेश में प्रवेश करना एक आश्चर्य की बात मालूम होती है। क्योंकि उसका सारा दर्शन ही प्रचार का दर्शन था; जब कि नयी काव्य धारा प्रचार से हट कर यथार्थवादिता को ठुकरा रही थी। काव्य के माध्यम से जो नाटक लिखे जाने लगे, उनमें प्रतीकों (Symbol) को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा। काव्यात्मक नाटक में सत्य को या वास्तविकता को लक्ष्य से दूर ही रखा जाने लगा। काव्यात्मक नाटक में सत्याभास (Verisimilitude) को संकेतात्मक प्रसाधनों से और उसके सम्पूर्ण वातावरण के साथ नाटकों में उपस्थित किया जाने लगा। तब मार्क्स का प्रचारवादी दृष्टिकोण इस मुख्य कलात्मक अभिव्यंजना के अधीन हो गया। इस सदी के दूसरे महायुद्ध के पूर्व ऐसे काव्य नाटक लिखे गए जिनमें मार्क्स का काफी प्रभाव मालूम होता है। इन नाटककारों में डबल्यू० एच० औडिन, और इशरवुड प्रमुख हैं। वर्ग-विषमता, वर्ग-संघर्ष और उससे प्रभावित मानव के खण्ड व्यक्तित्व सामने आए, और उसके साथ ही इस दयनीय स्थिति के नाटकीय मूल्य।

फ्रायड के प्रभाव में पात्रों के मन में जो दबे हुए विचार थे उनको और वास्तविक अभिलाषाओं को सुन्दर अभिव्यंजना में बाँधा जाने लगा। प्रतीकों, संकेतों और बाह्य उपकरणों के द्वारा अन्तश्चेतना की झलक पात्रों के माध्यम से बतलाई जाने लगी। इस तरह के नाटक यथार्थवादी नाटक से भिन्न थे। अतः केवल गद्य वास्तविकता के प्रदर्शन में समर्थ नहीं था।

जिस काव्य नाटक में शब्दों के चमत्कार पर नाटक का आकर्षण आधारित रहा, वह क्रिस्टोफर फ्राय के लोकप्रिय नाटक "The Lady is not for Burning" में पाया जाता है। जब मध्य-युग के पात्र कथोपकथन में ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जिसका सम्बन्ध परोक्षरूप से वर्तमान से है, तब बुद्धि-विलास (Wit) के माध्यम से शब्दों में मध्ययुग की प्रतिध्वनि और भी तीव्र हो जाती है। औडिन के 'Ascent of F 6' में फ्रायड का प्रभाव स्पष्ट है। एडिपस काम्प्लैक्स से अनुभूत वह मनोदशा, जो किसी मानव के लिए अतीव दुखदायी हो सकती है, इसमें कुछ अंशों में दर्शायी गई है। साथ ही, माँ का दो बच्चों में अपने वात्सल्य को घटा-बढ़ाकर बाँटना एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है तब नाटकीय द्वन्द्व प्रारंभ हो जाता है। इसमें पर्वत का प्रतीक है, जिसकी पृष्ठभूमि में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व और अन्तश्चेतना के दबे स्वर नयी शैली की कविता में बोल उठते हैं। यह नाटक प्रतीकात्मक और दुरूह है; परन्तु दूसरे महायुद्ध के पूर्व साहित्य में इसका काफी अच्छा स्थान रहा। यह काव्य-नाटक एक अन्य नाटक "डाग बिनीथ द स्किन" के साथ, जिसे डबल्यू० एच० औडिन ने ही लिखा है, अपने समय के विशिष्ट नाटकों में गिना जाता है। 'Dog Beneath the Skin' में वर्ग-संघर्ष और इस वर्ग-चेतना से सन्तप्त समाज में शोषण, पाखण्ड और सामाजिक ऊँच-नीच के भाव नाटक के व्यंग्य के लक्ष्य होते हैं। इसमें एक कुत्ते का प्रतीक प्रयुक्त हुआ है। यह प्रतीक उन सारी मनोदशाओं का सम्प्रेषण करता है जो समाज में धँसे हुए रोम के कीटाणुओं को कला के माध्यम से व्यक्त करती हैं।

इसी सन्दर्भ में एक सरसरी तौर से ईलियट के प्रसिद्ध काव्य-नाटक 'Murder in the Cathedral' का उल्लेख करना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस महान नाटक में ग्रीक नाटक के कोरस का बड़ी सुन्दरता से उपयोग किया गया है। वैसे कोरस डबल्यू०, एच० औडिन के दोनों नाटक, Ascent of F 6 और Dog Beneath the Skin में भी प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन ग्रीक नाटक के कोरस की तरह ईलियट के 'Murder in the Cathedral' में प्रसिद्ध आर्कबिशप टामस बैकिट के शहीद होने की दुखद घटना का यह कोरस एक सांकेतिक आभास देता है।

इस नाटक का कोरस उन गरीब और सरल ग्रामीण वृद्धाओं का है जो अपने उद्‌गारों में सामाजिक अन्तरात्मा को वाणी देती हैं। उनके द्वारा जिस काव्य-शैली का प्रयोग हुआ है, वह अत्यन्त सरल, हृदय-स्पर्शी और उन्मुक्त व्यंजना से भरी हुई है। कोरस टामस बैकिट की प्रत्येक मनोदशा का जिसका इस दुखान्त नाटक, से गहरा सम्बन्ध है, पूर्वाभास कविता के द्वारा दे देता है। वह टामस बैकिट के अन्तर

में होने वाले उस द्वन्द्व को भी शब्दों में व्यक्त करता है, जिसे टामस बैकिट केवल अपने उलझनपूर्ण विचारों को छू पाता है। उनके मानस में जो द्वन्द्व होता है वह यह है कि राजा के विरुद्ध जो विद्रोह उन्होंने किया है और चर्च की सत्ता को राज-सत्ता से ऊपर माना है, उसमें उनको प्राणों का खतरा होगा। फिर वह गहराई से इस पर सोचते हैं और मन में यह खोज करते हैं कि जिस शहादत का उन्हें भागी बनना है वह किस कारण से उनके मन में पैदा हुई। क्या वह इसलिए शहीद होना चाहते हैं कि जिससे इतिहास में उनका नाम अमर रहे। यदि यह सत्य है, कि वह अपनी व्यक्तिगत ख्याति के लिए अर्थात् इतिहास में अमर होने के लिए प्राणों की आहुति दे रहे हैं, तो इसमें उनका अपना एक प्रकार का स्वार्थ होगा। यदि स्वार्थ हुआ तो इस पवित्र कार्य की, जिसमें उन्होंने चर्च की सत्ता को राजसत्ता से सर्वोपरि माना है, पवित्रता कलंकित हो जायगी। अपना बलिदान केवल तटस्थ मन से बिना लाभ-हानि का विचार किए, बिना फल की इच्छा किए, स्वार्थ रहित होकर यदि उन्होंने दिया, तो यह एक पवित्र कार्य होगा। इस उलझन में वे पड़े रहते हैं; इस आन्तरिक द्वन्द्व को कोरस की वृद्धाओं द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से सरल शब्दों में व्यक्त किया गया है।

इस तरह कोरस इस काव्य-नाटक में आधुनिक स्वरूप में प्रकट होता है। प्राचीन ग्रीक नाटक में तो वह एक धार्मिक आवरण से युक्त होता था। वर्तमान काव्य-नाटक में कोरस, यद्यपि प्राचीन ग्रीक नाटक की एक प्रणाली की तरह ही प्रयुक्त होता है, फिर भी वह आधुनिक इस रूप में है कि जिससे नाटक के कथानक में अनावश्यकता छाँटी जा सकती है। इस तरह नाटक के कथानक को एक रूप करने में कोरस सहायक सिद्ध होता है।

काव्य-नाटक में जिस कविता का निस्सरण होता है, वह कोरस के गीत या कथोपकथन में भलीभाँति व्यक्त किया जा सकता है। और लय और शब्द-कल्प के माध्यम से अन्तश्चेतना के विचार और भाव अच्छी तरह कविता में उतारे जा सकते हैं, विशेषकर जब वक्ता एक ऐसा पात्र हो (कोरस) जो प्रत्यक्ष रूप से कथानक से सम्बन्ध नहीं रखता हो; परन्तु कार्यकलाप के निरन्तर होने से उसका सम्बन्ध हो।

काव्य-नाटक के केन्द्रीभूत सिद्धान्त और उसकी उत्पत्ति और विकास पर दूसरे खण्ड में विचार किया जायगा। यहाँ केवल उसकी विशेषताएँ मोटे रूप से वर्णन की गई हैं।

## उपन्यास

पश्चिम के उपन्यास रूसी उपन्यासों की तरह बोझिल हैं। फ्रेंच उपन्यासों से भी यह बहुत अंशों में प्रभावित हैं। अंग्रेजी उपन्यास इन दो मुख्य पश्चिमी धाराओं से प्रभावित होकर कुछ अपनी मौलिकता भी लिए हुए हैं। रूस के उपन्यासकारों में पुश्किन, टाल्स्टाय और गोर्की के नाम मुख्य रूप से लिए जाते हैं। टाल्स्टाय इस प्रकार के उपन्यास लिखता था जिसमें यथार्थवादी चित्रण के लिए कला के संचार की वह व्यवस्था होती थी जिससे अनुभूति एक धार्मिक सामञ्जस्य में प्रकट हो। रूस के किसान और रूस की समाज-व्यवस्था दोनों में टाल्स्टाय ने एक ऐसा वैषम्य पाया कि जिससे रूस की आत्मा विभाजित प्रतीत होती है। धार्मिक चेतना और सामाजिक अन्तर के प्रति उन्होंने ध्यान दिया। उनका एक प्रमुख उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' (War and Peace) किसी महाकाव्य की विस्तारपूर्ण पृष्ठभूमि को रखकर अपने कथानक का समाँ बाँधता है। इसमें ऐतिहासिक धाराओं और वास्तविक चित्रण होते हुए भी, मर्मस्पर्शी मानवीयता की विजय होते दिखलाया गया है। पात्रों के घात-प्रतिघात और सूक्ष्म मनोदशाओं का वास्तविकता से किया गया चित्रण टाल्स्टाय की अपनी ही विशेषता है। काव्यात्मक अलंकार और अन्य प्रकार के आडम्बर उनके उपन्यासों में नहीं होते; परन्तु एक धर्म अनुप्राणित चेतना सारे परिवेश में छाई रहती है। रूसी उपन्यास पात्र के इस आन्तरिक संघर्ष का चित्रण इस प्रकार करके बतलाते हैं जिससे उसका आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ उभर आता है। टाल्स्टाय के अलावा ऐसे भी उपन्यासकार हुए जो रूसी क्रांति की वास्तविक अभिव्यंजना और उसकी मानव हृदय पर प्रतिक्रिया अपने कथानक के केन्द्र में दिखाते रहे। मैक्सिम गोर्की उन उपन्यासकारों में सर्वश्रेष्ठ हैं। १९१७ की अक्टूबर क्रान्ति के पूर्व ही उन्होंने ऐसे उपन्यास लिखना शुरू कर दिए थे जो रूसी जनता के शोषित और उपेक्षित वर्ग की आकांक्षाओं और भय का पूर्ण चित्रण हैं। क्रान्ति की पूर्व संध्या उनके उपन्यासकारों में अपनी समस्त शक्ति और एक सुसुप्त विस्फोट के साथ दिखाई पड़ती है। वर्ग-संघर्ष के पैमाने से ही उनके पात्र कार्य करते हैं। पूँजीवादी की शोषणपूर्ण व्यवस्था मानव को किस प्रकार अमानवीय बना देती है, यह भी उनके कथानक में मिलता है; परन्तु सबसे अधिक आकर्षक वस्तु उनके उपन्यास में होती है सर्वहारा वर्ग का वास्तविकतापूर्ण चित्रण। मजदूरों और किसानों के निम्न वर्गों का उतना सूक्ष्म मनोचित्रण शायद ही कहीं मिल पाएगा। उनकी स्वयं की अनुभूति इतनी प्रखर और प्रगाढ़ थी कि उन्होंने शोषित मजदूरों के मानस का ऐसा कोई कोना नहीं छोड़ा जिसकी कलात्मक अभिव्यंजना हो सकती हो। क्रान्ति की फूत्कार के साथ ही मानव हृदय में बहने वाली करुणा का सतत

प्रवाह और ममता की गरिमा उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'माँ' (Mother) में मिलती है। मानवीयता और यथार्थवाद उनके उपन्यासों के प्रमुख गुण हैं। उनका यथार्थवाद टाल्स्टाय के धार्मिक दृष्टिकोण से भी भिन्न था। मानव मस्तिष्क की अपरिमित शक्ति की परिकल्पना इस कोटि के उपन्यासों में होती ही है; परन्तु गोर्की में इसके साथ ही विप्लव की वह लपट दीख पड़ती है जो एक प्रकार की क्रान्ति की अग्नि-शिखा की परिचायक है।

टाल्स्टाय ने उस किसान का चित्रण मार्मिकता से किया है, जो अपने संस्कारों और परम्पराओं के संस्पर्श से जीवित है। गोर्की में सर्वहारा वर्ग वह विभाग है जो समाज द्वारा लांछित और प्रताड़ित है। चरित्र-चित्रण में वह टाल्स्टाय से पीछे नहीं है; परन्तु टाल्स्टाय के महाकाव्य सदृश पृष्ठभूमि उनके उपन्यासों में नहीं होती।

फ्रेंच उपन्यासों में जिस सूक्ष्मता और लालित्य से पात्रों काचरित्र-चित्रण होता है उसकी छाप अंग्रेजी साहित्य में भी मिलती है। प्रसिद्ध उपन्यासकार फ्लाबेय, (Flaubert) जिनका 'मदाम बावेरी' (Madame Bouery) सर्व प्रसिद्ध उपन्यास है, एक यथार्थवादी उपन्यासकार थे। 'मदाम बावेरी' में पेरिस जैसे महानगर का व्यक्ति पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह चित्रित है। वैवाहिक छल कथानक में मुख्य तो है ही; परन्तु एक महानगर का किसी एक व्यक्ति पर विघटन का सा जो प्रभाव पड़ता है वह भी इसका विषय है। 'मदाम बावेरी' का पतन पेरिस जाकर ही होता है। इस प्रसिद्ध उपन्यास में जिन सूक्ष्म मनोघातों का चित्रण है वह मनोवैज्ञानिक उतना नहीं है जितना काव्यात्मक। व्यक्ति, जो छोटे स्थानों में रहकर अपने व्यक्तित्व को बनाए और सँवारे रहता है, वह केन्द्रीकरण के प्रमुख प्रतीक नगर के आकर्षण में बहकर उसे खो बैठता है। नगर की यह विशिष्ट अर्थ भरी अभिव्यञ्जना एक प्रतीक स्वरूप है। अंग्रेजी साहित्य के उपन्यासों में भी नगर अपने इस मादक आकर्षण में उपस्थित किए जाते हैं।

मनोविज्ञान का उपन्यास पर स्पष्ट और गहरा प्रभाव हुआ और कुछ अंशों में दर्शन का भी। फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का एक प्रकार से यहाँ प्रभाव अवश्य हुआ है। पात्र के अवचेतन (Sub-Conscious) में जो विचार उभरते और दबते रहते हैं, उनके चित्रण से पात्रों की वास्तविकता और सुदृढ़ हो जाती है। परन्तु मनोवैज्ञानिक प्रणाली का जो सबसे विशिष्ट प्रभाव हुआ वह था उपन्यास-शिल्प में एक महान परिवर्तन। एक विशेष प्रकार के उपन्यास लिखे जाने लगे, जिन्हें मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहते हैं; परन्तु उनका शिल्प उन मनोवैज्ञानिक

उपन्यासों से भिन्न है। यह चेतना-प्रवाह उपन्यास (Stream of Consciousness) कहलाते हैं।

चेतना-प्रवाह वह शिल्प है जिसमें पात्र अपने भूत और वर्तमान को एक ही धारा में प्रवाहित होते देखता है और इस धारा में, जो सतत प्रवाहमान है, एक स्थायित्व भी देखता है। इस तकनीक के उपन्यास मुख्यतः वर्जीनिया वुल्फ तथा जेम्स जॉयस ने लिखे। जेम्स जॉयस का प्रथम उपन्यास 'Portrait of the artist as a Young Man' इस शिल्प का पूर्वाभास कराता है। उनके अगले उपन्यास "यूलिसिस" में यह शिल्प अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। वर्जीनिया वुल्फ़ के उपन्यासों में, जिसमें To a Light House, Mrs Dollaway, Waves मुख्य हैं, इस शिल्प का एक परिमार्जित स्वरूप मिलता है।

चेतना-प्रवाह उपन्यास इन दो महारथियों के बाद कोई विशेष अनुयायी नहीं खोज पाए। यह उल्लेखनीय है कि उस शिल्प के उपन्यासों में एक ऐसी एकरूपता होती है जो अरस्तू के ऐक्यत्रयी से कभी कभी प्रभावित दिखाई पड़ती है। एक ही अतीत के प्रवाह में स्मृति के सहारे जो घटनायें और विचार, मनोभाव और आकांक्षाएँ तथा जीत और हार चित्रित हुई दिखलाई पड़ती हैं वह सब पात्र की इकाई के द्वारा ही होती हैं। इस तरह, यदि चेतना-प्रवाह (Stream of Consciousness) के उपन्यास भारी-भरकम हुए तो भी उसमें ढाँचे की एकरूपता और केन्द्रित इकाई अवश्य रहती है जिसका सम्बन्ध कुछ बहुत ऐक्यत्रयी के सिद्धान्त से होता है। उपन्यासों की भरमार हरएक साहित्य में है और हर विशिष्ट प्रकार के उपन्यास अपने उपन्यासकार के जीवन-दर्शन को भी प्रस्तुत करते हैं।

# खण्ड—ब

(विचारणा)

## परिच्छेद–१४

# पाश्चात्य आधुनिक कविता की मूल प्रेरणायें

पश्चिम का आधुनिक काव्य एक विशेष प्रकार की अनुभूति लिए है। यूरोप तथा ब्रिटेन में जो काव्य-धारायें अपनी व्यक्तिगत परम्पराओं से प्रभावित होकर एक विशेष मोड़ से इस सदी में बहती दीख पड़ रही हैं, उनमें अपनी मान्यताओं के सिवाय पारस्परिक प्रभाव भी है। भिन्न-भिन्न देशों के साहित्य में उसके अतीत का एक प्रकार का अपरोक्ष दबाव है। वर्तमान साहित्य की चेतना एक ऐसी विचारणा से प्रभावित है जो अन्तर-भेदी होते हुए भी, दूर से इस सदी के सामान्य-ज्ञान से सम्बद्ध प्रतीत होती है। बीसवीं सदी में ज्ञान की सीमायें बदलती गई हैं, क्या दर्शन, क्या विज्ञान और क्या समाज-शास्त्र—इनसे निःसृत शक्तियाँ मानव को अपनी कभी न शान्त होने वाली जिज्ञासा में लीन किए दे रही हैं। मानव की अभि-व्यंजनात्मक शक्ति, जो उसकी तूलिका में अथवा शब्दों के माध्यम में होती है, इस बीसवीं सदी में एक विशेष प्रकार से विकसित हो चली। विक्टोरिया के युग में धर्म और विज्ञान का द्वन्द्व हो रहा था, तब विज्ञान को अपने क्षेत्र में और धर्म को उसके क्षेत्र में सीमित करने का सन्तुलनपूर्ण प्रयास चला था। परन्तु वर्तमान सदी में ज्ञान के नए-नए क्षितिज स्पष्ट हो चले और विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह क्षितिज सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यंजना है, अर्थात् वे परस्पर रूप से सम्बद्ध हैं। सर जेम्स फ्रेजर ने अपने विशाल खोजपूर्ण ग्रन्थ "द गोल्डन बाव" (The Golden Bough) में संसार भर के आदिवासियों के रीतिरिवाजों और उनके प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध खोज निकाले और उन सब में एक प्रकार का साम्य पाया। इसके फलस्वरूप विचार-जगत में एक परिवर्तन आरम्भ हुआ।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक मानवीय प्रयत्न भाँति-भाँति के माध्यमों के द्वारा किसी एक कथा-कल्प (Myth) की खोज में रहते आए हैं, जिसके चारों ओर उनके जीवन की व्यवस्था प्रधान कल्पना केन्द्रित रहती है। इससे व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त हो जाते हैं। इस कथाकल्प (Myth) को ही अरस्तू ने, 'परिभाषा' (Definition) के बाद, मानव मस्तिष्क

का एक प्रमुख लक्ष्य माना है। वर्तमान सदी में विचारकों ने सर जेम्स फ्रेजर के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर यह खोजना चाहा कि धर्म, आचार और नैतिक व्यवहार के पीछे जो विश्वक-कल्पना है वह किस कथा-कल्प (Myth) से प्रेरित है। अपनी इस जिज्ञासा के उन्हें मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्बन्धों का भी पुनरीक्षण करना पड़ा। मानव जीवन की विशालता और सार्वभौमिकता के ज्ञान को खण्डों में बाँट कर नहीं देखा जा सकता, न ही उसकी महत्ता आँकी जा सकती है। ज्ञान के विभिन्न क्षेत्र किस तरह एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और उनकी मान्यताएँ और परम्पराएँ अलग-अलग होते हुए भी बुनियादी तौर से किस प्रकार मानव जीवन की समष्टि में प्रवेश करती हैं, उसका भी आभास उन्हें होने लगा। ज्ञान की समष्टि में उन्होंने भावनाओं को भी आँकना चाहा और भावनाओं की अभिव्यंजना करते समय उन्होंने इस ज्ञान की समष्टि को भी ध्यान में रखकर, उसके माध्यम के द्वारा इस अभिव्यक्ति की रचना की, जिसमें ज्ञान की सम्पूर्णता ही उपमान और उपमेय के रूप में उपयोग होने लगी।

जब हम काव्य में प्रतीकवाद पर विवेचन करेंगे, तब फ्रेंच कविता का विश्लेषण करते हुए उसकी मूल प्रेरणाओं और अंग्रेजी काव्य से उसका सम्बन्ध निरूपित करेंगे। अब वर्तमान काव्य की मूल प्रेरणाओं को उपरोक्त उक्तियों के सन्दर्भ में देखा जाय, तो उसके विशिष्ट अंग स्पष्ट हो चलेंगे। यह कहना युक्तिसंगत नहीं है कि वर्तमान कविता बीसवीं सदी के आरम्भ से ही प्रारम्भ हुई, और इसका ऐतिहासिक युगों से तत्कालीनता का सम्बन्ध नहीं जुड़ा है। ऐतिहासिक-युग और साहित्यिक-युग अपने-अपने ढंग से आरम्भ और अन्त होते हैं। तब हमें यह निर्धारित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि परिश्चम की, और विशेषकर अंग्रेजी की, आधुनिक काव्यधारा में कौन से केन्द्रीभूत तत्व हैं और किस प्रकार उसका उद्भव और विकास हुआ।

वर्तमान अंग्रेजी कविता का मूल्यांकन करने के पूर्व, हमें ज्ञान की पूर्णता, उसकी अखण्डता और विचारकों पर उसके प्रभाव को ध्यान में रखना होगा। जीवन की विविधता और उसकी 'विश्वक-सम्पूर्णता' का अर्थ यह नहीं है कि उसके खण्डों में अपना स्वरूप नहीं, केवल सम्पूर्णता में ही उसकी आत्मा निहित है। सत्य तो यह है कि जीवन के प्रत्येक विभाजित अंग में अपना स्वयं का पूर्ण सौन्दर्य है, परन्तु इन खण्डों की सम्पूर्णता में ही वह महान सौन्दर्य निहित है जिसकी परिकल्पना सौन्दर्य-शास्त्रियों ने पहले की थी।

आधुनिक कविता का प्रारम्भ होने के पहले जिस कविता की मान्यता कवियों को प्रभावित कर उनको एक सम्प्रदाय में बाँटती थी, वह मुख्य रूप से स्वच्छंन्दता-

वादी कविता ही थी, जिसमें कवि का हृदय ही केन्द्र होता था और उसकी कल्पना को कोई व्यवधान बाँध नहीं सकता था। यह स्वच्छन्दतावाद भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यंजित होता आया और पहले महायुद्ध (१९१४-१९१८) तक इसका काफी प्रवाह रहा। यहाँ तक कि जो युद्धकालीन कवि थे, जिनमें रूपर्ट ब्रूक (Rupert Brooke) और ओवन (Owen) प्रमुख हैं, उनमें भी युद्ध और शान्ति के अतिरिक्त जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है, वह स्वच्छन्दतावादी ही है। कल्पना-प्रधान होने के साथ ही वे जीवन को काव्यात्मक और अकाव्यात्मक खण्डों में विभाजित करते हैं और वह ऐसी कल्पना का ही सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं जो पार्थिव वस्तुओं में सुन्दर को असुन्दर से अलग करके देखती है। इन्हें 'जार्जियन कवि सम्प्रदाय' (Georgian School of Poets) कहते हैं। इस तरह कविता जीवन-केन्द्रित होती है, परन्तु जीवन को सुन्दर तथा असुन्दर के विभागों में बाँट देती है।

एक ऐसा समय आया जब इस प्रकार की कविता का उद्भव हुआ जो सत्रहवीं सदी की अंग्रेजी कविता के इतिहास में एक कीर्तिचिन्ह छोड़ गयी। सत्रहवीं सदी में अंग्रेजी काव्य के क्षेत्र में एक विशेष सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसे 'मेटाफिजिकल स्कूल' (तत्ववादी Metaphysical School) कहते हैं। इसका मुख्य प्रतिनिधि कवि था जौन डन। इस कवि की विशेषता यह थी कि इसमें विचार और भावना इस तरह मिश्रित होकर एकाकार हो जाते थे कि कल्पना तथा कल्पना-तरंग (Fancy) को अपना स्वतंत्र कार्य करने का अवसर ही नहीं मिलता था। इस प्रकार की कविता के शिल्प में जो उपमान और उपमायें होते थे वे परम्परागत उपमानों से बिलकुल भिन्न होते थे। उपमान ऐसी दूरस्थ वस्तुओं के होते थे जो साधारण तौर से कल्पना में भी नहीं आते थे, परन्तु उपमान और उपमेय में इस प्रकार सम्बन्ध दिखलाया जाता था कि जैसे वह एक विचारक की चिन्तन प्रणाली का ही कोई स्वरूप हो। उदाहरणार्थ, जान डन ने दो प्रेमियों के अलग होने की उपमा ज्यामिति के परकार से दी। जिह प्रकार परकार की एक टाँग को बिन्दु पर केन्द्रित कर जब कोई वृत्त बनाया जाता है तब अपने स्थान पर स्थिर रहती है, परन्तु दूसरी टाँग उससे जितनी ही दूर जाती है उतनी ही दूरी से वर्तुलाकार चक्र बना सकती है। इस प्रकार दो प्रेमी यद्यपि अलग हो गए हैं फिर भी एक वृत्त में हैं जिनमें एक केन्द्र बिन्दु की तरह अक्षुण है, दूसरा दूर होते हुए भी उसके चारों ओर घूम रहा है और एक ऐसे वर्तुलाकार चक्र का निर्माण करने में सक्षम है कि जिसका न आदि है और न अन्त। इस उपमा में प्रेम के अनन्त होने का संकेत दिया गया है कि जो किसी विचारक के चिन्तन के समान है तथा दो प्रेमियों के पार्थक्य की उपमा परकार की दो टाँगों से दी गई है। वह स्वच्छन्दतावादी कल्पना में

बिलकुल निषिद्ध है, क्योंकि परकार जैसी साधारण वस्तुओं का सम्बन्ध अकाव्यात्मक क्षेत्र से है। परन्तु यह तत्ववादी (मेटाफिजिकल) सम्प्रदाय इस प्रकार के विभाजन जीवन में स्वीकार नहीं करता था तथा ऐसे उपकरण ढूँढता था जो न केवल कोई मौलिकता लिए हों वरन् स्वतः ही एक चिन्तन प्रणाली का भी संयोग लिए हों। इस तरह इस सम्प्रदाय में चिन्तन और भाव दोनों एकाकार हो जाते थे। इस काव्य का मुख्य माध्यम कल्पना के स्थान में बुद्धि-विलास (Wit) होता था परन्तु यह बुद्धि-विलास अठारहवीं सदी के बुद्धि-विलास से भिन्न था; क्योंकि इसमें केवल व्यंग्यात्मक उपसाह अथवा वस्तुस्थिति से प्रभावित वर्णन नहीं होता था। इसमें भावनारंजित विचार की ही प्रधानता थी। इस प्रकार विचार और भाव में एकाकार तथा उपमा में उपमेय और उपमान के दूरस्थ होने से जो एक विशेष प्रकार की परिकल्पना इस प्रकार के काव्य-सम्प्रदाय में आरम्भ हुई उसने सत्रहवीं सदी में कुछ कवियों को गहरे रूप से प्रभावित किया।

बीसवीं सदी के काव्य में हमको सत्रहवीं सदी के तत्ववादी सम्प्रदाय (मेटाफिजिकल स्कूल) की परम्परा का एक गहरा प्रभाव मिलता है। यहाँ से ही आधुनिक अंग्रेजी काव्य का आरम्भ होता है। आधुनिक काव्य का श्रीगणेश उस समय प्रारम्भ होता है जब कल्पना-केन्द्रित स्वच्छन्तदतावादी परम्परायें धीरे-धीरे लुप्त होने लगीं और उनका स्थान यह दार्शनिक बुद्धि-विलास (Metaphysical Wit) लेने लगा। इस प्रकृति का उदय कवि डबल्यू० बी० येट्स (W. B. Yeats) के लेखनकाल के अन्त तथा अवैयक्तिक कला-सिद्धान्त के समर्थक एजरा पाउण्ड एवं टी० एस० ईलियट के पदार्पण के संधिकार में हुआ।

काव्य में सुन्दर-असुन्दर और शिव-अशिव का विभाजन करने वाले खंडों से जीवन को नहीं आँका जा सकता। पाप और पुण्य, शिव और अशिव—वास्तविक जीवन के मापदण्डों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। जीवन की ऐसी कोई स्थिति वस्तु या दृष्टिकोण नहीं है जिसे अकाव्यात्मक कहा जाय। इन कवियों ने इसलिए जीवन की संपूर्णता और विशिष्टता को लक्ष्य करके, दार्शनिक बूद्धि-विलास (Metaphysical Wit) के सहारे ऐसी कविता का निर्माण शुरू किया जिसमें स्वच्छंदतावादी परम्परा से एकदम नाता तोड़ दिया। परन्तु यह कहना सत्य नहीं होगा कि इस प्रकार की कविता एक स्वछंदतावाद विरोधी कविता थी अथवा रीतिवादी (क्लासिकल संप्रदाय) की तरह कार्य करती थी। यह न तो स्वछंदतावादी थी और न सच्चे अर्थ में रीतिवादी (क्लासिकल) कविता की मूल धाराओं से प्रभावित थी। यह अपने ही ढंग की निराली कविता थी। इस पर तत्कालीन फ्रेंच कविता का बड़ा प्रभाव था, विशेषकर बोदलेय (Baudlaire) का।

टी० एस० ईलियट ने एजरा पाउण्ड के साथ पहले पहल चित्र-कल्प (Imagism) के शिल्प में रचनायें करना आरम्भ किया था। बाद में फ्रेंच कविता से प्रभावित होकर उसने काव्य में उस व्यंग्यात्मक माध्यम का प्रयोग करना शुरू किया जिसमें दो पद आसपास संयोजित करने से एक तीसरा ही अर्थ पैदा करते थे। इस प्रकार के सामासिक पद जो पारस्परिक रूप से भिन्न मालूम होते हैं, इस आशय से प्रयुक्त किये जाते थे कि स्थिति की भयावहता और विषमता से मुक्ति पाकर व्यंग में शरण ली जा सके। जिस उपमान और उपमेय का उपयोग हम उनकी कविता में देखते हैं वह लगभग वैसा ही है जैसा हमें सत्रहवीं सदी के दार्शनिक बुद्धि-विलास (Metaphysical Wit) में मिलता है। उदाहरण स्वरूप ईलियट ने एक स्थान में एक चित्र-कल्प निर्मित किया है, जिसके उपमान और उपमेय दोनों ही आधुनिक जीवन के दैनिक कार्यों से सम्बद्ध हैं—

'चलो हम चलें,
तुम और हम,
जब संध्या विस्तृत हो,
आकाश पटल पर,
मानो वह उस रोगी के समान हो,
जो आपरेशन की मेज पर,
लिटा दिया गया हो और,
क्लोरोफ़ोर्म में बेसुध पड़ा हो!!

यहाँ उपमान और उपमेय देखने योग्य हैं। संध्या का वह समय, जब कवि विचरण के लिए जाना चाहता है, इस तरह फैला है मानों कोई मरीज हाथ पैर फैलाए हुए आपरेशन की मेज पर पड़ा हो। यहाँ एक विलक्षण प्रकार का उपमान ढूँढा गया है और इस उपमान और उपमेय के सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण वातावरण को उपस्थित कर दिया गया है। उस संध्या में वह विचरण करना चाहता है, जिसमें किसी अस्पताल की भयावह नीरवता तथा उस रोगी की अर्द्ध-चेतनावस्था है, जो आपरेशन की मेज पर लेटा हुआ है। वह संध्या, इसलिए, कोई शान्तिप्रद या संगीतमयी संध्या नहीं है। उसमें सम्भावनाओं की भयावह संज्ञा निहित है, जो एक मरीज की उस आशंकापूर्ण अर्द्धचेतनामयी मनोदशा की प्रतीक है जो आपरेशन के पूर्व होती है। इस अनिश्चितता, आशंका और भयपूर्ण वातावरण से ही वह संध्या सम्बद्ध है और उस नाटकीय प्रसंग का पूर्वाभास है जो आगे चलकर कविता में वर्णित होता है। आधुनिक कविता का उद्‌भव इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद के

विरोध और सत्रहवीं सदी के दार्शनिक बुद्धि-विलास के उपयोग से होता है। इसकी कोई विशेष तिथि नहीं दी जा सकती; परन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि एजरा पाउण्ड और टी० एस० ईलियट के प्रारम्भिक परीक्षणों से इस युग का प्रवर्तन हुआ है।

पूर्व के परिच्छेदों में यह इंगित किया गया है कि वर्तमान समय में ज्ञान की भिन्न धारायें एक बिन्दु पर आकर कहीं-कहीं मिल जाती हैं, जो ज्ञान की विविधता और उसकी इकाई को दर्शाती हैं। वर्तमान कवि, जिसकी अनुभूति गहरी और सामाजिक होती है, इस तरह अपने ज्ञान की विविधता को इकाई विशेष में लीन करता है कि जिससे उसकी चित्र-कल्प निर्माण की शक्ति और भी अधिक निखर जाय। सत्रहवीं सदी के दार्शनिक बुद्धि-विलास (Metaphysical Wit) ने वर्तमान काव्य को एक ऐसा स्वरूप देना आरम्भ किया जिसमें भाव और विचार एकाकार होकर एक नया अलंकार पैदा कर देते हैं। जब ऐसा कवि ज्ञान की उस विविध और अन्तर-भेदी पृष्ठभूमि में रचना करता है, तब यह स्वाभाविक ही है कि उसके चित्र-कल्प और पद-योजना में इसकी झलक हो। अतः आधुनिक कविता में हम कथा-कल्प (Myth) का उपयोग देखते हैं। साथ ही हम उन सारी समृद्ध अनुभूतियों का पुट देखते हैं जिनमें ज्ञान की इस विविधता और इकाई का परिचय निहित रहता है। कवि किसी अनुभूति विशेष की व्यञ्जना ऐसे परिवेश में करता है जहाँ उपमाएँ और चित्र-कल्प (Images) वर्तमान काल की बौद्धिक विचारणाओं से परिपूर्ण क्षेत्रों से लिए जाते हैं।

सभ्यता और संस्कृति की जो वर्तमान अवस्था है और जिस संक्रमण काल से यह धारा वर्तमान यूरोप या पश्चिमी देशों में प्रवाहित है उसका स्पर्श कवि के अन्तराल को छूता है। जब वह इसकी अभिव्यक्ति करता है तब सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न बौद्धिक मान्यताओं से सिंचित उसकी कल्पना भिन्न रहती है। उसके चित्र-कल्प राजनीति, मनोविज्ञान अथवा अन्य क्षेत्र से लिए गए होते हैं। इन दूरस्थ मान्यताओं का, जिनका काव्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, चित्र-कल्प अथवा अलंकार में प्रवेश होना एक आश्चर्य की वस्तु दिखाई पड़ती है; परन्तु यदि हम वर्तमान काल के कवि की काव्य-दृष्टि और उसका अपना शिल्प ध्यान में रखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ज्ञान की विविधता उसकी अनुभूति से पृथक् नहीं की जा सकती। इसलिए कवि की काव्य रचना में मनोविज्ञान और राजनीति की गहरी छाप होती ही है।

इस प्रकार कवि में यह सामर्थ्य होती है कि अपनी अनुभूति के माध्यम से वह बौद्धिक, अबौद्धिक या भावात्मक तत्वों को पचा कर, उनमें समन्वय ला सके।

यह समन्वय एक मौलिक अनुभूति है जो कवि के मस्तिष्क में प्रविष्ट होने वाले बौद्धिक, अबौद्धिक और भावनात्मक तत्वों से भिन्न है; यद्यपि उनके मिश्रण से ही उसका उद्‌भव हुआ है।

अंग्रेजी काव्य में एजरा पाउण्ड, जो चित्रकल्पवाद (Imagism) आन्दोलन के प्रमुख स्तम्भ थे, अपनी पीढ़ी के कवियों के अगुआ हुए। उन्होंने एक प्रकार के मध्यकालीन इटली के काव्य सम्प्रदाय (Provencal Poets) का अध्ययन किया और उसकी काव्य-शैली और रीति-शैली को नया रूप देने का प्रयास किया। साथ ही, उन्होंने स्वच्छन्दतावादी प्रणाली की बोझिल, आडम्बरयुक्त, कल्पना केन्द्रित कविता को एक प्रकार के रीतिवादी (क्लासिकल) ढाँचे में ढालना शुरू किया। चित्र-कल्प की स्पष्टता सरलता और फिर भी उसमें जीवन्त अर्थ की मर्मस्पर्शी संज्ञा निहित हो, उसे ही काव्य का प्रधान लक्षण मानकर उस आन्दोलन को और अधिक सबल बनाया। साथ ही एजरा पाउण्ड ने काव्य में एकीकरण (Unity) के तत्व को बहुत ही महत्वपूर्ण माना। उनके काव्य सम्बन्धी विचारों में सौन्दर्यवादिता मिलती है; यद्यपि अपने युग के संस्कृतिक संक्रमण तथा सभ्यता के संकट को उन्होंने भलीभाँति पहचाना था; परन्तु उसको अनुपात से अधिक महत्व देने का उन्होंने विरोध किया। उनके काव्य के कई रूप प्रस्तुत हो चुके हैं और कुछ तो इटालियन कवि दांते (Divine Comedy) के अनुसार लम्बे, दार्शनिक और प्रचुर प्रतीकों से सम्पन्न हैं। उन्होंने जिस प्रकार की काव्य शैली को प्रोत्साहित किया उसे मुक्त काव्य (Vers Libre) कहते हैं। इस काव्य का वर्तमान कविता से अटूट सम्बन्ध है, क्योंकि जब स्वच्छन्दतावादी परम्परा से कवियों ने मुक्ति पा ली, तब उसने अपने काव्य-कौशल को ऐसा मोड़ दिया जिसके फलस्वरूप उसके लिए आवश्यक माध्यम प्राप्त हो गया। प्राचीन काल की छन्द-पद्धति और आधुनिक काल की उलझी हुई, परन्तु गहरी अनुभूति, दोनों में सामञ्जस्य लाना कठिन ही था। आज का कवि अपने समय की सभ्यता, संस्कृति और गहराई से सोचने वालों और अनुभूति प्राप्त करने वालों में से है, इसलिए वह ढाँचे के बन्धन में, जो प्राचीन रूढ़ी के अनुसार चल रहा है, बँधना नहीं चाहता। मुक्त काव्य के विषय में चर्चा अन्यत्र की जाएगी, यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि इस प्रकार की काव्य-शैली में एजरा पाउण्ड अग्रणी हुए और उन्होंने टी० एस० ईलियट को भी बहुत अधिक प्रभावित किया।

टी० एस० ईलियट ने काव्य को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया जिसका एक सरसरी तौर से उल्लेख किया जा चुका है। उन्होंने काव्य में नाटकीय तत्व के

मानव जीवन के कार्यकलापों का, वस्तुस्थिति की अनुभूति और भावनाओं का समावेश हो। उसे ही वह वस्तुपरक सहसम्बन्धी (Objective Corralative) की संज्ञा देते हैं। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य की अटूट परम्परा को साहित्य रचना में वैसा ही स्थान दिया जैसे रीढ़ का शरीर में होता है। प्राचीन साहित्य का ज्ञान अपनी अन्तश्चेतना में लिए हुए कवि जब लिखता है तब वह एक ऐसी परम्परा को आगे बढ़ाता है जिसका सम्बन्ध अतीत और वर्तमान से होने के कारण भविष्य से भी होता है। इस परम्परा की विशिष्ट व्याख्या करके ईलियट ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कवि का व्यक्तित्व और महत्ता परम्परा की परिधि के अन्दर ही प्रस्फुटित हो सकते हैं। यह "अवैयक्तिक कला" (Impersonal Art) की एक ठोस प्रारम्भिक सीमा है।

टी० एस० ईलियट ने अपनी बहुचर्चित कविता 'मरुभूमि' (The Was-teland) में एक कथा-कल्प (Myth) का उपयोग किया। जैसा हम पहले कह चुके हैं, आधुनिक कविता में कथा-कल्प (Myth) का बहुत बड़ा स्थान है। मिथ्र वह कल्पित कथा है जो किसी समय हुई थी और अपने साथ ऐसा चमत्कार लाई थी कि उससे उस समय का जीवन अनुरंजित हो उठा था और उसका स्पर्श सर्वव्यापी था। परन्तु यह घटना, यह कथा आगे चलकर ऐसा सार्वभौमिक रूप ग्रहण कर लेती है जिससे वह अपने काल और स्थान से बँधी नहीं रहती। जन साधारण के मन में और मस्तिष्क में वह इस तरह बैठ जाती है कि लोग यह समझने लगते हैं कि वह चमत्कारिक घटना निरन्तर होती है और अपने साथ वही संस्कार और अनुष्ठान लाती है जिससे वह अपने प्रारम्भिक अवस्था में सम्बद्ध थी। मानव के जीवन में वह कथा-कल्प जब अपने चमत्कार के साथ बार-बार अवतरित होता है, तब उससे सम्बन्धित विधि और संस्कार अपनी उपस्थिति मात्र से उस चमत्कार का आभास दे देते हैं। टी० एस० ईलियट ने ऐसे ही कथा-कल्प को अपनी इस महत्व-पूर्ण कविता का माध्यम बनाया है। वह कथा-कल्प था 'ग्रेल-कला' (Grail Myth) यूरोप की प्राचीन लोक कथा के अनुसार एक फिशरकिंग नामी राजा था; जिसके अल्पकालीन नपुँसक हो जाने से उसके राज्य में सारा जीवन सूख गया था। न खेती हो पाती थी और न वर्षा। इसलिए सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। इस फिशरकिंग का पुरुषत्व लौटाने के लिए यह आवश्यक बताया गया कि किसी दूरस्थ किले में बन्द वह चिह्न लाया जाए जिससे गुप्त रूप से संकेतों द्वारा परामर्श कर उसका इलाज खोजा जा सके। परन्तु इस गुप्त चिह्न को लाने के लिए जब महारथी निकलते हैं तो उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। अन्त में वे उसे खोजने में सफल हो जाते हैं; और राजा को पुरुषत्व पुनः प्राप्त हो जाता है तथा संकट दूर हो जाता है। जीवन में फिर से हरियाली आ जाती है।

इसी ग्रेल कथा-कल्प के आधार पर महाकवि टी० एस० ईलियट ने 'द वेस्ट-लैंड' (The Wasteland) की रचना की। इसमें पश्चिमी यूरोप की वह सांस्कृतिक स्थिति निरूपित की गई है, जब किसी गहरे अभाव के कारण सर्वत्र मरु की तरह सूखापन नजर आता है। जीवन की हरियाली नष्ट हो चुकी रहती है। विश्वास, आस्थायें और जीवन को जोड़ने वाली मान्यताओं की कड़ियाँ सब बिखरी होती हैं। इस मरुस्थली वातावरण में वर्तमान का पश्चिमी जीवन चित्रित किया गया है, मानों कोई फिशरकिंग फिर से नपुंसक हो गया है और उससे सम्बद्ध जन-जीवन शुष्क। नाना प्रकार से इस मरुस्थली के स्पर्श को प्रतीकात्मक रेखाओं से सँजोने के बाद कवि ने कुछ ऐसे प्रसंगों का भी समावेश किया है जो भिन्न धर्मों, संस्कृतियों से लिए गए हैं। सभ्यता की इस मरुभूमि में लहलहाती हुई खेती तो नहीं है, परन्तु एक दहकती हुई ज्वाला मनुष्य की आत्मा और हृदय में विद्यमान है। यह कामनाओं और कामुकताओं की ज्वाला है जिसमें, इस मरु-भूमि में, रहकर मानव-मन एक विचित्र सम्मोहन में फँसा हुआ स्वयं को भस्मीभूत किए दे रहा है। इस प्रसंग में उन्होंने बुद्ध की वाणी और ईसाई सन्त आगस्तीन की वाणी दोनों का ही एक स्थान पर समावेश किया है, और इस तरह अपने काव्य में उस शिल्प का उपयोग किया है, जिसके द्वारा वह दो भिन्न भावनाओं या विचारणाओं को एक साथ संयुक्त कर, एक नयी कल्पना की सृष्टि कर देती है। बुद्ध का दुःखवादी दर्शन, जिसमें मनुष्य के समस्त राग तथा इन्द्रिय-रस अग्नि के समान उसे जलाए डाल रहे हैं, ईसाई सन्त आगस्तीन की उस उक्ति से सामञ्जस्य पा लेते हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि मैं अपनी कामुकताओं के कारण अग्नि में चल रहा हूँ और हे ईश्वर ? तू उसमें से मुझे उठा रहा है।

टी० एस० ईलियट की शैली अपने ही ढंग की एक निराली शैली है जिसमें सत्रहवीं सदी के दार्शनिक बुद्धि-विलास (Metaphysical Wit) का उपयोग तो किया ही गया है; साथ ही उस शिल्प का भी, जिसका प्रवर्तन कवि लफार्ज (Laforgue) ने किया था। यह पद्धति दो प्रकार के भिन्न अर्थ रखने वाले पदों को साथ-साथ इस तरह संजोने की है कि जिससे एक व्यंग्यात्मक अर्थ (Irony) की उत्पत्ति हो जाए। यह सँयोजनात्मक विधि इसलिए आवश्यक है, क्योंकि ईलियट में भावनाओं और विचारणाओं का इतना वैभवपूर्ण प्राचुर्य है कि उसके लिए कोई गहन और उसके समान ही दुरूह प्रणाली प्रयुक्त हो। इसे कुछ लोग 'Poetry of Association' अर्थात् 'संयोग का काव्य' भी कहते हैं परन्तु केवल इससे ही यह परिभाषा पूर्ण नहीं हो जाती। 'मरुभूमि' (The Wasteland) में ईलियट ने भिन्न-भिन्न साहित्यिक स्थलों की भाषाओं, पूर्व और पश्चिमी दर्शनों तथा एलिजाबेथ के काल के नाटकों के प्रभाव का इस प्रकार एक व्यवस्था से

उपयोग किया है जिससे उनकी अनुभूति की विशालता और अन्तर-भेदी मार्मिकता उभर आती है।

'मरुभूमि' (The Wasteland) में कवि ने काव्य की पारम्परिक भाषा तथा शैली के साथ ही रोज की बोलचाल की भाषा का भी उपयोग किया है। इस विविधता के समावेश से उन्होंने अपने काव्य में एक नाटकीय तत्व को स्थान दे दिया। बोलचाल की भाषा के शब्द इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं कि जिससे उनके अन्तर्निहित अर्थ काव्य के शरीर में एक विचित्र ही छटा भर देते हैं। निस्संदेह, ईलियट जैसे महाकवियों के प्रयोग से शब्दों में वह चमत्कार आ जाता है जो कोई महान साहित्यकार ही उन्हें दे सकता है। शब्दों को विस्तृतीकरण की शक्ति तथा उसमें निहित अर्थ को सन्दर्भ के साथ विशिष्ट रूप—वही कवि सफलता के साथ दे सकता है जो मौलिकता की छाप उन पर लगा सकता हो, जो स्वयं भी शब्दों के माहात्म्य और उनके इतिहास तथा अस्तित्व से पूर्णतः परिचित हो।

वर्तमान कविता इस तरह शब्दों के अर्थ को नाना प्रकार से उनकी अपनी पृष्ठभूमि तथा इतिहास की पृष्ठभूमि एवं वर्तमान विचारणाओं से उत्पन्न मान्यताओं की पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कर उनका विस्तार करती है। मौलिकता कोई चमत्कारिक नवीनता नहीं है। वह एक ऐसा ठोस सामञ्जस्य है जो नए और पुराने के योग से उत्पन्न होता है। किसी भी गम्भीर वस्तु से चाहे वह व्यक्ति का जीवन हो, चाहे किसी राष्ट्र का, चाहे ऐतिहासिक विचारणा हो या साहित्य की, यदि अतीत को निकाल लिया जाय तो वह एक कागज के टुकड़े की भाँति भटकने वाला तत्व दिखलायी पड़ेगा। इसलिए शब्दों के अन्तस में उतर कर उनके अतीत को कवि जब अपनी अनुभूति से स्पर्श करता है तो इस मेल से एक ऐसी विचित्र झंकार काव्य में उत्पन्न हो जाती है जो शैली को सुमधुर बना देती है। काव्य में शब्द केवल अपने व्यावहारिक अर्थों में ही नहीं आता है। उनका अपना गहरा जीवन होता है। उनमें निहित विस्तार करने योग्य जो अर्थ होता है वह अर्थ व्यावहारिक अर्थ तो नहीं होता है, साथ ही, वह व्यक्ति या लेखक द्वारा अभिव्यंजित अर्थ से भी बिल्कुल साम्य नहीं रखता। वह कलाकार के हाथ में आकर ऐसी शक्ति बन जाता है जिसे यदि कवि संभाल न पाए तो कवि की लेखनी पर ही हावी हो सकता है। चाहे साहित्य के शब्द हों या बोलचाल के, वह उनमें केन्द्रित चमत्कार को उनके मूल अर्थ से जोड़ कर भी अन्तर दर्शाते हुए एक शुद्ध शैली का निर्माण कर देता है। इसलिए ईलियट के काव्य में केवल चित्र-कल्प या अलंकारों का चमत्कार ढूँढना एक असफल कार्य है। उनमें चित्र-कल्प (Image) भी होते हैं, जो विविध तत्वों से बने होते हैं, परन्तु उनकी जीवन-शक्ति उनकी रूपरेखा में सीमित नहीं रहती। यह चित्र-

कल्प पद की योजना से उत्पन्न हुए शब्द-चमत्कार, अर्थ-चमत्कार और भावनाओं का सामञ्जस्य, अर्थात् तीनों का मौलिक सम्मिश्रण है। यही उसकी सच्ची पृष्ठभूमि है जिसमें चित्र-कल्प पूरी तौर से अपने सौन्दर्य की छटा में उभर आता है।

टी० एस० ईलियट के विश्वास कुछ भी हों, चाहे उसे ईसाई सन्त कवि कहा जाय अथवा बौद्ध दार्शनिक कवि, उसने वर्तमान काव्य साहित्य को एक बड़ी भारी भ्रान्ति से मुक्त किया है। वह भ्रान्ति है, कला को केवल एक सम्प्रेषण की व्यवस्था मानना या काव्य को केवल एक व्यवस्था का ऐसा उपकरण, जो मानव के उलझे हुए भाव को सीधा कर दे। वह तो काव्य को ऐसे केन्द्रित स्थान पर लाकर खड़ा कर देते हैं, जिससे मानव हृदय और मानव-आत्मा दोनों ही जीवन की समस्त स्पन्दनशील विविधता को अपनी अनुभूति में उतारने में सफल हो जाते हैं। मेथ्यू आर्नल्ड की तरह, वह काव्य को धर्म का स्थान नहीं देते हैं, और न ही इस तरह उसके सांस्कृतिक पक्ष को कोई अधिक महत्व देते हैं। वह तो कविता को किसी भी समाज की अभिरुचि का निर्माण करने में प्रबल सहायक मानते हैं, और उनकी यही अभिरूचि आगे चलकर सभ्यता के मानदण्ड—संस्कृति की अभिरुचि और साहित्य की विविध विचारणाओं को प्रेरित कर प्रभावित कर सकती है।

एजरा पाउण्ड और ईलियट के मत पर चर्चा करते हुए हमने उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया। वर्तमान पश्चिमी कविता की जिस धारा का वे प्रतिनिधित्व करते हैं वह एक विद्रोही धारा है। आरम्भ में ईलियट ने जो विद्रोह काव्य के क्षेत्र में किया वह स्वच्छन्दतावादी परम्परा से विच्छेद कर शब्दों के ऐसे प्रयोग का परीक्षण था जिसमें मौलिक अनुभूति अपने मौलिक ताने-बाने में खिल उठे। परन्तु यह मौलिकता कोई एकदम चमत्कारिक नवीनता नहीं थी। मौलिकता एक तर्क संगत विकास को ही कहते हैं और यही विकास जब तेजी से आरम्भ होता है तब विद्रोह का रूप धारण कर लेता है। जिस विकास का उन्होंने सूत्रपात किया वह सचमुच में एक ऐतिहासिक परम्परा का विकास था। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के काव्य तक शब्द व्यंजना में जो भाव तथा विचार समा जाते थे उन्हें मिल्टन के प्रभावशील काव्य से एक भारी क्षति पहुँची। अंग्रेजी साहित्य में यह क्षति ईलियट के अनुसार, "भावनात्मक विघटन" (Disassociation of Sensibility) थी इस लिए जब उन्होंने नए प्रयोग आरम्भ किए तब उसमें सत्रहवीं सदी के 'दार्शनिक सम्प्रदाय' (Metaphysical School of Poetry)' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। साथ ही, जिस मानसिक पृष्ठभूमि में उन्होंने रचना आरम्भ की, वह थी यूरोप की सतत् जागरूक सांस्कृतिक परम्परा। यूरोप का साहित्य होमर से लेकर

अर्वाचीन काल तक, उनकी नस-नस में व्याप्त था। इसलिए यह विद्रोह भी एक विकास ही समझा जाना चाहिए।

परन्तु ज्ञान की विशालता और नए-नए परीक्षणों के कारण मानव-मस्तिष्क के सामने जो क्षितिजों में परिवर्तन और रंगीनियाँ दिखलाई दीं उनसे लेखक भी बहुत प्रभावित हुए। विशेषकर इसके दो प्रकार के प्रभाव कवियों में पाए जाते हैं। एक तो यह कि कवि उत्तरोत्तर अपने हृदय में एक स्वयं का विश्व रचने लगे और उस रचना के लिए माध्यम खोजने का प्रयत्न करने लगे। दूसरे, इस अन्तर्जगत को वह अपने अहम् (Self) से अटूट रूप में सम्बद्ध मानने लगे। उनका अहम् (Self) वर्तमान काल की मनोवैज्ञानिक धाराओं से प्रभावित होकर एक ऐसा गहन और रहस्यमय तत्व बन गया जिसका न कोई छोर था और न कोई प्रारम्भ। इसका अर्थ यह है कि इस अहम् (Self) में अपरिमित सम्भावनायें थीं, और अनुभूति को व्यक्त करने की क्षमता थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के जौर्जियन-सम्प्रदाय के कवियों तक बाह्य जगत, अन्तर्जगत को भावनात्मक रूप से प्रभावित करके उन्हें रचना की प्रेरणा देता था; परन्तु अब कवि का स्वयं का अन्तर एक "सम्पूर्ण" है। उसका स्वयं का अहम् (Self) एक ऐसी अपरिमित-सम्भावनाओं का पुँज है, जो न कभी क्षीण होता है और न जिसका बाह्य जगत से कोई सम्बन्ध रहता है। यह एक ऐसी स्थिति हुई जब कवि नितान्त एकाकी, समाज के अर्थों, में, हो गया, क्योंकि उसका स्वयं का अन्तर एक पूर्ण विश्व बन जाता है और उसका स्वयं का अहम् (Self) एक सृजनकर्ता। परन्तु कवि को तो अपने संसार की हलचल और उसका स्पन्दन लोगों तक सम्प्रेषित करना है; क्योंकि ऐसा करने से ही उसे शान्ति मिल सकती है। उसके आन्तरिक विश्व में और अहम् में, जो एक सृजनात्मक तनाव होता है वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल रहता है। इस तनाव को शान्त करने के लिए कवि शब्दों का सहारा खोजता है।

उसके स्वयं के अहम् (Self) की अपरिमित सम्भावनाओं के कारण वह ऐसी व्यवस्था का निर्माण करता है जिससे उसकी अनुभूतियों में मौलिकता और तीखापन तथा एक उलझा हुआ चमत्कार रहे, जिससे शब्दों में अपने आन्तरिक विश्व का वह परिचय दे सके। आधुनिक स्थिति की इस विडम्बनापूर्ण अवस्था को फ्रेंच कवियों के वर्ग ने बड़ी सफलता के साथ परखा और निभाया। इनमें फ्रेंच कवि मलार्मे (Mallarme) प्रमुख हैं। कविता में शब्दों का उपयोग किस तरह किया जाय और किस प्रकार काव्य का चमत्कार निपुणता से अभिप्रेषित हो, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उद्धरण दृष्टव्य है—

"किसी भी वस्तु का स्पष्ट उल्लेख कर देने से कविता के रस का तीन चौथाई आनन्द नष्ट हो जाता है। कविता का रस तो तभी उपलब्ध होता है जब उसके भावों को, उसके शिल्प को क्रमशः समझते जाएँ।"

इस तरह, उसके अनुसार, संकेत द्वारा स्पष्टीकरण से ही कल्पना को सम्मोहित किया जाता है। मलार्मे के अनुसार कविता एक ऐसा रहस्य होना चाहिए जिसके उद्घाटन के लिए पाठक प्रयत्नशील रहे। ऐसी रहस्यमयता, जो दुरूहता से सम्बद्ध हो; परन्तु इससे भी एक अधिक अर्थमय हो—कविता के चारों ओर का परिवेश। इस रहस्यमयता को संकेत से और भिन्न-भिन्न प्रकार की सांकेतिक शब्द योजना अथवा प्रतीक से ही उत्पन्न किया जा सकता है। यह रहस्यमय परिवेश कवि के अन्तर्जगत की उसके स्वयं के अहम् (Self) से सम्बद्ध रचनात्मक प्रतिक्रिया ही का दूसरा नाम है। जब किसी कविता में यह रहस्यमयता होती है और शब्दों का चयन इस प्रकार होता है कि रहस्यमयता एकदम उद्घटित नहीं हो जाती तब धीरे-धीरे कवि के ये सांकेतिक शब्द पाठक को इस रहस्यमय प्रदेश में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित करते हैं।

मलार्मे के इस दृष्टिकोण से फ्रांस तथा इंग्लैंड के अनेक कवि प्रभावित हुए। कवि जब शब्दों के इकाईपूर्ण ताने-बाने को बुनते हैं तब, उन्हें प्रत्येक शब्द के रहस्यमय अस्तित्व का भान रहता है। शब्द किसी वस्तु का नाम नहीं है। मलार्मे ने शब्द को स्वयम् की सत्ता दी है। उसके पीछे, उसके चारों ओर तथा उसके अन्तर में निहित जो भावनाओं के ये बौद्धिक अर्थ चक्कर लगाते हैं, उनकी ही सूक्ष्म छाया को कवि अपने माध्यम से पकड़ने का प्रयत्न करता है। इस तरह शब्दों का आपस में ऐसा सम्बन्ध होता है कि वह किसी वस्तु का लेबिल-मात्र नहीं रह जाता है। उनकी सजगता, जागरूकता और स्पन्दनशील अनुभूति एक ऐसे प्रवर्तित भँवर में फँसे रहते हैं, जिनके केन्द्रबिन्दु में कवि का अन्तर-विश्व और स्वयं का अहम् (Self) है।

इस प्रकार कविता एक बड़ी ही दुरूह और जटिल होने के साथ ही, कला का एक सुन्दर स्वरूप बन जाती है। टी० एस० ईलियट पर प्रारम्भिक अवस्था में मलार्मे का काफी बड़ा प्रभाव रहा है। इस प्रकार की रहस्यमयी कविता, जिसमें शब्द अपने स्वयं के अस्तित्व से पूर्ण कविता को व्यवस्था में अनुरंजित किए हुए हैं, इस पीढ़ी के कवियों में पाई जाती है। इस दुरूहता के साथ ही एक दूसरी समस्या भी उपस्थित हो जाती है और वह है सम्प्रेषण का और भी अधिक व्यवस्थापूर्ण और प्रखर होना। अब तक मलार्मे के प्रभाव में शब्दों की जटिलता और उनकी

मादक चेष्टा, कवि किसी प्रकार, व्यवस्था और श्रेणी के अनुसार, अपनी कविता की पंक्तियों में सँजोया करता था; परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसके स्वयं के अहम् की भी अपरिमित सम्भावनायें हैं। अतः उसे ऐसे चिह्न, प्रतीक और कथा-कल्प ढूंढने हैं, जिनके द्वारा वह संकेत और उद्बोधन से (Evocation) पाठक को रस की खोज में अभिप्रेरित करे। इन अपरिमित सम्भावनाओं के आन्तरिक प्रदेश में मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और सामाजिक विचारणाएँ अपनी प्रतिच्छाया तथा अपने निहित अर्थों के साथ विद्यमान रहती हैं। अनुभूति की इस विकट विविधता के ज्ञान की इन अपरिमित प्रतिच्छायाओं के प्रत्याकर्षण के मध्य कवि का स्वयं का अहम् (Self) क्रियाशील हो उठता है। वह या तो एजरा पाउण्ड की तरह इटली के मध्यकालीन कवियों के छन्द और लय को आधुनिक रूप देने का प्रयास करता है, जिससे अतीत और वर्तमान के सौन्दर्य का बोध अपने सामञ्जस्य से और भी निखार दें, या ईलियट की तरह शब्दों का ऐसा चयन करता है जिससे अंग्रेजी कविता की बलवती परम्परा जागरूक रहे और वैब्स्टर के नाटकों के कथोपकथन, डन और क्रेशा की कविताओं का दार्शनिक बुद्धि-विलास और शैक्सपीयर की व्यापक गहन अनुभूति की प्यास उसके काव्य प्रयास में जीवन्त हो उठे।

शब्दों को उनकी सूक्ष्म प्रतिच्छाया में रखकर उनके आधुनिक और अतीत के अर्थ को विशिष्ट प्रकार से सामञ्जस्य देकर उनका कविता में उपयोग करना टी० एस० ईलियट ने एक महत्वपूर्ण कार्य समझा। इसके साथ ही साथ समस्या हुई कि किस प्रकार मलार्मे की शब्द-केन्द्रित काव्य-विचारणा को अपनी आवश्यकतानुसार ढाला जाय। फ्रेंच कविता के प्रतीकवाद से वह डब्ल्यू० बी० येट्स की भाँति ही प्रभावित थे। उन्होंने फ्रेंच कवि लफार्ज (Laforgue) के अनुकरण में ऐसी कविताएँ करना आरम्भ की, जिनमें एक सूक्ष्म व्यंग्य का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने अपने काव्य की व्यवस्था ऐसी की कि अतीत से साहित्य का एक पद लेकर, अर्वाचीन अनुभूति से युक्त एक दूसरा पद साथ ही साथ संयुक्त रखा। इन दोनों—अतीत और वर्तमान, के परस्पर प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध हुए, अर्थ में एक तीव्रता, सूक्ष्म प्रतिच्छाया और एक मोहक झंकार उत्पन्न हुई। निम्नलिखित पंक्तियों में इसकी एक झलक प्राप्त होती है—

"जब सुन्दर स्त्री मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठती,
और कमरे में चहल कदमी करती एकाकी होकर,
वह तब अपने बालों को सहलाती है हाथों से,
और फिर ग्रामोफोन का रिकार्ड बजा लेती है।"

यहाँ टी० एस० ईलियट ने गोल्डस्मिथ के उपन्यास 'विकर आफ वेकफील्ड' के एक गीत की कुछ पंक्तियों को लिया है जो इस प्रकार है—

"जब सुन्दर स्त्री मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठती है"

इसके आगे ही ईलियट ने अपनी पंक्तियाँ भी नियोजित कर दी हैं। गोल्डस्मिथ से एक पक्ति लेकर उसे अपनी पंक्तियों में बिठाकर ईलियट ने यहाँ एक व्यंग्यभरा अर्थ उत्पन्न कर दिया है। गोल्डस्मिथ के उपन्यास की सुन्दर स्त्री जब 'मूर्खतापूर्ण' कार्य कर बैठती है तब वह हताश होकर आत्मघात कर लेती है। यहाँ ईलियट में वर्णित सुन्दर स्त्री अपना स्त्रीत्व सर्मपित कर जो कार्य करती है वह यह है कि उसने अपने बालों को सहलाया और फिर ग्रामोफोन का रिकार्ड बजाया और सुना। इस पहली पंक्ति में, जो गोल्डस्मिथ से ली हुई है, स्त्री के सतीत्व-रक्षण का विकट परिणाम और उसके कारण उस सतीत्व का आदर निहित है। परन्तु ईलियट की पंक्तियों में जब यह पंक्ति बिठलायी जाती है तो आधुनिका की उस उच्छृंखलता और सतीत्व के प्रति पूर्ण उपेक्षा से उत्पन्न खोखलेपन का चित्र शब्दों में उतर आता है।

इस प्रकार शब्दों के अर्थ में विद्रोही प्रयोग, कवि के अन्तर्जगत की सम्पूर्ण सत्ता और उसके अहम् की अपरिमित सम्भावनाएँ, अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये कथा-कल्प (Myth) का प्रयोग, व्यंग्यार्थ का आभास, अतीत के साहित्य से पंक्ति लेकर वर्तमान अनुभूति में बैठाना तथा शब्दों का ऐसा प्रयोग करना कि वे बाह्य-जगत की वस्तु को न दर्शायें वरन् स्वयं में सम्पूर्ण हों। ये विशिष्ट लक्षण पश्चिम के, और विशेषकर आधुनिक अंग्रेजी काव्य, के हैं। इसके साथ ही मुक्त काव्य (Vers Libre) और कथा-कल्प (Myth) का सामञ्जस्य आधुनिक कविता को एक बिल्कुल ही विशेष सम्प्रदाय के रूप में प्रदर्शित करता है।

उनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे कीर्तिचिह्न आधुनिक काव्य में हुए हैं जिनके कारण आधुनिकता और भी अधिक विशेष अर्थों से जाग उठी है। समाज और राजनीतिक क्षेत्र में होने वाले वादों की हलचल ने कवियों को भी प्रभावित किया। दूसरे महायुद्ध के पहले कुछ ऐसे युवा कवि हुए जिन्होंने वामपंथी वादों से प्रेरणा लेकर कवितायें लिखीं। इनमें सेसिल डी० लूविस, डबल्यू० एच० औडन और स्टीफेन स्पेण्डर मुख्य हैं। इन कवियों में ईलियट का प्रभाव तो था ही परन्तु इनमें से प्रत्येक कवि ने अपने व्यक्तित्व की आवश्यकता के अनुसार अपना माध्यम चुना। डब्ल्यू० एच० औडन ने मार्क्स और फ्रायड से प्रभावित होकर एक बोलचाल की भाषा को नाटकीय स्तर पर लाकर कवितायें आरम्भ की। उन्होंने काव्य नाटक

भी लिखे। सैसिल डी० लूविस ने अपने व्यक्तिगत जीवन की वास्तविक घटनाओं और अनुभूतियों की ओट में सामाजिक रचना और समाज-क्रान्ति के विषय में कवितायें लिखीं। स्टीफेन स्पेण्डर ने भी गहरी मनोव्यथा और अनुभूति से प्रेरित होकर कवितायें लिखीं। यह तीनों कवि वाम-पन्थी सम्प्रदाय के थे, जिन्होंने अपने अन्तर्जगत को स्वयं में पूर्ण नहीं माना, और उसे बाह्य जगत की क्रान्तिकारी शक्तियों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया। उनकी पद-योजना, चित्र-कल्प और प्रतीक कुछ ईलियट के शिल्प से प्रभावित थे; परन्तु इतना अन्तर था कि ईलियट के प्रतीक (Symbol) जहाँ बाइबिल के प्रतीकों की भावना लिए हुए होते थे, वहाँ इन तरुण कवियों के प्रतीक धर्म से सम्बद्ध नहीं होते थे। औडन ने तो बोलचाल की भाषा को ऐसा काव्यात्मक रूप दिया कि कहीं-कहीं ईलियट की इसी कोटि की कविता उसके सामने श्रेष्ठ नहीं लगती। औडन की कविताओं में एक भावोद्रेक, शुद्ध शक्ति—जो भावनाओं के व्यंजन में निहित है, और दार्शनिक बुद्धि-विलास (Metaphysical Wit) की प्रमुखता है। सैसिल डी० लूविस और स्टीफेन स्पेण्डर में गीतिकाव्य का तत्व अधिक महत्वपूर्ण रहा। इन तीनों कवियों ने सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देकर एक विप्लव की ओर संकेत किया। ऐसा विप्लव जो सामाजिक और सांस्कृतिक था, और किसी सीमा तक राजनीतिक भी।

इन कवियों के बाद भाँति-भाँति के प्रयोग आधुनिक कविता में चलते रहे। फ्रांस के अस्तित्ववाद (Existentiatism) का भी प्रभाव हुआ और एक कवि में तो ऐसा प्रतीत हुआ कि स्वच्छन्दतावाद फिर से लौट रहा है। वह कवि था डायलन टामस (Dylan Thomas)। डायलन टामस एक समर्थ कवि था जिसने शब्दों के विषय में ऐसी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया कि मलार्मे की व्याख्या से भी एक चरण आगे जा पहुँचा। उसने प्रकृति और मानव का सम्बन्ध शब्दों के माध्यम से ऐसा दृढ़ किया कि कविता में एक सबल और शुद्ध स्वच्छन्दतावाद फिर से लौट आता दिखाई पड़ा। परन्तु इस कवि की अकाल मृत्यु होने के कारण इस प्रकार की कविता आगे न बढ़ पायी। अब तक जो महान प्रभावशाली कवि अंग्रेजी साहित्य में माना जाता है और जिसने अपने प्रयोगों के द्वारा इसे एक विप्लवपूर्ण स्थिति में लाकर विकास की चरम सीमा तक पहुँचाने का प्रयास किया, वह है टी० एस० ईलियट। आधुनिक कविता में वर्तमान समय के पश्चिम का आधुनिक मन प्रतिबिम्बित होता है। इन मन के चितेरे हैं पिकासो (Picasso) सार्त्र (Sartre), ईलियट (Eliot) आदि। यह आधुनिक मन क्या है, इसकी व्याख्या अन्यत्र की जाएगी।

परिच्छेद–१५

## पश्चिमी काव्य और प्रतीकवाद (Symbolism)

वर्तमान समीक्षा के मानदण्डों में 'प्रतीकवाद' की बहुधा चर्चा होती है। प्रायः ऐसा देखने में आया है कि साधारणतः समीक्षक प्रतीकवाद को चित्रकल्प (Myth) का एक विकसित रूप मानते हैं। परन्तु यथार्थ में प्रतीकवाद का भी एक विशिष्ट दृष्टिकोण है जो कुछ अंशों में दार्शनिक है और कुछ में सौन्दर्य-शास्त्र की मान्यताओं से प्रभावित।

प्रतीकवाद फ्रैंच कविता की एक बहुत बड़ी विशेषता थी जिस पर जर्मनी के साहित्य का भी कुछ प्रभाव था। जैसे उन्नीसवीं सदी के स्वच्छन्दतावादी युग में कोलरिज ने इस बात का एक संकेत अपने एक पत्र में जो उसने ब्लेक को लिखा था, दिया था। इसमें उन्होंने कहा था कि मैं चाहता हूँ कि शब्द और वस्तु में जो विरोधाभास होता है वह नष्ट हो जाय और शब्द इस प्रकार उदात्त हो जाए कि वह जीवित वस्तु से साम्य पा ले। जैसा कि पहले विवेचन किया जा चुका है, कोलरिज एक दार्शनिक कवि था और उसकी समीक्षा में दार्शनिकता का भारी पुट था। कोलरिज के इस मत में उसने उस काव्य की विशेषता की ओर संकेत है, जो आगे चलकर विकसित होती है और कुछ सीमा तक प्रतीकवाद को भी प्रभावित करती है।

अमरीकी कवि एडगर एलन पो के विचारों का विवेचन पहले ही हो चुका है। उसके अनुसार काव्य आत्मा की अनुभूति है जो महान सौन्दर्य की अनुभूति से स्वयं को अनुप्राणित करना चाहती है। यहाँ स्पष्ट संकेत उस अधि-भौतिक सौन्दर्य की ओर है जो इस पार्थिव अनुभूति से परे है। प्रतीकवाद मूल में कोई दार्शनिक आन्दोलन नहीं था परन्तु उसमें कुछ ऐसी दार्शनिक विचारणायें प्रवेश कर गई थीं जो इसे अनुभववाद (Empiricism) से ऊपर उठाकर अधि-भौतिक चेतना के सम्पर्क में लाती हैं। एडगर एलन पो के समकक्ष साहित्यकार और विचारक एक

विशेष प्रकार के दर्शन के अनुयायी थे जिसे 'अनुभवातीत परमतत्ववाद' (Transcedentalism) कहते हैं। पो इससे अवश्य ही प्रभावित रहा होगा।

परन्तु न तो ब्लेक और न ही एडगर एलन पो को प्रतीकवाद का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों ने प्रतीकवाद का पूर्वाभास दिया; परन्तु इसका सच्चे अर्थों में आरम्भ फ्रेंच के प्रसिद्ध कवि बोदलेय (Baudelaire) ने किया। उनकी एक कविता 'Correspondences' शीर्षक से प्रकाशित हुई जिसने अपने समय में काव्यक्षेत्र और समीक्षा में काफी तहलका मचाया। इस कविता में कवि ने कहा है—

> "प्रकृति एक मन्दिर है जिसके स्तम्भ वृक्ष हैं,
> उनसे जब वायु विचरती है और कभी उन्हें झकझोरती भी है,
> तब अस्पष्ट शब्द इनमें से निकलते हैं,
> यह प्रतीक का जंगल है जिनमें मानव,
> विचरण करता है और वह वृक्ष उसे परिचित दृष्टि से देखते हैं।"

इस कविता में बोदलेय ने यह दर्शाया है कि प्रकृति के वृक्ष और जंगल एक ऐसा जगत है जिसमें से होकर वायु वृक्षों से बहती है। बहती हुई वायु से अस्पष्ट ध्वनि निकलती है अर्थात् इस जगत में कुछ ऐसे संकेत आते रहते हैं जो किसी अधिभौतिक जगत के अस्तित्व को सूचित करते हैं। इस तरह वास्तविक जगत में पाई जाने वाली वस्तुएँ अधिभौतिक जगत में स्थित अपनी समानान्तर वस्तुओं की ओर इंगित करती हैं। इस तरह वास्तविक जगत की वस्तुओं को हम न पूर्णतः देख पाते हैं और न स्पष्टतः सुन पाते हैं। उनका अनुभव पूर्णता से तभी हो सकता है जब प्रतीक के सहारे उनके अधिभौतिक साम्य को भी देखें। वे हमारे माध्यम में केवल प्रतीकों के सहारे ही उतरती हैं। प्रतीक वह सेतु है, जिसके सहारे कवि वास्तविक जगत से अधिभौतिक जगत में परोक्ष रूप से विचरण कर सकता है।

वास्तविक जगत और अधिभौतिक जगत की प्रत्येक वस्तु में साम्य है केवल उसका स्थूल रूप अनुभव में नहीं आ पाता है। कवि ही एक ऐसा प्राणी है जो अपनी विशेष शक्ति द्वारा इन अस्पष्ट संकेतों को सुन सकता है; वे संकेत इन दोनों जगत की वस्तुओं के साम्य को इंगित कर देते हैं। इसलिए जिस कवि में अनुभूति का प्राचुर्य है और वह उसे ऐसे माध्यम से सम्प्रेषित करना चाहता है कि उसके अर्थ की प्रतिच्छाया के विविध सूक्ष्म अन्तर भलीभाँति वहन हो सकें। अतः वह प्रतीक के माध्यम खोजता है। बोदलेय ने ऐसे प्रतीक खोजे जिनसे उपमान और उपमेय

बड़े विलक्षण प्रकार से अर्थ गौरव लिए होते थे। उन्होंने एक स्थान में इत्र की तुलना बच्चे के ताजा चमड़े से की। बोदलेय की प्रतीकात्मक कविता के विषय में आगे चलकर बहुत विस्तार से कहा जायगा।

राग जनित अनुभूति की कोई सीमा नहीं है। उसकी अपनी अपरिमित सम्भावनाएँ हैं; इसलिए मन की कोई अभिलाषा या दुख या विचार किसी एक साम्यता लिए प्रतीक को चित्रकल्प के जगत में जागृत कर देता है। कवि का प्रयास यह रहता है कि किस प्रकार रागजनित चित्रकल्प को इस तरह अधि-भौतिक चेतना की 'साम्य' वस्तु से युक्त किया जाय कि उसके काव्य में एक व्यवस्था और अन्विति की स्थापना हो सके। चित्रकल्प तो उपमेय और उपमान को जोड़कर क्षण भर के लिए किसी रूपरेखा की सर्जना करता है परन्तु अपने रागरंजित अनुभव के लिए कवि ऐसे माध्यम खोजता है जो उस अनुभूति को भिन्न-भिन्न प्रकार से, कम से कम शब्दों में, तरह-तरह की प्रतिच्छाया में और गूढ़ अर्थों के द्वन्द्व में स्पष्ट करता हो। इसलिए जब वह काव्य रचना करता है और किसी प्रतीक को अपनाता है तब वह प्रतीक उसका अपना होता है जिसके सहारे उसके काव्य का स्वरूप व्यवस्थित बन जाता है।

अधिभौतिक जगत से आए हुए संकेतों के यह अर्थ नहीं कि यह संकेत कोई रहस्यवादी या धार्मिक संकेत होते हैं। यह संकेत अवश्य ऐसे होते हैं जो प्राचीन दर्शन, साहित्य, लोककथा, महाकाव्य, धर्म-ग्रन्थ आदि में होते हैं; परन्तु उनका अपने सन्दर्भ में अपने दार्शनिक अर्थों के अनुसार महत्व होता है। इनमें से यदि कवि कोई एक शब्द प्रतीक मानकर कविता करता है तब उस प्रतीक में बहुत सारे अर्थों की प्रतिच्छाया अपनी गूढ़ता के साथ समावेश पा जाती है।

बोदलेय ने अपने काव्य में कला को उस अनन्त सौन्दर्य और सत्य का एक पूर्ण प्रतीक माना है जो वास्तविक जगत की विचारणा नहीं है। यदि एडगर एलन पो की भाँति ही वह किसी अधिभौतिक 'परमसौन्दर्य' के अनुसार ही प्रेरणा का उद्गम नहीं खोजता तो वह केवल स्वच्छन्दतावादी कवि होता जो अपने हृदय की भावनाओं का ही निस्सरण करता रहता है। इस प्रकार सौन्दर्य एक आध्यात्मिक सत्य है; परन्तु कवि इस सौन्दर्य को वास्तविक जीवन के कुरूप और पापमय अंगों का अवलोकन करके ही खोज पाता है। इसलिए जो जीवन में विकलांग है, पापमय है, कुरूप है, घृणित है—उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि उसकी तीखी अनुभूति प्राप्त करके ही उसमें से ऐसा सार तत्व निकाला जा सकता है जो सचमुच ही सौन्दर्य का आत्मरूप है। अपने 'पाप के फल' ("Flowers of Sin) कविता

संकलन में उसने उस विशिष्ट सौन्दर्य की रचना की जो पाप और अन्य घृणित कुरूपताओं के बीच संघर्ष के बाद प्राप्त होता है। उसकी कविता 'साम्य'—(Correspondences) का, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अनुवाद उद्धृत है—

"प्रकृति वह मन्दिर है जहाँ जीवित स्तम्भ हैं,
जो कभी-कभी उलझे अस्पष्ट शब्द निकालते रहते हैं,
मानव वहाँ आता है, प्रतीकों के जंगल के बीच,
जो उसे परिचित आँखों से देखते हैं।
उन गहरी प्रतिध्वनियों की तरह जो दूर से आकर,
एक अस्पष्ट परन्तु गूढ़ लय में लीन हो जाती है,
जो रात्रि की तरह ही विशाल हैं,
उन्हीं की तरह इत्र, रंग आदि एक दूसरे के लिए लयपूर्ण हैं,
कुछ इत्र हैं जो बच्चे की चमड़ी की तरह मुलायम और ताजा हैं,
जो किसी चरागाह की तरह हरे हैं और,
दूसरे इत्र हैं जो वैभवपूर्ण हैं, गर्वोन्नत हैं,
जिसमें असीम वस्तुओं का प्रसार है।
जैसे मुश्क तथा अन्य सुगन्धित वस्तुएँ,
जो आत्मा और राग रागेन्द्रियों के अतीत सुख की,
स्तुति गाती रहती हैं।"

बोदलेय ने जिन वस्तुओं में साम्य की कामना की है वे स्थूल वस्तुएँ हैं और उनके समानान्तर ही राग-जनित अनुभूति से परिपूर्ण वस्तुएँ हैं, जिनके अर्थ का उद्घाटन किसी अधिभौतिक जगत के प्रतीक से ही होना सम्भव है। यह प्रतीक कवि के लिए किसी कविता में एक आत्मा के समान है। उससे ही सारी अलंकार व्यवस्था और भावनाओं का रंजित व्यापार प्रकाशमान होता है। यह प्रतीक दो समानान्तर अनुभूतियों में साम्य तो स्थापित करता ही है, और स्वयं में भी वह ऐसा पूर्ण है कि उसके पीछे और उद्गम में निहित भावनायें सुप्त अवस्था में होती हैं। यह तभी जागृत होकर अपना प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं, जब श्रोता या पाठक सम्बद्ध प्रतीक से एकरस होकर उसका उचित महत्व उस काव्य-व्यवस्था में आँक सके।

बोदलेय का विश्वास था कि इस स्थूल जगत में जो वस्तु है, उसके मूल कारण में अधिभौतिक जगत का ही समानान्तर विश्वक (Idea) है। कुछ अंशों में

बोदलेय पर नव-प्लेटोवादी विचारणा का प्रभाव था तथा एडगर एलन पो का भी। वह पो की तरह सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य मानता था परन्तु वह सौन्दर्य जो किसी विश्वक 'महान सुन्दर' की प्रतिच्छाया मात्र है। साथ ही वह पो के इस तथ्य से भी सहमत था कि काव्य में काव्यकौशल सबसे महत्वपूर्ण गुण है। अतः कवि को परिश्रम और साधना से कविता के स्वरूप को सजा-सँवारकर रखना चाहिए।

यदि बादलेय सौन्दर्य का उपासक था तो किन अर्थों में वह दूसरे सौन्दर्य-शास्त्रियों (Aesthetes) से भिन्न था? उसके सौन्दर्य की कल्पना भिन्न थी। सौन्दर्य विषय-वस्तु में निहित नहीं होती है। वह तो कवि द्वारा विषय-वस्तु में सम्बद्ध किया जाता है। फिर इस सौन्दर्य का स्वरूप कैसा था? सौन्दर्य अग्नि की शिखा है, शक्ति की आभा है। उसे कवि किसी अधिभौतिक अनुभूति के आघात से ही अनायास पा लेता है। यह आघात उसे उस समय लगता है जब वह जीवन की कुत्सित, वीभत्स, पापमयी अभिव्यंजनाओं का अवलोकन करता है। कुरूपता के मध्य में ही वह सौन्दर्य को इत्र की तरह खींच लाता है।

अतः कवि की आत्मानुभूति ऐसी तभी सम्भव है जब उसके व्यक्तित्व में अधिभौतिक पुट हो। क्योंकि वह 'साम्य' (Corrospondenes) में विश्वास रखता है, इसलिए अधिभौतिक स्तर के किसी मूल चित्रकल्प को केन्द्र बनाकर वह 'प्रतीक' की सृष्टि कर लेता है। साम्य की इस प्रेरणा से ही वह रंगों को लय से तथा ध्वनि को रंग और रेखाओं से उभार लाने में सफल होता है।

बादलेय से अधिक यदि किसी फ्रेंच कवि ने 'प्रतीकवाद' को बल दिया है तो वह मलार्मे (Mallarme) है। ध्यान रहे कि अंग्रेजी के महाकवि टी० एस० ईलियट पर इन दोनों फ्रेंच कवियों का गहरा प्रभाव था। मलार्मे ने दूसरे अंग्रेजी कवि डबल्यू० बी० येट्स (W. B. Yeats) को भी अपने प्रतीकवाद से प्रभावित किया है। मलार्मे पर अमरीकी कवि एडगर एलन पो का इतना प्रभाव था कि वह पो को अपना गुरु मानता था।

मलार्मे के विषय में कुछ चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। इस कवि ने काव्य रचना बहुत कम की है परन्तु इसके विचारों का बड़ा गहरा प्रभाव तत्कालीन 'प्रतीकवाद' पर था। उसने कविता में 'ठोसपन' का लक्षण उत्तम माना। स्वच्छन्दतावादी कविता के स्फुर्णाप्रधान होने के कारण कवि की व्यक्तिगत अन्तः प्रेरणा से काव्य में एक छिछलापन आ जाता है। उसमें सार्वभौमिकता का परिवेश बहुत ही क्षीण होता है। इसलिए मलार्मे ने कविता को जीवन की प्रामाणिकता का माध्यम बनाकर

उसे इस तरह ठोस बनाया जिससे अधिभौतिक जगत से उतरे 'प्रतीक' सारी अनावश्यक और कृत्रिम अभिव्यंजना को निरस्त कर दें ।

मलार्मे की प्रतीकमयी उक्ति में शब्द मात्र चिह्न नहीं होते हैं । तिरते हुए प्रतीक इस प्रकार काव्य-व्यवस्था में स्थापित हो जाते हैं मानो वह संचार केन्द्र हों । एक ही शब्द की रहस्यमयता होती तो उसकी प्रतीकात्मक आभा से कविता के अन्य पद प्रकाशित होते । पर उसकी इस अंधियारे-उजियारे की झुटपुटी दुनिया में अर्थ एक गुत्थी बन जाता, भाव सिमट कर विचार, चित्रकल्प तथा विषय-वस्तु को एक अनोखी प्रहेलिका बना डालते । कविता का पाठक धीरे-धीरे इस रहस्यमय जगत में प्रवेश कर, प्रतीकों के ताने-बाने में उस केन्द्र-बिन्दु को खोजे जिसके द्वारा हल निकल सकता है । इस प्रकार रस रसेन्द्रिय में किसी मीठी डली की तरह घुले, फूटे और फिर बह निकले । सच्चे अर्थों में यही कविता का आस्वादन हुआ । इस आस्वादन से ही प्रतीक की शक्ति परखी जाती है—और प्रतीक से ही जीवन में वह प्रामाणिकता आती है जो अधिभौतिक स्तर के सम्बन्धों के सन्दर्भ में ही अर्थ रखती है ।

मलार्मे के साथ ही जिस दूसरे प्रतीकवादी कवि का नाम लिया जाता है वह है पाल वैलारी (Paul Vallery) । यह फ्रेंच कवि भी पो की 'शुद्ध कविता' की विचारणा से प्रभावित था, और विशेषकर पो की यह उक्ति से कि संगीत में आत्मा अधिभौतिक सौन्दर्य का सृजन करने में करीब-करीब सफल होती है । उसने इस उक्ति को महत्वपूर्ण बिन्दु मानकर अपने काव्य की रचना आरम्भ की । उसका प्रयास रहा कि इस प्रकार के प्रतीकों को कविता में सँजोया जाय कि उनसे वास्तविक अर्थ निःसृत हो सकें, और उनका कार्य कविता में एक ऐसी सुन्दर लय स्थापित करना हो जिससे अधिभौतिक साम्य की अनुभूति हो सके । वैलारी ने अपने कुछ समकालीन कवियों को प्रभावित किया, जिससे शुद्ध कविता में विशुद्धि अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई और संगीत के स्वर शब्दों के अर्थहीन माध्यम से गूँजने लगे । किसी भी शब्द से उसके तार्किक अथवा वास्तविक अर्थ का निष्कासन कर देने से उसमें जो सौन्दर्य आता है वह प्रतीकात्मक संकेतों के द्वारा एक लय देता है । ऐसी कविता का आस्वादन पाठक के मन में ऐसा ऐक्य उत्पन्न कर देता है जो अपनी मानसिक प्रवृत्ति (Mood) को केवल एक ही राग से पूरित पाता है ।

बादलेय, मलार्मे और पाल वैलारी, इन तीनों फ्रेंच प्रतीकवादी कवियों का इस काव्य-आन्दोलन में ऊँचा स्थान है । परन्तु जिस प्रतीकवाद के वे समर्थक थे,

उसे सौन्दर्यवाद (Aestheticism) का पर्याय नहीं समझना चाहिए। प्रतीकवाद कला के स्वरूप का अन्यतम बोध अनुभव करना चाहता है, वह उसे पूर्णता की दशा में पहुँचाने का प्रयास करता है। परन्तु सौन्दर्यवाद जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है जो किसी सिद्धान्त पर आधारित है। प्रतीकवाद में कवि वास्तविक जगत की अनुभूति से बचकर अपने अन्तर्जगत की सृष्टि को अपनी अनुभूति का पूर्ण आलम्बन मानता है। परन्तु साथ ही वह अपने व्यक्तित्व के मूल में एक ऐसा अहम् वादी चिन्तक है जो अधिभौतिक जगत से आने वाले कल्पित संकेतों को मूर्तिमान रूप देता है। वास्तविक जगत और अधिभौतिक जगत में वह एक बड़ी रेखा की कल्पना करता है जो दोनों में बिंधी हुई है। इसलिए साम्य का बोध उसे होता है। सौन्दर्यवादी तो वास्तविक जगत की अनुभूति में ही लिप्त रहकर 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त पर सौन्दर्य के बोध की उपासना में लगा रहता है। उसकी यह अनुभूति वास्तविक जगत की तरह ही सीमित और उसके व्यक्तित्व की तरह ही कुछ अंशों में उथली होती है। प्रतीकवादी कवि का संसार अन्तर्मुखी होता है, इसमें अनन्त सम्भावनाओं का परिवेश होता है और इसलिए उसकी अनुभूति अपनी ही सृष्टि के रंजित स्पर्श से जागरूक रहती है। दूसरी ओर, सौन्दर्यवादी कवि एक सीमित दायरे में काम करता है। कला के स्वरूप को वह किसी व्यवस्था में बाँध नहीं सकता क्योंकि उसका सौन्दर्य-बोध उतना अन्तर्मुखी नहीं होता जितना कि प्रतीकवादी कवि का।

हाँ, ऐसा भी देखने में आया है कि अपने अन्तर्जगत में सम्पूर्ण रूप से लिप्त होने से और वास्तविक जगत की अनुभूति से पराङमुख होने से प्रतीकवादी कवि कभी-कभी पलायनवादी भी हो जाता है। जब उसका पूर्ण ध्यान कला के स्वरूपों को अर्थ द्वारा एक भाव ही से अलंकृत कर प्रतीकों के संकेत से उसमें हलचल पैदा करता है, तब उसका सम्पर्क अनुभूति के मूल-स्रोत, वास्तविक जगत, से टूट जाता है। वह इस तरह इस खतरे का सामना करता है कि कहीं किसी ह्रासोन्मुख (Decadent) क्लिष्ट शैली का वह पूर्ण समर्थक न बन जाए।

अंग्रेजी साहित्य में जिस कवि ने पहले पहल प्रतीकवाद को अपनाया वह था डबल्यू० बी० येट्स। येट्स स्वच्छन्दतावादी कवियों में अंतिम गिना जाता है और आधुनिक कविता के प्रवर्त्तन में भी उसका गहरा हाथ बताया जाता है। डबल्यू० बी० येट्स फ्रेंच कविता के प्रतीकवाद से पूर्णतः प्रभावित था। जिन प्रतीकों को उन्होंने अपनी कविता में स्थान दिया वे अपने अर्थ-सौष्ठव द्वारा पाठकों के लिए नई अभिरुचि का निर्माण करने के लिए एक प्रधान माध्यम हैं। उनके माध्यम से येट्स ने अपनी कविता को एक स्वतः का दर्शन दिया। इनके कारण ही उसकी

विचारणाओं में तथा चित्रकल्प-व्यवस्था में एक अन्विति का निर्माण हो पाया। उनके दर्शन का सार उनकी पुस्तक 'एविजन' (A Vision) में पूरी तौर से वर्णित है। जिसमें उन्होंने चन्द्रमा की अट्ठाईस कलाओं के प्रतीकों द्वारा इतिहास, सभ्यता और मानव -मन के उत्थान-पतन की कहानी कही है। चन्द्रमा जब पूर्ण विकसित होता है—येट्स ने उसे उस स्थिति का प्रतीक माना जब मानव-मन पूर्ण रूप से आत्मगत (Subjective) होता है। उन्होंने इस पुस्तक में चन्द्रमा की अट्ठाईस कलाओं के प्रतीक अपने काव्य के लिए एक चित्रकल्प के रूप में निर्मित किए हैं। इस प्रकार इस महान कवि में प्रतीकवाद तथा कथा-कल्प, दोनों ही का समावेश है। इस कथाकल्प के सहारे उन्होंने सभ्यता और इतिहास के उत्थान-पतन से सम्बन्धित मनुष्यों, नायक-नायिकाओं और बौद्धिक धाराओं का निरूपण किया।

यहाँ प्रतीकवाद का विवेचन है; अतः यह अभीष्ट होगा कि कवि येट्स के प्रतीकों के विषय में भी कुछ कहा जाय। उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

> "कविता के अलंकार और रहस्यवाद के प्रतीक में यह अन्तर है कि रहस्यवादी प्रतीक किसी पूर्ण व्यवस्था में पूरी तरह रमे होते हैं।"

> "जब कोई चित्रकल्प प्रतीक बन जाता है तो उसके सहारे भिन्न-भिन्न ध्वनियों और नाना प्रकार की प्रतिच्छायाओं में भरे हुए गूढ़ अर्थ सामने आते हैं।"

कवि येट्स ने शैक्सपीयर के नाटक 'लीयर' में राजा लीयर की क्रोधोन्मत्त प्रवृत्ति की 'क्षुब्ध सागर' से तुलना का उल्लेख किया, और इस पर चर्चा की। उन्होंने कहा कि चित्रकल्प के नाते 'क्षुब्ध सागर' एक क्रोधोन्मत्त बूढ़े के दिमाग के लिए उपयुक्त उपमा है। परन्तु जब यही उपमा प्रतीक बन जाती है तो उसमें इस प्रकार की भावनाओं और अर्थों की ध्वनियाँ व्यंजित होती हैं, जैसे—

> "क्षुब्ध सागर में मछलियाँ भी होती हैं, जिनका सम्बन्ध पृथ्वी और वायु से होता है, झकोरों और बादलों से होता है—और इस तरह मन की समस्त क्रियाओं की उसमें अभिव्यंजना होती है।"

इसका अर्थ यह नहीं कि प्रतीकवादी कवि रहस्यवादी व्यक्ति है। वह रहस्य-वाद से केवल 'साम्य' का प्रतीक ही लेता है और उसके सहारे अपने काव्य की व्यवस्था में न केवल एक अन्विति का निर्माण करता है वरन् तरह-तरह की प्रति-ध्वनियों, प्रतिच्छायाओं और महक उसमें ले आता है। इन्द्रियजनित अनुभूति

अपनी समानान्तर अनुभूति से, जो अधिभौतिक जगत के प्रतीकों में उतरती है और जिससे उनका साम्य होता है, कविता में क्रियाशील हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि कण-कण जो अब तक बिखरे और किसी वात्याचक्र में फँसे जान पड़ते थे वे ही एक शान्त और सुव्यवस्थित ढाँचे में स्थित होकर अपनी निहित आभा से अर्थ और भाव, दोनों को प्रकाशित करते हैं। येट्स ने एक स्थान पर कहा है कि वास्तविक अनुभूति और अधिभौतिक अनुभूति के प्रतीकों में एक ऐसा साम्य हो जिससे उत्पन्न ध्वनि किसी प्रकार अनूदित न हो पाए। इस साम्य के संयोग से जो समन्वय चित्रकल्प के रूप में पैदा होता है और जो चित्रकल्प यथार्थ में प्रतीक है उसका किसी दूसरे माध्यम में अनुवाद नहीं हो सकता क्योंकि यह इतना सूक्ष्म, इतना गहन और इतना अतल है कि केवल शनैः-शनैः आस्वादन कर अर्द्धचेतना में ही इसे बैठाया जा सकता है। यहाँ ही कविता की मंत्र-शक्ति सामने आती है क्योंकि इससे एक विशेष अन्विति-जनक मनःस्थिति (Mood) बन जाती है।

येट्स अपने समय के कुछ रहस्यवादी क्लबों का सदस्य था जिनमें थियोसोफी के अतिरिक्त जादू की संस्थायें भी थीं। इनके माध्यम से वह प्रतीकों के अलग अस्तित्व को मानता था। रहस्यवादी संस्थाओं से येट्स को कई प्रतीक प्राप्त हुए; इनमें परम्परागत चार तत्व भी थे—वायु, पृथ्वी, जल और अग्नि। इन प्रतीकों का जहाँ-जहाँ येट्स ने उपयोग किया उनकी भाव व्यंजना और ध्वनि व्यञ्जना इस प्रकार प्रस्फुटित हुई, जैसे—

'जल' वहाँ प्रयुक्त होता है जहाँ ओस बिन्दु, ज्वार-भाटा या लहर उपयोग में आते हैं। जहाँ 'वायु' का उपयोग होता है वहाँ समीर, जहाँ 'अग्नि' का वहाँ अग्नि-शिखा या तारे और जहाँ 'पृथ्वी' का वहाँ मिट्टी या वन।

यही शब्द जब प्रतीक बन जाते हैं तब उन का अर्थवैचित्र्य इस प्रकार प्रकट होता है—

'जल से संकेत होता है आँसुओं का जो दुख के द्योतक हैं और दुख से किसी हानि या मृत्यु का। इस प्रकार जल का प्रतीक जहाँ प्रयुक्त होता है वहाँ हानि, दुःख और मृत्यु की ध्वनि होती है। अग्नि जो अग्नि-शिखा के पर्यायवाची शब्द में प्रयुक्त होती है, रक्त वर्ण की होती है; इसलिए वह काम की ज्वाला का अर्थ लिए होती है। अतः जहाँ-जहाँ अग्नि का प्रतीक होता है उसमें काम, प्रेम, शृंगार के अर्थ निहित होते हैं। वायु, विशेषकर प्रातः समीर सूर्योदय से सम्बद्ध है, और सूर्योदय है उदीयमान आशा का प्रतीक, इसलिए वायु का प्रतीक जहाँ आता है उससे आशा का अर्थ अभिप्रेषित होता है। पृथ्वी, जो स्वयं में प्रकाशहीन अतः

अन्धकारमय है और केवल सूर्य से ही प्रकाशित होती है। जहाँ पृथ्वी का प्रतीक आता है वहाँ अन्धकार और अन्धकार जनित पाप की ध्वनि उठती है। इस तरह चार तत्व (ग्रीक दर्शन ने केवल चार ही तत्व माने हैं परन्तु भारतीय दर्शन में पाँच माने गए हैं।) प्रतीक बन जाते हैं और कविता के अस्फुट और बिखरी शक्तियों की ध्वनियों को समेटकर व्यवस्था के ऐक्य में ढाल देते हैं। साथ ही, सूक्ष्म अर्थों और भावनाओं की ध्वनियों को इस प्रकार मिश्रित कर प्रस्तुत करते हैं कि एक रसमयता उत्पन्न हो जाती है।

इन चार तत्वों के अतिरिक्त भी येट्स ने बहुत सारे प्रतीक कविता में समाविष्ट किए हैं। कभी देश का प्रतीक, कभी पक्षी का, कभी वृक्ष का और ये सारे प्रतीक अपने सन्दर्भ में अपने निहित अर्थों की केन्द्रित शक्ति में विविध प्रकार से भिन्नता लिए हुए होते हैं। यदि पृथ्वी अन्धकार का प्रतीक है तो इसका यह अर्थ नहीं कि जहाँ-जहाँ यह प्रतीक आया हो वहाँ मृत्यु ही ध्वनित हो। वे सारे सूक्ष्म अर्थ जो मृत्यु से सम्बन्धित हैं या निराशा अथवा दुख से, उनकी ही इसमें ध्वनि होती है।

प्रतीकवाद कोई विशिष्ट सम्प्रदाय अंग्रेजी साहित्य में या पश्चिमी साहित्य में स्थायी रूप से नहीं बना पाया क्योंकि प्रयोगों के इतने प्रकार थे और विविध विचारणाओं के इतने निकट सम्पर्क कि कला के स्वरूप की पूर्णता के लिए नाना प्रकार से प्रयत्न होते रहे और उनमें यह 'वाद' ओझल हो गया।

परिच्छेद–१६

# आधुनिक उपन्यास और "चेतना प्रवाह"

आधुनिक उपन्यास के विषय में जो समीक्षाएँ हुई हैं वे बहुचर्चित और लोकप्रिय हो चली हैं। उपन्यास साहित्य का वह अंग है जो जीवन की सम्पूर्णता को मानव की अनुभूति द्वारा ढालकर एक ऐसी व्यवस्था में उँडेल देता है जिसके लिए परम्परा के मानदण्ड के अनुसार काल और स्थान का बन्धन नहीं है। परन्तु आधुनिक नाटक और उपन्यास इस परम्परागत विचारणा से भिन्न हैं—क्योंकि पात्रों के जीवन की विविधता और उनके अन्तर्द्वन्द्व, जिसका नाटक भी उपयोग करते हैं, उपन्यास का विषय होते हैं, इसलिए यह सम्भव है कि साहित्य के इस अंग—उपन्यास, को एक निश्चित स्वरूप (Form) प्राप्त करने में कठिनता हो। प्रतीकवादी कवियों ने तो अपने अन्तर-विश्व में ही अनुभूति की खोज की और उसके समानान्तर चिह्न उन्होंने अधिभौतिक जगत के साम्य में खोजे। आधुनिक उपन्यासकार के समक्ष यह प्रश्न रहा है कि किस प्रकार उन्नीसवीं सदी द्वारा प्रदत्त उपन्यास की कला को ऐसा स्वरूप दिया जाय, जिससे इसमें एक ऐसा व्यवस्थापूर्ण वैचित्र्य उभर आए, जैसा ईरानी कालीनों में नजर आता है।

उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी साहित्य में उपन्यास की विषयवस्तु पर अधिक से अधिक बल दिया जाता था। या तो उनमें निरन्तर वस्तुपरक (Objective) अवगुंठित विविधता होती थी या पात्रों का समापन लक्षित होता, इसलिए उपन्यास भारी भरकम और किसी विचार या दर्शन का वहन करने के माध्यम बन जाते थे। उनमें कला के सुगठित स्वरूप की कमी थी। यह धारणा साहित्यकारों में जोर पकड़ने लगी थी कि कला का स्वरूप अवैयक्तिक कला (Impersonal Art) होता है। कलाकार को अपने व्यक्तिगत अनुभव और इसकी इन्द्रियजनित स्पर्शानुभूति अथवा और दूसरे राग-रस उसके अपने जीवन से भले ही सम्बद्ध हों, परन्तु कला में प्रवेश कर वह अवैयक्तिक और संकेतात्मक रूप जब तक न ग्रहण करे कला अकलात्मक होगी। इसलिए हेनरी जेम्स ने इस तत्व का निरूपण किया कि अब तक उपन्यास कथा-वस्तु से ही सम्बद्ध होते थे और ऐसा लगता था कि मानो

खीर हों और उन्हें उठा कर पी लिया जाय। उसके कलात्मक आस्वादन के लिए जिस अभिरुचि की आवश्यकता है और जिस रसास्वादन की क्षमता पाठक में अपेक्षित है उसका कोई स्थान उपन्यास में नहीं होता था।

हेनरी जेम्स के प्रवर्त्तनकारी दृष्टिकोण से उपन्यासों ने एक नया मोड़ पाया। एक स्थान पर हेनरी जेम्स ने कहा कि उपन्यास अपनी विस्तृत परिभाषा में जीवन की एक व्यक्तिगत और सीधी छाप है। यहाँ छाप (Impression) से भासित होती है चित्र कला की वह मुख्य धारा जो उस समय फ्रांस में प्रवाहित हो रही थी। इसके (Impressionism) अनुसार बाह्य जगत के कलाकार के मन पर जो प्रभाव होता था कलाकार उसकी प्रत्येक सूक्ष्म अनुभूति का चित्रण करता था। उसमें यथार्थवादी चित्रकला का जो फोटोग्राफी के समान थी, चित्रण नहीं होता था वरन् प्रभाव का चित्रण होता था। अब तक जो उपन्यास लिखे जाते थे उनमें वस्तु-वर्णन, जिसकी कला फोटोग्राफी की कला के समान होती थी, ही उपयोग में आता था। उपन्यासकार एक दर्शक की भाँति जीवन की घटनाओं को देखता और एक रिपोर्टर की भाँति उनका शब्दों में वर्णन कर देता था। अपने वर्णनों में कभी-कभी पुराने प्रकार के उपन्यासकार स्वयं प्रकट होकर उपन्यास की घटनाओं पर टीका करते और इस प्रकार उसकी सचेत और पूर्व-विचारित कला का आभास मिलता। उन्नीसवीं सदी तक के उपन्यासों में कला के किसी सुगठित स्वरूप का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, जब कि कविता, चित्र-कला आदि में साहित्यकारों और कलाकारों के प्रयत्न स्वरूपोन्मुख हो चले थे। उनका प्रत्येक प्रयत्न अपनी रचना को एक निश्चित और रसरंजित स्वरूप देने की दिशा में होता था जिससे एक नवीन अभिरुचि का निर्माण हो सके। हेनरी जेम्स ने उन्नीसवीं सदी के उपन्यासों को एक खीर (Pudding) की संज्ञा दी है जिसे कि एक ही बार में निगला जा सकता है।

हेनरी जेम्स ने जिस आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया उसके सामने लक्ष्य यह था कि किस प्रकार उपन्यास को अन्तर्मुखी बनाकर उसमें मनोवैज्ञानिक तत्त्व सम्मिलित किया जाएँ। वर्णन की जगह प्रभाव (Impression) को स्थान देना उन्होंने श्रेयस्कर समझा तथा पात्रों में एक ऐसे मनोवैज्ञानिक चिन्तन को उन्होंने उपस्थित किया जिससे कथोपकथन में एक धारा का प्रवाह हुआ। इस धारा से ही अतीत की स्मृतियाँ तिरकर वर्तमान की अनुभूति से सम्पर्क पाती हैं और पात्र की अन्तश्चेतना मूर्त हो उठती है जिसमें उसका अतीत वर्तमान के साथ ही एक साथ चलता हुआ दिखाई देता है।

हेनरी जेम्स के परीक्षणों से उपन्यास एक जीवित और तारतम्यमय स्वरूप ग्रहण करने लगा। अपने पात्रों में मनोवैज्ञानिक तत्व का समावेश कर उन्होंने ऐसी शैली का निर्माण किया जो कथावस्तु और पात्र के कथोपकथन के अनुरूप होती थी। शैली तथा स्वरूप विषय-वस्तु से भिन्न नहीं हैं। कला का परिमार्जित स्वरूप तभी प्रकट होता है जब स्वरूप और विषयवस्तु (Subject) एकाकार हो जाते हैं। स्वरूप और विषय वस्तु का तादात्म्य होने से समीक्षक को यह अवलोकन करना कठिन हो जाता है कि कौनसा 'स्वरूप' है और कौन 'विषय-वस्तु'। अब तक शैली को उपन्यासकार एक अलंकार समझता था, जिसे ऊपर से पहनकर उपन्यास उससे सज्जित किया जा सके। शैली और कथावस्तु के समन्वय का कार्य फ्रेंच उपन्यासकार फ्लाबेय ने सर्वप्रथम किया अन्यथा अब तक उपन्यासकार शिथिल, आडम्बरपूर्ण और अतिदीर्घ (Prolax) शैली में ही उपन्यास की कथावस्तु का चित्रण किया करते थे। हेनरी जेम्स ने इस प्रकार फ्लाबेय की प्रशंसा करते हुए लिखा—

> "यह सचमुच उनकी (फ्लाबेय) की महान सफलता थी कि उन्होंने चमत्कारिक पद (Phrase) लिखे परन्तु कभी उस पद के वे गुलाम नहीं रहे....। उनके पद हमेशा सम्बद्ध और संयक्त होते थे चाहे वह स्वयं ही किसी दूसरे वाक्य या पद का अंश क्यों न हों, चाहे स्वयं किसी प्रसंग का अंश हो, या स्वरारोह का अंश अथवा किसीं परिच्छेद का अंश या पृष्ठ का अंश। यह इसलिए कि जिससे मध्यम कोटि के रसिक उनके अंशों का रसास्वादन कर सकें, और आम तथा सम्पूर्ण रसिक उसका आस्वादन इसलिए कर सकें कि उसके सन्दर्भ में कुछ और ही है, तथा इस सम्पूर्ण प्रसंग का वह अर्थ-गौरव अनुभव करे। इस प्रकार अपने रस की क्षमता में वृद्धि कर सके।"

इस तरह हेनरी जेम्स के प्रवर्त्तन के फलस्वरूप उपन्यास में अन्तर्मुखी शैली और कथावस्तु का पूर्णतः सामञ्जस्य हुआ। मनोवैज्ञानिक चिन्तन के प्रयोग से अतीत और वर्तमान जीवन का पात्र के कथोपकथन में चमत्कारिक सम्पर्क हुआ तथा गति से भी स्थिरता का बोध। यह प्रतिच्छवि (Impression) या प्रभाव उपन्यासकार के मन में जब अंकित होती है तब उपन्यास का उदय होता है। इस तरह कला की अवैयक्तिक विचारणा उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करने लगी। उपन्यास में एक स्वरूप आने लगा। उसका प्रारूप भी किसी इमारत के ढाँचे के समान नहीं रहा। उस ईरानी कालीन का सूक्ष्म और विविध परिरूप (Design)

उसमें ध्वनित होने लगा जिसके कारण एक अंश दूसरे से बड़ी बारीकी के साथ और कलात्मक ढंग से सम्बद्ध हो जाए।

इसके पहले कि हेनरी जेम्स द्वारा प्रवर्त्तित इस नयी उपन्यास-कला के आन्दोलन का विवेचन करें, यह उचित प्रतीत होता है कि संक्षेप में हेनरी जेम्स के समकालीन तथा उनके बाद के जो उपन्यासकार हुए उन पर एक विहंगम दृष्टि डालें जिससे उनके अन्तर-भेद स्पष्ट हो जायँ।

हेनरी जेम्स का प्रभाव थोड़े बाद ही आया और उसने वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स जायस और डी० रिचार्ड्सन को प्रभावित किया परन्तु इस आन्दोलन के पहले अंग्रेजी साहित्य में जो उपन्यासकार थे उनमें एच० जी० वेल्स प्रमुख हुए। एच० जी० वेल्स में मौलिक प्रतिभा नहीं थी। वह वर्णनात्मक और वैज्ञानिक परीक्षणों से प्रभावित उपन्यास लिखते थे और उनकी परम्परा प्रायः ऐसी ही होती थी जैसी उन्नीसवीं सदी के उपन्यास की होती थी। परोक्ष और सचेत रूप से वह समाज की व्यावहारिकताओं और सम्बन्धों पर टीका करते थे, व्यंग्य करते थे, और उनका लक्ष्य सुधार करना होता था। वह एक आशावादी उपन्यासकार थे जिन्होंने उपन्यास के माध्यम से मानव जाति के उत्तरोत्तर उत्थान के लिए परिकल्पना अभिव्यंजित की। उनमें कला की वह चेष्टा विद्यमान नहीं थी जो किसी सुगठित और निश्चित स्वरूप की ओर अग्रसर हो। वह एक साधारण कोटि के परन्तु असाधारण वर्णन-शैली के उपन्यासकार थे। उन्होंने कथा-विषय को ही एक पूर्ण लक्ष्य माना, और स्वरूप तथा शैली को बिलकुल गौण।

एच० जी० वेल्स के उपन्यासों की पृष्ठभूमि में जब हम उपन्यास की नई धारा का अवलोकन करते हैं तब अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। नई उपन्यास-कला में शैली और विषयवस्तु का समन्वय तो था ही; साथ ही उसमें जीवन की अभिव्यक्ति प्रतिच्छाया के रूप में होती थी, कोई वर्णन की तरह नहीं। वेल्स के उपन्यास अपने अन्दर की भिन्नता से नए आन्दोलन को और तीव्र बना देते हैं। वेल्स के साथ ही एक दूसरे भी प्रसिद्ध उपन्यासकार जौन गाल्सवर्दी थे, वे करीब-करीब पुरानी परिपाटी के थे, परन्तु महत्वपूर्ण थे। गाल्सवर्दी ने मध्यम वर्ग और लन्दन शहर के चारों ओर का जीवन ही अपने उपन्यासों की विषय-वस्तु में समाविष्ट किया। परिवार की आन्तरिक ममता, प्रेम, घृणा, अवसाद आदि का सूक्ष्मता से वर्णन किया। उनके उपन्यासों में काल के चरण तो धीरे-धीरे बढ़ते हैं परन्तु सम्पत्ति शीघ्रता से वृद्धि करती है। उनकी शैली उन्नीसवीं सदी के उपन्यासकारों की तरह भारी भरकम और घिसी-पिटी थी।

वेल्स और गाल्सवर्दी जैसे उपन्यासकारों की कृतियाँ पुरानी परिपाटी के उपन्यासों के सम्प्रदाय में सम्मिलित की जाती हैं। उनकी इस परम्परागत कला को, जो नवीन अर्थों में कला नहीं थी, एक दूसरे अंग्रेज उपन्यासकार ने तोड़ा। वह उपन्यासकार थे जोसफ कोनरैड। जोसफ कोनरैड के उपन्यासों में किसी विचित्र, जटिल और रहस्यमय जीवन की एक सूक्ष्म, प्रतीकात्मक और एकाग्रशील ढंग से अभिव्यंजना हुई है। उन्होंने पुरानी परिपाटी का न केवल त्याग किया, अपितु जीवन की प्रतिच्छवि को इस प्रकार उतारा कि घटना-क्रम वर्णित नहीं होता, वरन् शब्दों में जीवन्त होकर अनुभूति और सम्वेदना को समान रूप से जागृत करता है। कला की अपरोक्षता और व्यक्तिगत व्यवस्था ढह चली थी और अवैयक्तिक कला, प्रतीकात्मक वर्णन, एकाग्रशीलता आदि ने स्थान लेना आरम्भ किया। जोसफ कोनरैड का शिल्प यह था कि वह उपन्यास का प्रारम्भ उसके संक्रमण बिन्दु की घटना से करता था जो उपन्यास के अन्त के आसपास होता था। इससे एकाएक उत्तेजना और तनाव पाठक में पैदा हो जाता। उसके पश्चात् वह पीछे की ओर उपन्यास के घटनाक्रम को खींचकर ले जाता था और अन्त का तालमेल प्रारम्भ से हो जाता था।

जोसफ कोनरैड के विषय में समीक्षकों का यह मत है कि शुद्ध अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का उन्होंने ही प्रवर्त्तन किया। हेनरी जेम्स का कलात्मक दृष्टिकोण यूरोपीय था। निस्संदेह उन्होंने अंग्रेजी उपन्यासकारों को प्रभावित किया; परन्तु अंग्रेजी साहित्य की आन्तरिक व्यवस्था में जोसफ कोनरैड ने ही परिवर्तन का सूत्रपात किया।

फ्रेंच उपन्यासकार फ्लाबेय का उल्लेख हो चुका है। हेनरी जेम्स फ्लाबेय से अत्यन्त प्रभावित था तथा शैली के सम्बन्ध में उसे सर्वश्रेष्ठ मानता था। अंग्रेजी उपन्यास पर इन दोनों के सम्मिलित प्रभाव के फलस्वरूप उपन्यासकार उपन्यास-शिल्प के दोनों अंगों—कार्य (Action) का दूरस्थ दृश्य (Panorama) अथवा दृश्यमाला तथा केवल दृश्य—में अन्तर करने लगे। अब उपन्यासकार दृश्यमाला और दृश्य के अन्तर को आधार बनाकर उपन्यासों में विविध प्रकार के ताने-बाने बुनने लगे। उनकी उपन्यास-कला का यही परिरूप (Design) हो गया। इनमें सन्तुलन तथा अभिव्यञ्जना उपन्यास की विषय-वस्तु एवं स्वरूप को एकाकार करने लगी।

हेनरी जेम्स ने फ्लाबेय से न केवल शैली के उस रूप को स्वीकार किया जिसमें उपन्यास का स्वरूप (Form) और विषय-वस्तु एकाकार हो जाते हैं वरन्

फ्लाबेय के उपन्यासों से काल (Time) की विशिष्ट शृंखला भी ग्रहण की। 'मादाम बावेरी' में एक स्थल पर स्वयं फ्लाबेय ने लिखा—

> "प्रत्येक वस्तु ऐसी लगे जैसे साथ ही साथ हो रही हो। गायों का रम्भाना और प्रेमियों का दबे स्वर में वार्तालाप करना और अधिकारियों के ऊँचे स्वर, ये सब साथ ही साथ चित्रित हों।"

इस समसामयिकता के कारण अतीत और वर्तमान, पार्श्व और दूरस्थ, अनुभति और स्मृति, साथ ही साथ प्रकट होकर अभिव्यंजना को और भी मुखरित कर देते हैं। इस प्रसंग में टी० एस० ईलियट की उस महत्वपूर्ण उक्ति की ओर ध्यान जाता है जिसमें उन्होंने कहा था कि कवि की अनुभूति में पार्श्व और दूरस्थ सब प्रकार के रस जनित अनुभव मिश्रित होकर एक नया ही पूर्ण तत्व निर्मित करते हैं, जैसे गुलाब की महक और टाइपराइटर की टप-टप तथा रसोई से आने वाली महक, यह सब मिलकर अनुभति में एक नवीन सम्मिश्रण पैदा करते हैं। इस प्रकार उपन्यासकार भी अपनी विषय-वस्तु में अनुभूति के समस्त तत्वों को निश्चित स्वरूप दे, जो उसके पार्श्व में हों अथवा दूर तथा एक दूसरे से सम्बद्ध हों अथवा पृथक्—यह उसकी कला की विलक्षणता है कि वह इन भिन्न और अन्तर रखने वाले अनुभवों को एकरूप प्रदान कर सकता है। काल में घटित होने वाली इन शृंखलाबद्ध घटनाओं, अनुभवों और स्मृतियों को साथ-साथ चित्रित करना एक ऐसा शिल्प है जो स्मृति की आन्तरिक क्रिया को उपन्यास की वर्णन-शैली में समाविष्ट कर देती है।

इस संदर्भ में फ्रेंच के उस महान उपन्यासकार प्रूस्त (Proust) के विशाल उपन्यास 'Remembrance of Things Past' का स्मरण हो आता है। इस उपन्यास में नितांत एकाकी उपन्यासकार की अन्तश्चेतना में वे सारी स्मृतियाँ धीरे-धीरे और अत्यन्त सूक्ष्म रूप से तिरती हुई आती हैं जिन्हें उपन्यासकार स्थान और नाम रूप देता है। उसके मस्तिष्क के माध्यम से ही घटनाओं का प्रवर्त्तन होता है। स्मृतियाँ ऐसी होती हैं मानों उपन्यासकार के स्पर्श और श्रवण, रसना से प्रवेश करती हुई वह अपनी समस्त स्पन्दनशीलता से पाठक को स्पर्श करती हों। पर केवल मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना ही यहाँ प्रधान नहीं है। कभी कभी अतीत की स्मृति ऐसी भी होती है कि उसके स्मरण से उपन्यासकार का वर्तमान जीवन विछिन्न होकर दूसरा ही स्वरूप ग्रहण कर लेता है; ठीक उसी प्रकार जैसे भारतीय साँख्य दर्शन के अनुसार जब पुरुष प्रकृति से अलग होकर सृष्टि करने का प्रयत्न करता है तभी उसे आत्मबोध होता है और उसकी जीवनधारा एकदम परिवर्तित हो जाती है। प्रूस्त के उपन्यासों में जो

केन्द्रीभूत विचारधारा है और जिसने उपन्यास के सुगठित परिरूप (Design) को अनुप्राणित किया है वह है "अहम् का पुनर्निर्माण" (Reconstruction of the Self)।" अनुभूति इस उपन्यास में ऐसी मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से चित्रित होती है कि भावनाओं की प्रत्येक चेष्टा, उसकी प्रत्येक सूक्ष्म प्रतिक्रिया और मानसिक चेष्टाओं की विविध सम्भावनाएँ उसमें समावेश पाती हैं। प्रूस्त के इस महान उपन्यास का केन्द्रित संचारण मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विचारणाओं से तो होता ही है परन्तु साथ ही उसमें चिन्तन धारा इस प्रकार प्रवाहित होती है कि सूक्ष्मता की प्रतिच्छाया में पाठक उन विविध रसों का आभास मात्र पाता है जिनकी 'विश्वक' कल्पना उपन्यास के सम्पूर्ण परिरूप में व्याप्त होती है। उपन्यासकार एक ऐसी घटना का वर्णन करता है जिसमें उसकी माँ उसको एक केक खाने के लिए देती है और केक के स्पर्श से ही उसमें स्मृतियाँ, अनुमतियाँ और भावनाओं का ऐसा प्रवाह उत्पन्न होता है कि उसके जीवन की स्पन्दनशीलता गहरी हो जाती है। उसका उसने अत्यन्त मार्मिकता से वर्णन किया है।

> "जैसे ही केक के टुकड़े मेरे तालू से लगे मैं काँप उठा और मैंने अनुभव किया कि कुछ विचित्र-सा व्यापार मेरे अन्तर में हो रहा है। एक विशिष्ट प्रकार का सुख मैंने अनुभव किया, ऐसा सुख जो बिलकुल नया है; और उसका कारण क्या है, यह मैं नहीं जान सका। उस सुख के अनुभव से ही मैंने यह पाया कि जीवन के सारे उतार-चढ़ाव, उसकी सारी भयानकता अब अपनी तीव्रता खो चुकी है और यह भी मालूम होने लगा कि जीवन की क्षणिकता सत्य नहीं है, परन्तु वह एक माया है। यह अनुभव वैसा ही है जैसा कि उस व्यक्ति ने प्रेम करना प्रारंभ किया हो। मैं आनन्दातिरेक से भर गया और सच तो यह था कि मैं 'भर' नहीं गया; मैं स्वयं 'आनन्द-रूप' हो गया। उस समय मैंने अनुभव किया कि मैं अब साधारण मर्त्य और नैमित्तिक नहीं हूँ। आखिर, यह आनन्द जो इतना सशक्त था, किस तरह उत्पन्न हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैसे ही मैंने केक खाया और चाय पी उसके साथ ही यह भी उत्पन्न हुआ। परन्तु यह आनन्द चखने के आनन्द से अनन्त रूप से भिन्न था और इसे ओझल कर गया। इस आनन्द की प्रकृति जिह्वा के आनन्द की प्रकृति से बिलकुल भिन्न थी। यह कैसे आया, क्यों आया और क्यों इसने इस तरह मुझे अपने अधिकार में लिया?"

इस विशाल उपन्यास में प्रूस्त ने काल तथा मानसिक प्रक्रिया को केन्द्र मानकर शैली का गठन किया है। कहा जाता है कि प्रूस्त प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ (Bergson) का शिष्य था और उन्होंने अपने गुरु के प्रभाव में आकर ही

उपन्यासों का शिल्प मनोवैज्ञानिक बनाया। परन्तु सच पूछा जाय तो प्रूस्त के उपन्यास और उसकी कला फ्रेंच साहित्यिक आन्दोलन प्रतीकवाद से प्रभावित थे। वर्गसाँ ने तो अपने दार्शनिक सिद्धांत में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चेतना एक निरन्तर बहती धारा है जिसमें अतीत वर्तमान में घुलमिल जाता है और इस प्रकार वर्तमान को प्रभावित करता है। इस निरन्तरता के कारण वर्तमान की जो चेतना है उसमें अतीत का स्पर्श अवश्यम्भावी रहता है अतः स्मृति, जो अतीत का वाहन है इस धारणा में एक मुख्य आधार है। प्रूस्त ने मनोवैज्ञानिक प्रभाव में अपने शिल्प में केवल स्मृति का भी उपयोग किया है परन्तु यह एक सीमित प्रभाव था। जब स्मृति वर्तमान को प्रभावपूर्ण ढंग से स्पर्श करती है तब वह वर्तमान फिर से एक नया स्वरूप प्राप्त कर लेता है। परन्तु केवल स्मृति का ही खेल चेतना में नहीं बताया गया है। चेतना इस प्रकार गूढ़ और साक्षेप होती है कि उसके माप-मानदण्ड से ही काल की (Time) अनुभूति निर्दिष्ट की जा सकती है। चेतना के माध्यम से ही कभी किसी विशेष अनुभूति का एक घण्टा एक मिनिट-सा लगता है और कभी वही एक घण्टा एक दिन के बराबर बोझिल मालूम देता है। काल (Time) की विचारणा मनोवैज्ञानिक स्मृति की विचारणा के साथ समन्वय रूप में इस प्रकार उपन्यास में प्रयुक्त होती है। काल ही वह केन्द्रबिन्दु है जिससे उपन्यास के परिरूप की विभिन्न रेखायें निकलती हैं और फिर उसमें ही लौटती हैं। स्मृति के सहारे प्रूस्त के उपन्यास में आत्म का पुनर्गठन अवश्य बताया गया है परन्तु इसके पीछे काल का वह निर्दिष्ट कार्य भावनात्मक प्रभाव है जिससे अनुभूति कभी क्षणिक और अत्यन्त आनन्दमयी और कभी लम्बी और भारमयी मालूम होती है।

प्रूस्त के इस काल तथा स्मृति केन्द्रित उपन्यास की तकनीक पर टीका करते हुए समीक्षक एडमण्ड विलसन ने लिखा है —

> "प्रत्येक भाव या अनुभूति का कम्पन एक दूसरे से भिन्न होता है। यहाँ तक कि चेतना का एक क्षण दूसरे क्षण से भी भिन्न होता है, इस तरह हमारे लिए यह असम्भव हो जाता है कि साधारण परम्परागत रीति के अनुसार उनका हम प्रत्यक्ष वर्णन कर सकें। प्रत्येक कवि का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है और विशेष रूप से इनमें भिन्न-भिन्न तत्व मिश्रित रहते हैं। यह कवि का ही कार्य है कि एक ऐसी शैली और ऐसी विशेष भाषा की सृष्टि करे जिससे वह अपने व्यक्तित्व और भाव की अभिव्यंजना कर सके।"

प्रूस्त ने अपने समय के प्रतीकवादी कवियों से भी प्रेरणा ली और अपने सूक्ष्मतम अनुभवों को प्रतीकों में बाँधकर एक गूढ़ परिवेश में प्रस्तुत किया जो काल और

स्मृति के स्पर्श से पूर्ण था। प्रतीकवादियों की भाँति ही उन्होंने किसी अधिभौतिक विश्वक् की प्रतिच्छाया में अपनी अनुभूतियों का निरूपण किया, तभी स्मृति के सहारे तिरती हुई अतीत की स्मृतियाँ इस प्रकार वर्तमान को जागृत कर देती हैं और उनमें एक समन्वय का स्पर्श जुड़ जाता है जिससे कवि को एक "आत्म-पुनर्रचना" (Reconstruction of the Self) का अनुभव होता है। यह अनुभव कुछ वैसा ही है जिसका उल्लेख बादलेय ने किया था। जीवन के पापमय पक्षों के अवलोकन और आलोचना से ही वह अनुभूति प्राप्त हो सकती है जिससे हम सौन्दर्य को इत्र की तरह निचोड़ कर ला सकते हैं। परन्तु यह तभी सम्भव है जब पापमय पक्षों का अवलोकन करते हुए हमें एक आध्यात्मिक आघात लगे और हमारी चेतना अपने आप में लौट आए जिससे हमारे आत्मबोध में एक पूर्ण परिवर्तन सम्भव हो जायगा।

वैसे 'चेतना-प्रवाह' (Stream of Consciousness) का उपयोग पहले पहल विलियम जेम्स ने किया था परन्तु उपन्यास में मनोवैज्ञानिक शिल्प के प्रयुक्त होते हुए ये पारिभाषिक शब्द इस विशेष प्रकार के उपन्यास के साथ जुड़ गये। फ्लाबेय, जिसकी बहुप्रशंसित शैली और सुगठित औपन्यासिक परिरूप के विषय में काफी चर्चा रही है तथा जिससे आधुनिक उपन्यासकार भी बहुत सीमा तक प्रभावित रहे हैं, ने ही इस प्रकार के सांकेतिक उपन्यास लिखने का मार्ग प्रशस्त किया। यद्यपि फ्लाबेय यथार्थवादी था, परन्तु फिर भी उसने अपनी शैली में जिस प्रयोग को अपनाया है उससे खण्ड में पूर्णता का आभास आ गया है और यह सौन्दर्य-बोध की सबसे बड़ी देन है। इसमें प्रतीक का भी प्रभाव है। इसलिए प्रूस्त जैसे महान मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार, जो अपने हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्पन्दन को काल के सापेक्ष मानदण्ड से ही नापकर चित्रित करता है, के लिए साधारण शैली, चाहे वह यथार्थवादी हो, उपयुक्त नहीं हो सकती। उसने प्रतीकवादियों के गहरे प्रभाव में तथा मनोवैज्ञानिक विचारणाओं के तथ्य के सहारे जिस सुन्दर उपन्यास-शिल्प को जन्म दिया वह एक विशिष्ट सामञ्जस्य है, जो न तो पूर्णतः चेतनावादी है और न ही मनोवैज्ञानिक और न ही प्रतीकात्मक। यह एक अद्भुत समन्वय है। प्रूस्त के उपन्यास बोझिल और स्वरूप हीन (Formless) दीख पड़ने वाले प्रतीत होते हैं परन्तु उसमें अन्विति (Unity) स्वयं उपन्यासकार का आत्म-वर्णन है जो चेतना-प्रवाह के बोध से किया गया है।

चेतना-प्रवाह शिल्प के मुख्य स्तम्भ जेम्स जायस, उपन्यासकार और कवि हैं। जेम्स जायस का प्रसिद्ध उपन्यास 'यूलीसिस' और उनका अन्तिम उपन्यास 'फिनिगन्स वेक' चेतना-प्रवाह की शिल्प की प्रतिनिधि कृतियाँ हैं। इस शिल्प में

भी स्मृति और काल अपने अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम से उपयोग में आते हैं। 'यूलीसिस' में जेम्स जॉयस ने इस शिल्प का सार अपने पात्र स्टीफन डिडेलस द्वारा इस तरह प्रस्तुत किया है—

> "वर्तमान को ही पकड़े रहो जो अभी है और जिसके द्वारा भविष्य अतीत में कूद पड़ता है।"

इस तरह पात्रों की मानसिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से अतीत की स्मृतियाँ अनुभूति को प्रभावित कर, उसको वर्तमान से मिलाकर एक नये ही अनुभव की सृष्टि कर डालती है। 'यूलीसिस' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें आधुनिक मन की अव्यवस्था, आधुनिक जीवन की अस्थिरता और आधुनिक मान्यताओं की निःसारता के निचोड़ को उपन्यास में संकेतात्मक रूप से मूर्त रूप दिया है। जिस पद्धति का जेम्स जॉयस ने यहाँ उपयोग किया है वह 'चेतना-प्रवाह' तथा कथा-कल्प (Myth) का समन्वय है। कथाकल्प के सहारे ही जेम्स जॉयस ने इस उपन्यास में सम्पूर्ण जीवन को एक अर्थ दे दिया है। वह कथाकल्प है प्राचीन ग्रीक वीर 'यूलीसिस' की साहसपूर्ण यात्रायें जिनका होमर ने अपने ग्रन्थ 'ओडिसी' (Odyessey) में वर्णन किया है। जिस प्रकार यूलीसिस भटकता हुआ तरह-तरह की विपदाओं का सामना करते हुए अपने घर इथाका वापिस लौटता है और उसका पुत्र उसे पहचान भी नहीं पाता, उसी तरह जेम्स जॉयस के उपन्यास में वर्णित पात्र केवल एक दिन की घटनाओं के मध्य अपने कार्यकलापों से यह संकेत दे देता है कि उसके जीवन में एक थोथापन, लक्ष्यहीनता और एक विडम्बना भरी है। यही इस सभ्यता की अर्थहीन और अव्यवस्थापूर्ण वास्तविकता है।

इस उपन्यास में जो वर्णित घटनाएँ हैं वे एक दिन के अन्दर ही घटित बतलायी जाती हैं और उसके दो प्रधान चरित्र हैं—लियोपोल्ड ब्लू, जो एक यहूदी है और जो होमर द्वारा वर्णित ग्रीक नायक यूलीसिस का प्रतीक है, तथा स्टीफन डिडेलस, यूलीसिस के पुत्र का प्रतीक है। अपनी चेतना के विभिन्न द्वारों से विचरते हुए यह अनुभूति की प्रहेलिकाओं में फँसे रहते हैं और उनकी चेतना का प्रत्येक क्षण अपने में एक ऐसी अनुभूति लिए रहता है जो दूसरे क्षण की अनुभूति से अन्तर रखता है। अन्त में लियोपोल्ड ब्लू और स्टीफन डिडेलस, जो प्राचीन यूलीसिस और टेलीमेकस के प्रतीक हैं, और जो उपन्यास में एक प्रकार से पिता-पुत्र के सम्बन्ध में दिखाए गए हैं, अन्त में एक घृणित स्थान में ही मिलते हैं, और वह है वेश्यालय। यहाँ मिलकर भी वे एक दूसरे से अपरिचित से ही रहते हैं, क्योंकि वे आपस में शब्दों या संकेतों द्वारा कोई आदान-प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं।

'यूलीसिस' का सार प्रत्यक्ष रूप से साधारण शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह पश्चिमी सभ्यता के विषय में उपन्यासकार की एक अर्थ भरी व्यंग्यपूर्ण टीका है। इस उपन्यास में कोई नायक, जो परम्परागत नायक की परिभाषा में हो, आता ही नहीं है। उस अर्थ में यह नायक-विरोधी (Anti-Hero) उपन्यास है जिसके पात्र मुख्य और गौण तथा निस्तेज और सूखे से अनात्म किस्म के व्यक्ति हैं जिनके जीवन की न तो कोई धुरी है न कोई विश्वासों और आशाओं का वह पुंज, जो उनके जीवन को ज्योति से भर दे।

कहा गया है कि ऐसे उपन्यासों में कोई प्रारूप नहीं होता, किसी परिरूप का केन्द्रीभूत सिद्धान्त नहीं होता। यह पुरानी परिपाटी के उपन्यासों की परिभाषा में सचमुच ही एक परिरूप रहित उपन्यास है; परन्तु यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो उसमें एक गहन ऐक्य उस मजबूत धागे की तरह है जिसमें मनके पिरोये जाते हैं। इसका कारण यह है कि इस उपन्यास की सारी घटनाएँ १६ जनवरी १९०४ की हैं और प्रातः आरम्भ होकर दूसरे दिन प्रातः ही समाप्त होती हैं। इसका प्रारम्भ एक शवयात्रा के वर्णन से होता है और अन्त किसी एक जन्म से। मृत्यु और जन्म इस तरह एक ऐसे सृष्टि-चक्र को ध्वनित करते हैं जो पूर्ण है और जिसमें मानव जीवन अपना आदि और अन्त पा लेता है। यह उपन्यास एक व्यंग्य भरी दृष्टि से आदि और अन्त प्रदान करता है।

परन्तु इसके स्वत्व की दृष्टि से यह उपन्यास ऐसा है कि इसमें एक विशेष दिन की अनुभूतियों को अलग कर उन्हें विशिष्ट अभिव्यंजना प्रदान की गई है और स्मृति और काल के परिधान में यही एक दिन असीम काल का एक अंग बन गया दिखाई पड़ता है। इसमें न केवल एक ग्रीक कथाकल्प के सहारे मानव जीवन की विडम्बना और उसके उत्ताल थपेड़ों में व्यथित मानव का चित्रण है, वरन् उस असीम काल की पृष्ठभूमि भी है जिसमें से चुना हुआ एक दिन उस निःस्सीम काल की तरह लगता है और इस तरह व्यक्ति में समष्टि की ध्वनि आ जाती है। विडम्बना समानान्तर है, क्योंकि ग्रीक कथाकल्प में नायक यूलीसिस तरह-तरह की विपत्तियों का सामना कर अपनी थकान से पूर्ण यात्राओं को समाप्त कर जब घर वापस लौटता है तो उसका पुत्र उसे पहचानने से भी मना कर देता है। यही हाल जेम्स जॉयस के उपन्यास में है जब लियोपोल्ड ब्लू और डिडेलस एक स्थान में मिलकर भी एक दूसरे से अपरिचित रह जाते हैं यद्यपि दोनों में पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध है।

प्रतीकवाद के अप्रत्यक्ष प्रभाव से अनुरंजित यह उपन्यास काल और स्मृति के माध्यम से एक ऐसे दार्शनिक व्यंग्य की सृष्टि करता है जिसकी तुलना काव्य की

एक समानान्तर रचना से ही की जा सकती है और वह है टी० एस० ईलियट कृत—'द वेस्टलैंड, (The Wasteland)। न तो प्रूस्त और न ही जेम्स जॉयस के उपन्यासों से हमें कोई जीवन-दर्शन या कोई विशिष्ट प्रकार की विचारणा ही दृष्टिगोचर होती है। उपन्यास को इन दोनों ने एक कला ही माना है, उसके आन्तरिक नियमों के अनुसार ही वह इसकी सृष्टि करते हैं और इसमें ही वह कला के बीज निहित समझते हैं। उन्होंने किसी बाहरी मान्यता या विश्वास को अपनी कला में प्रवेश नहीं दिया। न ही उन्होंने अपने स्वयं रचित दर्शन-सिद्धान्त को ही इसमें स्थान देने की कोशिश की। उनका जगत कला का जगत है, जिसमें उसकी स्वयं की नैतिकता है, उसका स्वयं का सौन्दर्यबोध है, उसका अपना सृष्टिकर्ता और उसका सर्जनहार है जो सृष्टि करने के बाद उस पर कोई टीका नहीं करता, केवल एक तटस्थ परीक्षक की तरह अपनी रचना का अवलोकन करता है।

इसी सन्दर्भ में एक ऐसे उपन्यासकार का उल्लेख करना उपयुक्त होगा जिसने इस शिल्प को बिल्कुल नहीं अपनाया। परन्तु जिसने बीसवीं सदी में बड़ी ख्याति प्राप्त की। वह था डी० एच० लारेंस (D. H. Lawrence)। उनके उपन्यासों में हम एक प्रकार की 'रक्त चेतनता' (Blood Consciousness) का आभास पाते हैं जो साधारण चेतना से, जो बौद्धिक होती है, बिल्कुल भिन्न है। वह चेतना, जो युगों-युगों से मानव की प्रागैतिहासिक स्मृति लेकर उसकी नसों में प्रवाहित होती है, वही एक सच्ची अनुभूति का माध्यम है जिससे मनुष्य अपने प्रति जागरूक और सच्चा बन सकता है। हृदय की भाषा रक्त से ही संचरित होती है अर्थात् वह सहज अनुभूति की, सच्चे रूप से हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो सकती है। डी० एच० लारेंस ने इसलिए अपने उपन्यासों में एक ऐसी स्पर्श-जनित अनुभूति का चित्रण किया है जिसकी तुलना में बुद्धि-जनित अनुभूति लचर मालूम पड़ती है। यह रक्त-चेतनता मानव की अन्तश्चेतना से भी सम्बद्ध है।

डी० एच० लारेंस ने अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को इस 'रक्त चेतनता' के माध्यम से देखा है और उन्हें इस आधुनिक सभ्यता में नितान्त अपूर्ण और दयनीय बतलाया है। वर्तमानकाल में जब वह अपने चारों ओर स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को, 'कुबेर पूजा तथा लम्पट लिप्सा' में ग्रस्त पाता है, तब उसे जीवन में एक दुखान्त तत्व का अनुभव होता है। अतः लारेंस का, उसके उपन्यासों में, यही लक्ष्य रहता है कि किस प्रकार वह इन नैसर्गिक सम्बन्धों को सच्चा, पूर्ण और वास्तविक रूप दे सके। क्योंकि वे पूर्ण होने में असमर्थ हैं। अपने प्रसिद्ध उपन्यास "सन्स एण्ड लवर्स" (Sons and Lovers) में उसने फ्रायड के

"इडीयस कम्पलैक्स, (Oedipus Complex) पर आधारित कुछ पात्रों की रचना की है। उनमें से एक पात्र भावनाओं में अपने पिता से विरोधाभास रखता है किन्तु अपनी माता के प्रति इतना आकृष्ट है कि अपनी प्रेयसी को त्याग देता है। लारेंस ने इस दुखदायी स्थिति का विस्तार अत्यन्त काव्यमय शैली में किया है। उसके नाटक वर्तमान औद्योगीकरण से उत्पन्न जटिल समाज की अर्थलिप्सा और उसमें लीन स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों की खेदजनक स्थिति प्रस्तुत करते हैं।

परन्तु डी० एच० लारेंस न तो प्रतीकवादी उपन्यासकार था, न ही उसमें चेतना-प्रवाह शैली थी, और न ही उसका काल के विषय में कोई इतना निश्चित दृष्टिकोण था। उसने तो केवल वर्तमान जीवन को, उसकी सम्पूर्णता और विविधता में एवम् उसके मार्मिक तत्व को ग्रहण किया और उससे स्वयं को अनुप्राणित किया है। उसके उपन्यासों का परिरूप (Design) परिपाटी के अनुसार होता था और व्यंग्य केवल औद्योगीकरण से उत्पन्न समाज पर। जीवन की जिस अपूर्णता की अनुभूति से वह दुखी और अत्यन्त क्षुब्ध था, वह थी बौद्धिक चेतना का इतना अधिक आधिपत्य कि जीवन अपने प्रागैतिहासिक माध्यम अर्थात् 'रक्त चेतनता' को खो बैठा है। इस माध्यम से ही हम अपने स्पर्शों की राग-जनित अनुभूतियों के विविध और सम्पूर्ण मर्म को ग्रहण कर पाते हैं; और उससे ही स्त्री का अपना स्त्रीत्व और पुरुष का पुरुषत्व, उनकी विशिष्टता में अनुभव हो सकता है। इस 'रक्त-चेतनता' के माध्यम से ही पुरुष अपना सम्बन्ध स्त्री से और स्त्री पुरुष से स्थापित कर अपनी व्यक्तित्व की सम्पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं।

यह ऐसा उपन्यासकार है जो कला को अपने निजी जीवन-दर्शन का माध्यम मानता है और उसके द्वारा ही अपने सम्पूर्ण तथ्य पात्रों द्वारा प्रस्तुत करता है। इसमें कला के नए स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न नहीं है वरन् ऐसे पात्रों की सृष्टि करना है जो उसके विचारों को वाणी दे सके। यह उपन्यासकार प्रूस्त और जेम्स जॉयस से कितना अन्तर रखता है यह स्पष्ट ही है।

चेतना-प्रवाह के प्रतिनिधि उपन्यासकारों में वर्जीनिया वुल्फ का भी नाम लिया जाता है। वह न तो इस शिल्प का प्रवर्तक है और न प्रारम्भिक काल में उसने इसके निर्माण में ही योग दिया परन्तु इसके प्रभाव में आकर उसने कुछ विशिष्ट उपन्यास लिखे हैं। उस पर प्रूस्त और जेम्स जॉयस का दोहरा प्रभाव था। परन्तु इन प्रभावों के होते हुए भी उसने अपनी निराली पद्धति का निर्माण किया।

प्रूस्त की तरह वह स्मृति द्वारा अतीत का वर्तमान में सम्मिश्रण नहीं करती और न ही काल संक्रमण का वह सापेक्ष दृष्टिकोण उसमें है और न ही जेम्स जॉयस के कथाकल्प का उपयोग ही। उसने इस शिल्प में कवित्वपूर्ण उपन्यास लिखे हैं। उसकी प्रारम्भिक रचनाओं पर जेम्स जॉयस का बहुत बड़ा प्रभाव था जिसने उसकी शैली के निर्माण में बहुत कुछ योग दिया। चित्रकल्प और प्रतीक उसने अपने ही ढंग से गद्य में पिरोए हैं। अतः उसकी शैली में एक धीमी कवित्वमय आभा दिखलाई पड़ती है। उसने इस सम्प्रदाय के उपन्यासों की तरह ही जीवन की अनुभूति प्रत्येक क्षण में, अन्तर के साथ, अपनी विविध प्रतिच्छाया में ध्वनित होते देखी और दिखलाई। उसने एक स्थल पर कहा है—

> "जीवन कोई दीपावली नहीं है जिसमें दिए एक कतार में बाले गए हैं। परन्तु वह एक प्रकाशमान प्रभामण्डल है जो अर्द्ध-पारदर्शक है। यह तेजस् जो अर्द्ध-पारदर्शक है, हमारे जीवन को, उसकी चेतना के प्रारम्भ और अन्त तक, घेरे रहता है। क्या यह उपन्यासकार का कार्य नहीं है कि इस असीमित और अनजाने आत्म को बिना किसी बाहरी उपकरण के वहन करे, चाहे यह तेजस् कितना ही जटिल और विकृत क्यों न हो।"

वर्जीनिया वुल्फ ने जीवन की घटनाओं और उनसे उत्पन्न अनुभूति के पुंज को एक अर्द्ध-पारदर्शक, एक अनियमित सीमा से वेष्टित होने पर भी, उसकी चेतनता को शैली में अभिव्यक्त किया। उसके शिल्प का विशेष अंग यह था कि किसी घटना विशेष पर वह ध्यान जमा लेती थी और सीमित दायरे में वह भाव और स्मृति को आकृष्ट कर क्रियाशील कर देती थी। तभी चेतना का व्यापार इतनी द्रुत गति से बहता था कि वर्तमान सजग हो उठता था और उसकी रंगीन छाया चेतना के अस्पष्ट पटल से झिलमिलाती दिखलाई पड़ती थी। चेतना में सरिता का प्रवाह होता था और स्मृतियाँ बहकर वर्तमान से होकर निकलती थीं। परन्तु यह प्रूस्त की स्मृति नहीं थी जिसके द्वारा आत्म का कोई पुनर्गठन हो; या अतीत वर्तमान पर हावी होकर उसे पूरी तौर से मिश्रित कर दे। यहाँ अतीत की स्मृति केवल वर्तमान के सन्दर्भ में दिखती थी और वर्तमान को और भी दीप्त करती थी। शैली में एक प्रकार का स्वरारोह और प्रकाश होता था जो विचार की विशिष्टता उभारने में कोई रुचि नहीं लेता था। परन्तु उसका लक्ष्य होता था कि पाठक में एक चित्त-वृत्ति (मूड) उत्पन्न करना।

वर्जीनिया वुल्फ में कोई तीव्र दुखान्त अनुभूति नहीं थी; केवल एक हल्की-सी वेदना का स्पर्श होता था। इस वेदना का अनुभव मानव का वह असफल प्रयास रहता था जो स्मृति के सहारे अतीत को वर्तमान में खींच लाने का होता था।

वास्तव में दुखान्त चेतना (Tragic Sense) वर्तमान काल के बहुत से उपन्यासों में नहीं दीख पड़ती ।

जेम्स जॉयस की भाँति ही वर्जीनिया वुल्फ ने अपने कई उपन्यासों की घटनाएँ एक ही दिन के भीतर घटित होती बतलाई हैं । इसी प्रकार 'मिसेस डालअवे' नामक उपन्यास में वे घटनायें वर्णित हैं जो सुबह ९ बजे आरम्भ होती हैं और दूसरे दिन प्रातः ही समाप्त हो जाती हैं । 'मिसेस डालअवे' जब लन्दन शहर में विचरण करती हुई बौण्ड स्ट्रीट की तरफ जाती हैं तब उसके मानसिक व्यापार की पृष्ठभूमि में 'बिगबैन' के घण्टे की आवाज भी सुनाई पड़ती है जो दो प्रकार के काल को समानान्तर रूप से प्रदर्शित कर देती है पहला गणित का काल जो नापा जा सकता है और दूसरा मनोवैज्ञानिक काल (Psychological Time) जिसको नापने का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है और जो घोर रूप से वस्तुपरक (Subjective) है । वर्जीनिया वुल्फ ने अपने ही एक पात्र में दो पात्रों की आन्तरिक मनोदशा, जो परस्पर विरोधी दिखते हैं, दिखलाई है और उनके मिश्रण से ही अपने प्रतीकात्मक चरित्र तैयार किए हैं । जेम्स जॉयस ने अपने 'यूलीसिस' में ग्रीक कथाकल्प (Myth) से ग्रीक नायक यूलीसिस और उसके बेटे टेलीमेक्स के समानान्तर ही अपने पात्रों की प्रतीकात्मक रचना की, परन्तु वर्जीनिया वुल्फ ने अपने एक ही पात्र मिसेस डालअवे में दो प्रकार के मानसिक व्यक्तित्व—एक सन्तुलनशील मन और दूसरा विक्षिप्त मन प्रदर्शित किया और उसके माध्यम से ही जीवन का अवलोकन दो दृष्टियों से करवाया है ।

वर्तमान उपन्यास में परम्परागत नायक का लोप होता जा रहा है । उसकी सार्वभौमिकता, उसके वीरोचित गुण और उसका अदम्य चरित्र जो, केवल किसी आन्तरिक दोष से ही टूटता है, अब उपन्यासों में नहीं मिलता । यह उपन्यास करीब-करीब नायक-विरोधी होते हैं अर्थात् नायक का ऐसा पक्ष प्रदर्शित करते हैं जो नकारात्मक हो और जिसके प्रतीक के पीछे वर्तमान सभ्यता की संज्ञा निहित हो । चैक उपन्यासकार काफ्का ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मेटामार्फेसिस' (Metamorphosis) में ऐसे ही नायक की कल्पना की है जो बहुत घिसा-पिटा और उपेक्षित है तथा कीड़े की तरह रेंगता है । इसका पूर्वाभास हमें ईलियट की प्रारंभिक कविताओं 'Love Song of Prufrock' में मिलता है, जिसमें 'प्रूफ रौक' एक बेडौल नायक है जो हर परिस्थिति में स्वयं को उपेक्षित और भद्दा महसूस करता है । 'Gerontion' में भी नायक ऐसा है जो नितान्त निष्क्रिय है और वह अपने समकालीन यूरोपीय सभ्यता का प्रतीक बन जाता है ।

ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करने से हमें नायक के बारे में यह बात ज्ञात होती है कि प्राचीन काल में नायक के गुण अरस्तू ने निरूपित किए थे। मध्यकाल में नायक व्यक्ति न होकर समष्टि का एक अंग हो गया परन्तु फिर भी वह अपने गुण नहीं छोड़ता। पुनर्जागरण के साहित्य (Literature of the Renanssance) में नायक अपने पूरे जोर में व्यक्तिवादी और समुन्नत चरित्र वाला बतलाया जाता है जिसके इर्दगिर्द घटनायें होती हैं और कथावस्तु के प्रवर्त्तन में वह केन्द्रबिन्दु है। परन्तु आधुनिक उपन्यासों में यह नायक करीब-करीब लुप्त होता जा रहा है क्योंकि आधुनिक सभ्यता में मानव इस प्रकार से अपने से अधिक बलवती शक्तियों से दब गया है कि उसका स्वयं का व्यक्तित्व विघटित हो चला है। पश्चिमी सभ्यता में मशीनों का जबर्दस्त प्रभाव तथा दो महायुद्धों की विभीषिकाओं से पैदा होने वाली विध्वंसकारी प्रवृत्तियाँ और धार्मिक विश्वास तथा मान्यताओं का टूटकर बिखर जाना, इन सबके कारण ही वर्तमान पश्चिमी सभ्यता साहित्यकार के व्यक्तित्व को परम्परागत विचारणा से विलग करती है, और वह इस ध्वंसकारी और विघटित सभ्यता की चेतना का प्रतीक अपने प्रधान चरित्र में अप्रत्यक्ष रूप से देखता है जो नायक नहीं वरन् नायक विरोधी (Anti-Hero) है।

परिच्छेद–१७

# आधुनिक नाटक : नए स्वरूप की खोज

पश्चिम के वर्तमान साहित्य में समस्त साहित्यिक प्रयत्न नए स्वरूप की खोज में संलग्न दिखलाई पड़ते हैं। चित्रांकन में पिकासो की कला ने क्रांतिकारी परिवर्तन किए। उसकी रेखायें, रंगों के विचित्र सम्मिश्रण और कला-दृष्टि के वैचित्र्य-पूर्ण अंकन एक ऐसे स्वरूप की खोज का परिणाम हैं जो आधुनिक मन और वर्तमान काल की संज्ञा का प्रतिनिधित्व करता है। इस युग की चेतना में परम्परागत ज्ञान के क्षेत्रों की सीमायें एक दूसरे में प्रवेश करती हैं और सामाजिक उथल-पुथल मानव को ऐसा दृष्टिकोण देती है जिससे पुरानी चेतना और पुराने मूल्यांकन नए सिरे से अनुभव किए और देखे जा सकते हैं। दो युद्धों की विभीषिकाएँ, क्रान्तियाँ और हिटलर के काल की नृशंसताएँ, वर्तमान पश्चिमी साहित्यकार के लिए एक ऐसी प्रहेलिका बनकर आयीं जिसका हल वह भिन्न-भिन्न रूप से खोजना चाहता है। कविता, नाटक, उपन्यास, मनोविज्ञान आदि क्षेत्र अन्तर-प्रभाव के कारण अपने पुराने स्वरूप को छोड़कर, नए दीख पड़ते हैं। आधुनिक काव्य तथा उपन्यास के विवेचन हमने उनकी मूल प्रेरणाओं का विवेचन किया है। काव्य में हमने कथाकल्प, प्रतीकवाद, मुक्तद्वन्द्व, विशिष्ट चित्रकल्प आदि साहित्यिक पारिभाषिक शब्दों का उपयोग देखा है। उपन्यास में नायक का लोप होते भी देखा और दोनों में ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव का एक खासा पुट भी देखा।

नाटक वह कला है जो स्थान और काल को दृष्टिगत करके ही अग्रसर हो सकती है। काव्य और उपन्यास में काल और स्थान के बन्धनों की आवश्यकता नहीं रही। नाटक में इनका प्रावधान आवश्यक है और इनके अतिरिक्त एक तीसरा तत्व है दर्शक। बिना रंगमञ्च, दर्शक और एक निश्चित समय के प्रावधान के नाटक हो ही नहीं सकता। यह प्रश्न उठता है कि यदि यह अनिवार्य है तो उन्नीसवीं सदी में ब्राउनिंग, शैली और टैनीसन ने ऐसे नाटक क्यों लिखे जो खेले नहीं जा सकते थे और पद्य में थे, और फिर भी नाटक कहलाते थे। इसका उत्तर यह है कि शैली, ब्राउनिंग और टैनीसन के नाटक निष्प्राण सिद्ध हुए क्योंकि वे पद्य में लिखी ऐसी

साहित्यिक रचनायें थीं जो नाटक के नाम पर की गई थीं। इन तीनों कवियों को रंगभूमि की आवश्यकताओं का ज्ञान नहीं था न क्रियाकलाप तथा संगठित कथानक (प्लाट) का। केवल पद्य में ही किसी कथा की अभिव्यंजना करना और कथोपकथन का समावेश करना उसे नाटक की कोटि नहीं दे सकता।

यह सच है कि उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी नाट्य साहित्य में इनके काव्यमय नाटक एक प्रकार का काव्य ही थे, परन्तु इनका एक ऐतिहासिक महत्व था। अंग्रेजी साहित्य के नाटक अठारहवीं सदी के बाद प्रायः उपेक्षित हो चले थे। विशालकाय स्टेज और बहुत बड़े-बड़े थियेटर हाल अवश्य स्थापित हो गए थे, परन्तु इनमें बहुत से लोग एकत्रित होकर जब नाटक देखते थे तब अभिनेताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे सम्पूर्ण स्टेज पर अपने अभिनय के द्वारा समय पूरा करें और कथोपकथन इस प्रकार करें कि दूर-दूर तक फैली गैलरी में खचाखच भरे दर्शक उसे सुन सकें। अतः उन्नीसवीं सदी के विशालकाय स्टेजों पर वही नाटक खेले जाते थे जो बाहरी आडम्बर और अभिनय के ऊपरी दिखावे से पूर्ण हों। कथोपकथन भी नौटंकी के ढंग का होता था जिसमें अनुभूति की बुनियादी केन्द्र शक्ति न होकर, केवल एक छिछला अभिव्यक्ति प्रधान वार्तालाप ही होता था। उसे कभी तेज और कभी मध्यम स्वरों में बोला जाकर ही श्रोताओं के कानों को रुचने योग्य बनाया जाता था। इसलिए उन्नीसवीं सदी का नाट्य साहित्य लचर हो गया था; उसने केवल एक बेडौल स्टेज और भारी भरकम नाट्य गृह ही पाए। और फिर, साहित्यकारों का ध्यान भी उपन्यास जैसे साहित्य के नवीन स्वरूप की ओर खिंच गया था जिससे नाटक का उपेक्षित होना स्वाभाविक हो गया।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही नार्वे के प्रसिद्ध नाटककार इब्सन का प्रभाव अपने क्रियात्मक रूप में अंग्रेजी साहित्य में प्रकट हुआ। इब्सन नार्वे का एक महान नाटककार था जिसने समकालीन समाज की मुख्य विचारधाराओं पर अपने नाटक लिखे। उसकी शैली यथार्थवादी थी और कथोपकथन की प्रत्येक उक्ति वकीलों की जिरह के समान होती थी। वैसे उसने कुछ प्रतीकात्मक काव्यमय नाटक भी लिखे हैं। अपने प्रसिद्ध नाटक "गुड़ियाघर" (Doll's House) में उसने एक ऐसे वैवाहिक जीवन का चित्रण किया जो असफल होकर अन्दर से टूट चुका था। अपने दूसरे नाटक 'प्रेत' (Ghosts) में उसने यह दर्शाया कि पैतृक पाप किस प्रकार सन्तान में भी आ जाते हैं। यह यथार्थवादी नाटकीय पद्धति समस्या-मूलक नाटक कहलाती है और युग के केन्द्रीभूत विचारों पर नाटकीय अभिव्यंजना करती है। इस नाटककार का पश्चिमी नाटक पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इन नाटकों ने रंगमञ्च पर उपन्यास की नाटकीय अभिव्यञ्जना प्रस्तुत की। इन

नाटकों में दर्शकों ने जीवन का सत्याभास तथा उसका यथार्थ चित्रण देखा। इन नाटकों के फलस्वरूप नाट्यगृह भी सुडौल और अनुपात में छोटे बनने लगे। इस प्रकार के नाटकों ने जार्ज बर्नाड शा को अत्यधिक प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप शा ने भी यथार्थवादी नाटकों की रचना की।

बर्नार्ड शा के नाटक इस शताब्दी के चौथे दशक तक बहुत लोकप्रिय थे और उनका प्रभाव इतना था कि दूसरे प्रकार के नाट्य स्वरूपों का पनपना मुश्किल हो गया था। समाजवादी बर्नार्ड शा ने समाज की उन भ्रान्तियों का अनावरण अपने नाटक के माध्यम से किया जो राष्ट्र की अन्तरात्मा पर कुहरे की तरह छायी हुई थी। वर्तमानकाल का नागरिक अपनी अन्तरात्मा को टटोलकर और एक मानव की तरह जीवन का अनुभव कर सम्यक जीवन यापन कर सकता है। भाँति-भाँति की मायावी विचारणायें, जो बहुधा समाज के वर्ग-दोषों से उत्पन्न होती हैं, समाज की मानवता को कुंठित किए हुए थीं। आडम्बर, वर्ग-चेतना, शोषण तथा अन्य प्रकार के भ्रान्तिमूलक विचार, समाज में पूँजीवादी व्यवस्था तथा एक जड़वादी सन्तुष्टि के कारण पैदा हो गए थे। बर्नार्ड शा ने अपने नाटकों में पात्रों के माध्यम से उन पर गहरा प्रहार करना आरम्भ किया और अन्त तक वह इस विचारों के युद्ध में जूझते रहे। उनके अनुसार कला का उद्देश्य निश्चित रूप से प्रचार करना है, और एक ऐसे विप्लव का समाज में श्रीगणेश करना है जिससे मानव का अन्तर तथा बाह्य आमूल क्रान्तिमय हो जाय तथा वह 'मानव' की तरह ही अनुभूति से कार्य करने और सोचने लगे।

बर्नार्ड शा का अपना एक दर्शन था जो फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ और जर्मन दार्शनिक नीत्से से कुछ-कुछ प्रभावित था। उनके अनुसार जीवन में एक ऐसी इच्छाशक्ति है जो जीवोत्पत्ति के विकास के इतिहास में आगे बढ़ती जाती है और उसका मुख्य उद्देश्य होता है निरन्तर ऐसे मानव स्वरूपों की रचना करना जो उत्तरोत्तर अधिक विकसित और प्रबुद्ध हों।

इस व्यक्तिगत दर्शन की पृष्ठभूमि में बर्नार्ड शा ने स्त्री को इस रूप में चित्रित किया कि वही जीवन-द्वन्द्व में सक्रिय प्राणी है, जो हमेशा पुरुषों की खोज में रहती है; सुयोग्य पुरुष पाकर उसे अपने जाल में बांध लेती है जिसके द्वारा वह इस उत्तरोत्तर विकसित होने वाले मानव स्वरूप को जन्म दे सके। शा के अनुसर स्त्री शिकारी है और पुरुष उसका शिकार। बर्नार्ड शा का समूचा दृष्टिकोण स्वच्छन्दतावाद विरोधी था; परन्तु वह स्वयम् एक कट्टर आशावादी थे जो मानव स्वभाव की अटूट सम्भावनाओं पर विश्वास करते थे, परन्तु यह कहना कि उन्होंने केवल

यथार्थवाद को ही अपने नाटकों में प्रश्रय दिया, नितान्त सत्य नहीं होगा। उनके पात्र अपनी ही भाषा बोलते हैं और अपने बुद्धि-विलास से श्रोताओं को हँसाकर उनके दिल का काँटा निकाल लेते हैं। बुद्धि-विलास (Wit) के इस गर्वीले कार्य से उन्होंने वर्षों तक अपने श्रोताओं और दर्शकों को हँसाकर उनसे अपने मन की भ्रान्तियों को निकालने के लिए सचेष्ट होने को कहा। अपने नाटक के चरित्र-चित्रण में भी वह परिपाटी के अनुसार यथार्थवादी नहीं थे वरन् ऐसा चित्रण करते थे जिससे जिस विचार की अभिव्यक्ति वह गहरे ढंग से करना चाहते थे, उसमें "युक्तिसंगत" पर ध्यान नहीं दिया जा सकता था। उदाहरण के लिए उनके नाटकों में प्राचीन मिश्र की साम्राज्ञी क्लियोपेट्रा, उन्नीसवीं सदी के स्वच्छन्दतावादी कवि शैली की कवितायें कहती हैं तथा बाइबिल में वर्णित केन (Cain) उनके नाटक में टैनीसन की कविता कहता है, जो यथार्थवादी दृष्टिकोण से अस्वाभाविक है। परन्तु बर्नार्ड शा इस प्रकार के कलाकार थे, जो इन उथली अवास्तविकताओं पर ध्यान नहीं देते थे, क्योंकि उनका मुख्य ध्येय था अपने नाटक को अपने केन्द्रीभूत विचार के वहन का माध्यम बनाना।

आधुनिक नाटक में केवल दुखान्त या सुखान्त नाटक ही अपने नए परिवेश में उपस्थित होते हैं। जैसा कि पहले परिच्छेद में कहा जा चुका है, उपन्यास तथा नाटक का नायक अब वह सार्वभौम पुरुष नहीं रहा वरन् साधारण कोटि का चरित्र हो गया। जीवन की दुखान्त स्थिति (Tragedy) ही कथावस्तु होती है। प्रधान चरित्र को कहीं कहीं 'एण्टी-हीरो' या 'नायक-विरोधी' पात्र भी कहा जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि पुरानी मान्यताओं और व्यक्ति विषयक धारणाओं में परिवर्तन हो चुका है। साथ ही फ्रांस से उदित एक नया दर्शन अस्तित्ववाद (Existentialism) व्यक्ति को इस ब्रह्माण्ड में एक ऐसे सन्दर्भ में प्रदर्शित करता है जिसकी स्थिति वीरोचित नहीं वरन् असंगत अथवा हास्यास्पद के मिश्रण को लिए हुए होती है। इस प्रकार से दुखान्त नाटक प्राचीन तथा पुनर्जागरण (Reniassance) के नाटकों से सर्वथा भिन्न हैं; क्योंकि जिस द्वन्द्व का चित्रण इनमें है वह स्थिति या घटना का द्वन्द्व है। नाटक में एक सार्वभौमिक करुणा का वातावरण होते, हुए भी, उसमें दार्शनिकता का तत्व रहता है। इन नाटकों की कोटि में सैम्युल बैकिट के नाटक भी आते हैं जिनका मुख्य नाटक 'गोदो की प्रतीक्षा में' (Waiting for Godot) है। सैम्युल बैकिट हाल ही में 'नोबुल पुरस्कार' भी प्राप्त कर चुके हैं। 'गोदो की प्रतीक्षा में' एक इस प्रकार का नाटक है जिसमें करुणा की तीव्र अभिव्यंजना हास्यास्पद और असंगत चित्रण और दृश्यों के सन्दर्भ में होती है। इस नाटक में दो आवारागर्द व्यक्तियों का चित्रण है जो एक अव्यक्त व्यक्ति की प्रतीक्षा करते हैं। जिसका नाम 'गोदो' है। उनके

अतिरिक्त 'पोजो' नामक जमींदार और उसका 'लकी' नामक दास भी मंच पर आते हैं। इन चार पात्रों के सिवाय दूत के रूप में एक बालक भी आता है जो कह जाता है कि 'गोदो आज नहीं आवेंगे, परन्तु कल अवश्य आयेंगे।' यह दोनों आवारा क्यों किसी के लिए इस तरह प्रतीक्षारत हैं, इससे ही गोदो के कल्पित स्वरूप का कुछ अनुमान लग सकता है। गोदो उस रहस्यमयता का प्रतीक है जो कुछ-कुछ ईश्वर की-सी है, तभी न वे दो आवारा इस तरह गोदो की प्रतीक्षा में अपने स्थान में चिपके से हैं कि मानों उनके सामने जीवन-मरण का प्रश्न है। जब वह सुनते हैं कि गोदो नहीं आए हैं तब उनके मन में कि आत्म-हत्या करने की इच्छा उत्पन्न होती है; परन्तु आत्म-हत्या करने के लिए एक ही साधन है और वह है रस्सी, जिसे एक आवारा ने, अपने फुलपैन्ट में बाँध रखी है। इस रस्सी से वह स्वयं को लटकाकर आत्म-हत्या कर सकते हैं।

कथानक के इस सारांश से यह स्पष्ट है कि नाटक में चरित्र-चित्रण कम से कम है, नाटक असंगतियों से विरूप का संयोग कर देता है, कथोपकथन शुष्क, पर चुभते से हैं। जीवन इसमें इस प्रकार अंकित है कि मानों उसका केवल आवश्यक रूप ही प्रस्तुत किया जा रहा हो। कथानक ऐसा, मानों वह चीनी बक्सा हो; जिसमें एक बक्से के अन्दर दूसरा और दूसरे के अन्दर तीसरा। नाटक का परिवेश, दुखान्त, हास्य, असंगत आदि होते हुए भी इतना तीव्र रूप से संकेतात्मक और व्यंग्यपूर्ण होता है कि उसके अर्थ में कठिनाई से प्रवेश कर बारीकी से ही उसका रसास्वादन किया जा सकता है। कभी ऐसा लगता है कि गोदो की प्रतीक्षा में जो दो आवारा वहाँ हैं वे उस मानव-आत्मा का स्वरूप हैं जो ईश्वर से बिछुड़ गयी हों और उसकी ही प्रतीक्षा में हों। परन्तु 'गोदो' अर्थात् ईश्वर का ही एक प्रकार का प्रतीक; कोई शिव की कल्पना नहीं। उसके बारे में कथोपकथन में जो चित्र बनता है उससे मालूम होता है कि गोदो यद्यपि ईश्वर की तरह ही निराकार और अनन्त होगा परन्तु वह नृशंस भी है, उपेक्षा तथा असंगतियों से भरा है।

यद्यपि दुखान्त-सुखान्त-असंगत नाटक अस्तित्ववाद के सम्प्रदाय के प्रतिनिधि नाटक नहीं हैं, फिर भी उनमें अस्तित्व और शून्यवादिता बहुत अंशों में मिली जुली है। यह एक दार्शनिक प्रश्न है जो नाटक के वातावरण के चारों ओर मँडराता है। इन नाटकों में काल (Time) का क्रमण भी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन असंगतियों के बीच दर्शाया गया है। कालहीनता (Timelessness), जो परम्परागत धार्मिक दर्शनों में ईश्वर की अनुभूति का एक अंग मानी जाती है, जिसमें भूत वर्तमान और भविष्य लुप्त हो जाते हैं, और केवल एक अनन्त का स्पर्श चेतना में मिलता है वह इस असंगतिमय नाटक में तीसरा ही रूप ले लेता है। यह

कालहीनता इस नाटक में नरक या उसके पहले की सीढ़ी (जिसे लिम्बो (Limbo) कहते हैं) की अनुभूति का स्मरण करा देती है। इस तरह पाप और पुण्य की परम्परागत दीवारें टूट कर इन दो विचारणाओं को मिश्रित कर देती हैं।

यह नाटक अपने स्वरूप में एक सुन्दर, सुगठित और एक दार्शनिक अभिव्यंजना की प्रतीकात्मक शैली लिए है परन्तु इस पर अरस्तू अथवा पुनर्जागरण के दुखान्त नाटकों की परिभाषा लागू नहीं की जा सकती। प्रधान चरित्र ही दो आवारा व्यक्ति हैं। इस तरह नायक-विरोधी (Anti-Hero) की आधुनिक विचारणा प्रदर्शित होती है।

आधुनिक नाटकों में बर्नार्ड शा के ही समकालीन दूसरे नाटककार डबल्यू० बी० येट्स थे। येट्स मूलतः कवि थे। येट्स ने आयरलैण्ड के पुनर्जागरण में नाटक का पुनरुद्धार करके अपना योगदान दिया। आयरलैंड के प्राचीन लोक गीतों, कथाकल्पों और प्रतीकों का मिश्रण करके उन्होंने ऐसे रहस्यात्मक नाटक लिखे जो बर्नार्ड शा की परिपाटी के बिल्कुल विपरीत थे। इन नाटकों पर जापानी नाटक पद्धति का, जिसे 'नोह' (Noh) कहते हैं, भारी प्रभाव था। नाटक अधिकतर काव्य में हैं, और काव्य शैली में ही लिखे गए हैं। अतः जब काव्य-नाटकों (Poetic Drama) पर विवेचन करेंगे तब डबल्यू० बी० येट्स पर चर्चा करना उपयुक्त होगी। बर्नार्ड शा के यथार्थवादी नाटकों के प्रति तत्कालीन अभिरुचि में परिवर्तन हो चला था और पश्चिम के प्रयत्न और लक्ष्य बदलते स्वरूप की ओर थे। इसलिए साहित्यकारों ने काव्यमय नाटक की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। गद्यात्मक नाटक और समस्या मूलक नाटक के मूल प्रणेता इब्सन थे और अंग्रेजी साहित्य में उसके प्रतिनिधि बर्नार्ड शा थे। अब नाटककार अभिरुचि के इस मोड़ पर आ गए जहाँ से नई दिशाएँ फूटती थीं। इस क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात टी० एस० ईलियट ने किया जिसके प्रारम्भिक परीक्षण काव्य-नाटकों के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण हैं।

वैसे अंग्रेजी साहित्य में दूसरे नाटककार भी हुए जो प्रथम श्रेणी के तो नहीं हैं, परन्तु फिर भी उन्होंने कई सफल नाटकों की रचना की। उनमें जे० बी० प्रीस्टले का भी नाम लिया जाता है। उन्होंने 'समय अथवा काल' सम्बन्धी कई नाटक लिखे। उनमें 'Time and the Cornways' मुख्य हैं। अपने नाटकों में प्रीस्टले घटना की क्रमबद्धता को जानबूझकर उलट देते हैं या दो समानान्तर घटनाक्रमों को प्रदर्शित कहते हैं। अपने एक अन्य नाटक में उन्होंने एक व्यापारी की मृत्यु के विषय में घटनाक्रम सँजोया है। यह व्यापारी जिसकी अभी-अभी

मृत्यु हुई थी, अपनी कब्र के बाहर और स्वर्ग के बीच एक ऐसे अन्तर विश्व में अपना अतीत जीवन एक प्रतीकात्मक रूप से फिर से यापन करता दिखलाया गया है। यह इसलिए कि जिससे वह उन दोषों को छोड़ जाय जिनसे उसका अतीत अवरुद्ध था। स्वर्ग अथवा ईश्वर तक पहुँचने की अपनी अन्तिम यात्रा के लिए अब वह बिलकुल पाप रहित, दोषरहित और निर्मल होना चाहता है। प्रीस्टले में नाटकीय कौशल बहुत है परन्तु उसके कथोपकथन चुभते हुए नहीं होते और उसके हृदय में या आत्मा में कवित्व का अंश बिलकुल भी नहीं है।

जर्मनी के अर्न्स्ट टॉलर तथा चेकोस्लोवाकिया के कार्ल कापेक का भी नाटक जगत में बड़ा नाम है। यह दोनों नाटककार अभिव्यंजनावाद (Expressionism) शैली के नाटक लिखते थे। उधर स्वीडन के प्रसिद्ध नाटककार स्ट्रिनबर्ग हुए जिनके नाटकों में भयावह अनुभूतियों का अंकन है। अमरीका में भी एल्मर राइस नामक नाटककार हुए जिन्होंने अमरीकी पदार्थवाद पर गहरा व्यंग्य किया। उनका नाटक 'द एडिंग मशीन' प्रसिद्ध है। परन्तु अमरीका का सबसे प्रसिद्ध नाटककार यूजीन ओ नील (Eugene O' Neil) है जिन्होंने अपने नाटकों में तरह-तरह के प्रसाधनों का उपयोग कर उन्हें आधुनिकतम बनाने का प्रयास किया।

वामपन्थी लेखकों में डबल्यू० एच० औडन, स्टीफेन स्पेण्डर मुख्य हैं जिनमें से औडन के नाटक काव्य-नाटक हैं। टी० एस० ईलियट जिस नए और काव्य-नाटक की धारा के प्रवर्तक हैं उसका अत्यधिक महत्व इसलिए है कि उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन नाट्य शैलियों का सम्मिश्रण कर, एक मौलिक स्वरूप आधुनिक नाटक को दिया जिसे काव्य-नाटक (Poetic Drama) कहते हैं।

नाटककार जिन बन्धनों में काम करता है और जिन आवश्यक तत्वों का स्मरण कर उन्हें नाटक लिखना होता है उसके कारण नाटक उतने लोकप्रिय नहीं हो पाते, जितने उपन्यास या लघु कथायें।

परिच्छेद–१८

## काव्य-नाटक : आधुनिक परीक्षण

स्वच्छन्दतावादी युग तथा विक्टोरिया युग में कवियों ने नाटक लिखे, परन्तु रंगमञ्च की बारीक तकनीक का ज्ञान न होने से वे सब असफल रहे। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में कुछ नाटककारों ने ब्लैंक वर्स (Blank Verse) शैली ने अतुकान्त छन्द में कवितामय नाटक लिखे। शैक्सपीयर के समय के नाटकों की शैली 'ब्लैंक वर्स' (Blank Verse) अर्थात् पंचपदी अतुकान्त छन्दवाली कविता-शैली रही जो उसके समकालीन रंगमंच के लिए ठीक उतरती थी। उस काल की नाटकीय परम्परा इस शैली के औचित्य का समर्थन करती थी। परन्तु आधुनिक साहित्य में न तो इस शैली की कोई जीवित परम्परा ही थी और न ही वर्तमान रंगमंच पर वह सफल हो पाती थी। इसलिए इस शैली में लिखे गए काव्य-नाटक असफल रहे। राजकवि ब्रिजेज़ (Bridges) तथा राजकवि मेन्सफील्ड (Mansfield) ने भी पद्यात्मक नाटक लिखे जो असफल रहे। नए युग की नई तकनीकी माँग को उन्होंने पहचाना भी नहीं और न ही किसी पुरानी परिपाटी को नवीनता में ढाल कर कोई मौलिक स्वरूप नाटक को दिया।

यथार्थवादी नाटकों ने रंगमंच पर आधिपत्य जमाया। विचार-केन्द्रित नाटक लिखे जाने लगे, बर्नार्ड शा की विजय-दुन्दुभी हर दिशा में प्रतिध्वनित होने लगी। परन्तु शा के नाटकों में विशुद्ध गद्य का उपयोग होता था जो बुद्धि-विलास के गर्वीले अट्टहास से पूर्ण वाणी-चातुर्य का नमूना लगता था। बर्नार्ड शा के कथोपकथन में कविता तत्व होता था, किन्तु जो काव्य तत्व मिलता है वह जीर्ण-शीर्ण-सा लगता है। मानव-आत्मा जब भावावेग में मुखरित होती है तब उसकी वाणी कविता के ही तत्व लिए रहती है। यथार्थवादी नाटक में इसलिए मानव आत्मा की यथार्थता लोप हो चली थी। यथार्थवादी नाटक एक प्रकार से बाह्य वास्तविकता के प्रतिबिम्ब थे। हृदय और आत्मा किसी भावावेग की स्थिति में ही उस संक्रमण बिन्दु पर पहुँचते हैं, जहाँ उनकी मार्मिक अभिव्यक्ति हो सकती है। यथार्थवादी नाटक में इस अभिव्यक्ति के लिए कोई शिल्प सम्बन्धी प्रावधान नहीं

था। अतः यथार्थवादी नाटक आन्तरिक यथार्थता के प्रति जागरूक नहीं थे। गद्यात्मक नाटक वास्तविकता का सच्चा संस्पर्श दे सकते हैं, उनकी नाना प्रकार की अनुभूतियों को अपने ढंग से, प्रतीकों से या अन्य साधनों से, अभिव्यंजित कर सकते हैं। परन्तु यह यथार्थ का केवल आवरण है। यथार्थ का मर्म केवल संकेत और काव्यात्मक व्यंजनाएँ, ताल के चरण तथा प्रतीकों की गूढ़ उपस्थिति ही भलीभाँति दर्शक या पाठक तक अभिप्रेषित कर सकती है। काव्य नाटक का महत्व इसीलिए है कि वह यथार्थता के मर्म की गूढ़ अनुभूति के लिए उपयुक्त तकनीकी प्रावधान उपस्थित कर सकता है। काव्य नाटक की शैली श्रोता या पाठक को अपनी अभिरूचि परिमार्जित कर उस रहस्यमय संकेत को जो यथार्थ के मर्म का आभास लिए है, पहचानने के लिए आमंत्रित करती है। संस्कृति के कन्द्र में जो सर्व-व्यापी उदात्त आवेग है उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति और कलात्मक छटा किन गहरे और उभरे रंगों और रेखाओं में उतर रही है, यह काव्यनाटक हमें देखने को आह्वान करते हैं।

इस दिशा में जिस नाटककार ने प्राथमिक परीक्षण किए वह डबल्यू० बी० येट्स (W. B. Yeats) था। येट्स के प्रारम्भिक नाटक 'ब्लैंक वर्स' की शैली में ही लिखे गए; परन्तु उसमें गीत और नृत्य का समावेश होने से उसमें एक प्रकार की मनोहरता आ गई। येट्स के ये नाटक ऐसे थे जो एक बड़ी बैठक (Drawing Room) में खेले जा सकते थे, बड़े रंगमंच और भिन्न प्रकार की दृश्यावलियों की आवश्यकता इनमें नहीं थी। वे छन्द, ताल और काव्यात्मक चमत्कार पर आधारित थे। परन्तु इस प्रकार के काव्य-नाटक की शैली अधिक सफल नहीं होती दिखलाई दी।

इसी समय येट्स को कवि एजरा पाउण्ड का मार्गदर्शन मिला। एजरा पाउण्ड ने येट्स को जापान के 'नोह' (Noh) नामक नाट्य शैली से अवगत कराया। इसमें प्रतीकात्मक प्रसाधनों के अतिरिक्त एक भावातीत कल्पना का सर्वाङ्गीण स्पर्श होता था। 'नोह' में रहस्यवादी प्रतीकों का नृत्य, ताल-छन्द में पिरोये जाने से यह एक अत्यन्त ही गूढ़ और विशिष्ट नाटक हुआ करता था। येट्स को एक ऐसी नाट्य शैली की खोज थी जिसमें 'ब्लैंक वर्स' का सहारा न रहे। उनकी अभिव्यंजना अब एक शैली का माध्यम खोजती थी जिसमें गहनता, सौष्ठव, गूढ़ता तथा ठोसपन हो। गूढ़ता के तत्व के लिए रहस्यवादी प्रतीकों की आवश्यकता हुई, सौष्ठव के लिए ताल और छन्द के साथ ही चित्र-कल्प की। शैली में ठोसपन तभी आ सकता है जब उस आडम्बर के शोध को निरस्त किया जाय। यह गूढ़ प्रतीकों की भाषा द्वारा ही सम्भव था। इस प्रकार के काव्य-नाटक का एक विशेष

परिवेश होता है—प्रतीकों की सचेत संज्ञाहीनता; परन्तु जब वह गहन अर्थ से पूर्ण नृत्य के साथ सामञ्जस्य पाती है तब संगीत की भाषा स्पष्ट हो जाती है। परन्तु येट्स के ये नाटक एक बहुत ही चुनी हुई दर्शक मण्डली के समक्ष ही खेले जा सकते थे। वे बैठक में प्रदर्शित होते थे, और ये दर्शक इन नाटकों के निहित गूढ़ संकेतों और प्रतीकों से पूर्व-परिचित होते थे। यह कहना असंगत न होगा कि भारत में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार के नाटक लिखे।

येट्स के इस श्रेणी के नाटकों में 'द हॉक्स वेल' (The Hawks Well) तथा 'फुल मून इन मार्च, (Full Moon in March) प्रमुख हैं। काव्य-नाटक की आवश्यकता को निरूपित करते हुए येट्स ने कहा है—

> "यदि कवि और कलाकार परस्पर सहयोग कर पुनः वीरोचित रूपों तथा असंगति-प्रधान विरूपों के वर्ग की रचना करें तो यह एक साहसपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी कार्य होगा। ये वर्ग जीवन से दूरी अपनाते हुए भी उन गम्भीर भावनाओं की अभिपूर्ति करते हों जिन्हें केवल शान्ति एवं एकान्त में ही अनुभव किया जा सकता हो।"

काव्य का चित्र-कल्प, येट्स की दृष्टि में उसकी एक गहन अनुभूति का प्रतीक है जो साधारणतः दूसरों तक अभिप्रेषित नहीं हो सकता। जब नाटककार जीवन से दूरी अपनाते हुए वीरोचित रूपों और असंगत विरूपों का वर्ग निर्माण करता है तब उसकी आन्तरिक अनुभूति अभिव्यंजना के ऐसे साधन खोजती है जो उसका निगूढ़ आभास पाकर उसे एक ठोस परन्तु चिह्न का स्वरूप दे सकें। शब्द और प्रतीक दोनों ही अपने-अपने ढंग से एक निराले अवगुंठन में इस प्रकार के नाटक में उपस्थित होते हैं। कवि की सृजनात्मक दृष्टि अपने श्रोताओं को आह्वान करती है कि वे निहित अर्थ को भलीभाँति उसके समस्त सौन्दर्य में देखें और पूर्णतः समझें तथा समझ कर मन ही मन उसका रसास्वादन करें। इस प्रकार नाटक में कवि का आत्मिक जीवन उस यथार्थ के मर्म को पकड़ सकने में सफल हो पाता है जो वास्तविकतापूर्ण यथार्थवादी नाटकों में सम्भव नहीं है। 'नोह' की जापानी परम्परा अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भले ही कुछ भी रही हो परन्तु येट्स के हाथों उसका एक नवीन और सजीव स्वरूप उत्पन्न हुआ।

येट्स ने यह किसी सचेत परीक्षण की भावना से नहीं किया। वह तो अभि-व्यंजना के लिए उपयुक्त माध्यम खोज रहा था। केवल 'ब्लैंक वर्स' के सहारे काव्य-नाटक की रचना करना सम्भव न था। उन्होंने ऐसी उपयुक्त शैली का निर्माण किया जो उनकी कला की आत्मा से मेल खाती हो। उनकी कविता की

परिभाषाओं में कथाकल्प तथा प्रतीक का जो स्थान है वही काव्य-नाटक में अपने विशेष सन्दर्भ का है। नाटक में कार्यकलाप होता है। येट्स के सफल नाटकों में कार्यकलाप एक गुत्थी की तरह उपस्थित किया जाता है और उस गुत्थी को सुलझाना भी सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है। इस प्रकार नाटकीय तत्व इस निराले प्रकार के काव्य-नाटक में आवश्यक रहता है। केवल शब्दों और पद्यों के पारस्परिक अन्तर, स्पर्द्धा से उत्पन्न कोई प्रभाव इस प्रकार के नाटक में नाटकीय तत्व का स्थान नहीं लेता है, जैसा कि टी० एस० ईलियट के कुछ नाटकों में है।

इसमें सन्देह नहीं कि टी० एस० ईलियट के काव्य-नाटकों में कुछ ऐसे उच्च-कोटि के कथोपकथनों के उदाहरण हैं जिनकी काव्यात्मक अभिव्यंजना कला की एक गर्वीली विजय है। परन्तु नाटकीय शिल्प का प्रधान तत्व उनके नाटकों में उस सजीवता से विद्यमान नहीं है जैसा वह येट्स के नाटकों में है यद्यपि काव्य-नाटकों की शैली दोनों कवियों में भिन्न रूप से अभिव्यंजना पाती है। येट्स के रंगमंच कमरे के अन्दर की बैठक के रंगमंच थे जहाँ पात्रों के कथोपकथन श्रोताओं के इतने निकट होते थे कि उनके मनोभाव और स्वर में निहित अर्थों का रस उन्हें घेरकर बैठे हुए श्रोता सरलता से ले सकते थे। इस प्रकार श्रोता तथा पात्र का निकट का सम्बन्ध था और भावनाओं का पारस्परिक सम्प्रेषण, प्रतीकों और चिह्नों के माध्यम से होता था। फिर नृत्य, वाद्य संगीत, ताल, छन्द—यह सब भी प्रतीकों में इस तरह घुल-मिल जाते थे कि नाटक में संगीत का परिरूप और नाटकीय परिरूप एकाकार लगते थे।

येट्स के काव्य-नाटक किसी स्थायी रंगमंच के अभाव में केवल उन्हीं तक सीमित रहे; परन्तु इतिहास में ऐसी अमिट छाप छोड़ गए जिनसे आगे के नाटककारों का मार्ग सुगम और प्रशस्त हो गया।

टी० एस० ईलियट आरम्भ से ही इस पक्ष के थे कि काव्य में नाटकीय तत्वों का समावेश हो और नाटकीय तत्व काव्य से अनुप्राणित रहें। उन्होंने जब देखा कि "ब्लैंक-वर्स' की जीर्ण-शीर्ण परिपाटी के अनुसार जो काव्य नाटक लिखे जा रहे हैं, उनमें सजीवता का और काव्य-नाटक के वास्तविक मर्म को पहचानने की क्षमता का अभाव है, तब उन्होंने इसके विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया। उन्होंने कुछ मूल बातें कहीं जो निम्नानुसार हैं—

(१) काव्य रंगमंच पर कोई बन्धन नहीं है, वास्तव में काव्य ही नाटकीय कार्यकलाप की सच्ची भाषा है।

(२) महान नाटक हमेशा काव्यमय रहे हैं और इस तरह काव्य-नाटक का एक अभिन्न अंग है ।

(३) आधुनिक काव्य-नाटक की हीनता के प्रधान कारण ये हैं—

(अ) इसकी कोई जीवन्त परिपाटी अब विद्यमान नहीं है ।

(ब) किसी एक राष्ट्र का अपने इतिहास में एक से अधिक नाटकीय उत्कृष्टता के युग उत्पन्न करना सम्भव नहीं है । पहले नाटकीय उत्कर्ष का युग शैक्सपीयर के समय सत्रहवीं-अठारहवीं सदी तक रहा है ।

(४) अब गद्य उतना ही अवास्तविक है जितना पद्य । नाटकों में जो गद्य प्रयुक्त होता है, रोज़ की बोलचाल से बिलकुल भिन्न है ।

(५) गद्य में गहराई नहीं होती और अभिव्यंजना की गहनता बहुत सीमित होती है ।

(६) रंगमंच के लिए अब तक ऐसे कवि लिख रहे हैं जिन्हें रंगमंच की तकनीक का ज्ञान नहीं है अथवा ऐसे नाटककार लिख रहे हैं जिन्हें इस तकनीक का ज्ञान तो अवश्य है परन्तु उनमें काव्य के तत्व नहीं हैं ।

(७) यथार्थवादी रंगमंच गलत ढंग से नाटकीय तत्वों को प्रदर्शित करता है अर्थात् उनमें प्रभाव का ऐक्य और कथानक का सुसंगठित तीखापन नहीं होता । वह केवल काल और स्थान से तरह-तरह से छूट लेते हैं जब कि उनमें शैक्सपीयर की प्रतिभा का अभाव होता है ।

(८) एक ऐसे नाटकीय काव्य की आवश्यकता है जो इतना लचीला हो कि कोई भी भाव और विचार और उनकी गूढ़ प्रतिच्छाया इसमें अभिव्यक्त हो सके फिर भी वह ऐसे पारदर्शी हों कि जिससे यह भ्रम हो जाय कि वह काव्यात्मक नहीं है ।

(९) अलंकारों का भी नाटक में स्थान है पर केवल उस समय जब कि कार्य-कलाप और विचार-धारा उसकी माँग करते हों ।

(१०) पद्य नाटकीय भाषा के सन्दर्भ में गद्य से श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि पद्य अर्थ को न केवल एक तीव्र गहनता और वैभव प्रदान करता

> है अपितु यह नाटक को अधिक सुगठित बना सकता है। क्योंकि पद्य से ही कार्य-कलाप का ऐक्य, भावनाओं का ऐक्य और नाटकीय प्रभाव का ऐक्य सम्भव है। काव्य में अनावश्यक वर्णन आप से आप निरस्त हो जाते हैं और अनावश्यक विस्तार संक्षिप्त हो जाते हैं। काव्य भावनाओं को एकोन्मुख कर देता है, कविता की भाषा में विचार, भाव, भावना, मनोवेग आदि को चित्रकल्प तथा प्रतीक को एक ताल में निबद्ध कर देता है, इस प्रकार संक्षिप्तीकरण सम्भव हो जाता है। अतः पद्य की शैली में रचे गए नाटक प्रभाव के ऐक्य से परिपूर्ण हो सकते हैं, यदि वे भलीभाँति रचे गए हों।

अब तक यथार्थवाद के नाम पर श्रोता, पाठक और नाटककार केवल एक लक्ष्य अपने सामने रखते थे और वह था जीवन की सतह की यथार्थता को उसके उथलेपन में प्रदर्शित करना और यह समझ बैठना कि उन्होंने यथार्थ को प्रस्तुत किया है। परन्तु मानव जीवन और मानव समाज की यथार्थता दैनिक वास्तविकता से परे है। यथार्थ का मर्म उस केन्द्रीभूत संचारण शक्ति को जो समस्त जीवन के मध्य सक्रिय है एक विशाल सन्दर्भ में अभिव्यक्त करता है यह शक्ति अपनी धारा से मानव के मन में लौकिक, अधिभौतिक, स्पष्ट, गूढ़मय, प्रत्यक्ष अनुभव और सम्भावनायें उत्पन्न कर देती है। सत्य तब उस परोक्ष और सापेक्ष वास्तविकता से परे एक ऐसा परब्रह्म मालूम पड़ता है जिसकी ओर मानवीय प्रयत्न उन्मुख हों और उसमें विलीन होने का उपक्रम करती हों। अपने अन्तर का विश्व, जिसे प्रतीकवादी कवियों ने सबल किया, अथवा अधिभौतिक जगत की सूक्ष्म प्रतीकात्मक अनुभूति लिए रहस्यवाद तथा प्रतीकवाद ने मान्यता दी, काव्य-नाटक के माध्यम से ही हम पर अपना गूढ़ प्रभाव डाल सकता है। वह हमें ऐसी दृष्टि खोलने को कहता है जो हम में है तो, परन्तु उसके विषय में अभी तक उदासीन ही रहे हैं। इस दृष्टि से ही उस सूक्ष्म जगत की प्रतीकात्मक भावनायें स्पष्ट दिखलाई पड़ सकती हैं और यह तभी संभव है जब काव्य-नाटक के पद्यों की संगीत और ताल भरी शैली में हम खो जायँ। अतः उथली वास्तविकता को निरस्त कर काव्य-नाटक ने कलाकार को वह अवसर दिया जिससे उसे अपने दर्शन (Vision) को व्यक्त करने का अवसर मिला। शब्दों के गद्यात्मक संयोग में यह संभव नहीं है। गूढ़ संकेतों और अर्थों की प्रतिच्छाया में जब कविता रंगमंच पर बोलती है और उसका नाटक का प्रधान परिरूप, जिसका अर्थ और भाव, ताल और छन्द, चित्रकल्प और विचारणा— ये एक दूसरे से सामञ्जस्य रखते हुए समूचे नाटक को अपनी लय से भर देते हैं।

इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए एक दूसरा विकल्प भी है। बाहरी आवरण में ही संकेतों का विधान हो सकता है। रंगमंच के दृश्य और दृश्यावलियाँ ऐसी हों जो दर्शक के मन में वही आभास उत्पन्न कर दें जो शब्द अपने प्रतीकों और चिह्नों के द्वारा करते हैं। शब्दों का और प्रतीकों का स्थान वस्तु ले लेती है जो रंगमंच का ही एक अंग है। परन्तु वस्तु कभी शब्द नहीं बनसकती और न ही शब्द कभी प्रतीक का सम्पूर्ण स्थान ले सकते हैं। इस प्रतीकात्मक दृश्यावलियों से परिपूर्ण रंगमंच पर जब नाटक खेले जायँ तब अभिनेता और वह चरित्र, जिसका अभिनय वह कर रहा है, दूसरी ओर दर्शक या श्रोता, उनके मध्य कोई सम्पर्क न होगा। दर्शक दृश्यावलियों को देखकर कुछ आभास पायेंगे और अभिनेता केवल वही कथोपकथन कहेंगे जो आवश्यक हों क्योंकि गूढ़ता और गहनता तो जिन संकेतों में व्यक्त की जा सकती है, वह दृश्यावलियों में उपस्थित हैं ही। ऐसे नाटक एकांगी होते हैं क्योंकि दर्शक शब्दों, उच्चरित लय और ताल तथा उद्बोधित चित्रकल्प को अपनी कल्पना में नहीं उतार सकता। इसलिए श्रोता और अभिनेता का एक विद्युतमय सम्बन्ध, जो एक उत्कृष्ट कलामय नाटक में होना चाहिए, यहाँ टूट जाता है।

अभिनेता और नाटककार में भी एक गहरा सम्बन्ध है। नाटककार की व्यंजनाओं और कल्पनाओं में जब तक अभिनेता विभोर नहीं होता है, तब तक उस नाटक की आत्मा को वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। इसी प्रकार अभिनेता और नाटककार में एक गहन संवेदनशीलता होनी चाहिए। यह तभी संभव है जब नाटक में कल्पनात्मक पद्य हो, जिसमें चित्रकल्प और प्रतीक हों। इस दशा में नाटक अभिनेता को अन्दर तक स्पर्श कर उसे भाव-विभोर कर देता है, जिसकी व्याख्या वह मञ्च (स्टेज) पर जाकर अपने अभिनय के द्वारा करता है और यही भाव विभोर होने की मनोदशा वह श्रोता तक भी सम्प्रेषित कर पाता है। काव्य का तत्व इस प्रकार काव्य-नाटक में बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे वह तल का सम्बन्ध स्थापित होता है, जो नाटककार, अभिनेता और श्रोताओं में होना चाहिए। इसलिए यह कहा जाता है कि आवेगपूर्ण भावनाएँ केवल पद्य के द्वारा ही प्रदर्शित हो सकती है।

इस संबंध में टी० एस० ईलियट के विचार का उद्धरण देना संगत प्रतीत होता है—

> 'काव्यमय नाटक लिखना वैसा ही है जैसा कोई संगीतकार या गद्य नाटककार अपना कार्य करे, यह कार्य है कि उस संपूर्ण कला को इस तरह दिखाया जाय मानो वह संगीत का ही कोई परिरूप हो। काव्य-नाटककार

इस तरह दो चरणों में पहुँचता है—पहला चरण नाटक है जिसमें चरित्र और कथानक के द्वारा वह कार्य करता है और उसका नाटकीय कथानक में संगठन और एकत्व होना उतना ही आवश्यक है जितना गद्य नाटक में। परन्तु जो कवि ऐसे नाटक लिखता है जिसमें नाटकीय कार्यकलाप में दोष है और उस दोष को छुपाने के लिए वह कविता उपस्थित करता है किन्तु जिससे कार्यकलाप् को कोई सहायता नहीं मिलती। परन्तु कार्यकलाप के पीछे एक बहुत ही स्पष्ट वस्तु होनी चाहिये और वह है एक संगीत का परिरूप और इस परिरूप से ही हमारे प्रेषकों की उत्तेजना तीव्र हो जाती है क्योंकि यहाँ एक गहरे तल से भावना उठकर उसे सबल कर देती है। हर कोई जानता है कि जो भाव संगीत में अभिव्यक्त हो सकते हैं वह भाषा में नहीं। और काव्य नाटक में वही वस्तुएँ कही जा सकती हैं जो न तो संगीत में कही जा सकती है और न रोज की बोलचाल की भाषा में।"

उपरोक्त उक्ति में ईलियट ने काव्य नाटक के वास्तविक परिरूप के पीछे एक दूसरा ही परिरूप लक्षित किया है और वह है संगीतमय परिरूप। यहाँ इसका अर्थ यह नहीं है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से बजाकर या गाये जाने वाले संगीत का परिवेश नाटक में हो। इसकी आवश्यकता या अनावश्यकता पर विवेचन करना यहाँ असंगत होगा। अर्थ स्पष्टतया यह है कि जिस प्रकार संगीत में एक अत्यन्त परिष्कृत और सूक्ष्म भाव, राग या लय के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, उसी प्रकार एक सूक्ष्म भाव, जो शब्दों द्वारा व्यक्त किये जाने वाले भाव के अनुरूप है, उस नाटक की पृष्ठभूमि में होता है। जैसे यदि किसी नाटक में शृंगार और प्रेम के प्रारम्भिक दृश्यों का प्रदर्शन हो तब, यदि उन्हीं प्रारंभिक दृश्यों में घृणा और विषाद की भावनाओं का भी समानान्तर प्रदर्शन हो, तब पश्चिमी संगीत की पद्धति से एक अंतर-विरोधी आभास के कारण शृंगार और प्रेम का भाव अधिक मुखर हो उठता है। इस तरह का संगीतात्मक परिरूप नाटक के ढाँचे में होना चाहिए। यही काव्य-नाटक को सूक्ष्मता और गहनता देता है।

जब पहले ही कहा जा चुका है कि काव्य-नाटक में यथार्थ का मर्म अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है तब प्रश्न यह उठता है कि इस यथार्थ में कितनी तह है या कितने क्रम हैं। उनकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य-नाटक में यथार्थता अभिव्यंजित हो सकती है, प्रत्यक्षता प्रदर्शित हो सकती है, उसके केन्द्रीभूत अर्थ से भी निकलकर समानान्तर परिरूप बना सकती है। क्योंकि, काव्य किसी सत्याभास के खूँटे से नहीं बँधा है। वह तो मर्म और स्वत्व को कला के माध्यम से निरूपित करता है। काव्य के विद्यमान होने से नाटक में कुछ लचीलापन आ जाता है इसलिए यथार्थता में वास्तविकवाद की

भयंकरता भी हो सकती है और चरम सीमा की स्वरूपवादिता (Formalism) भी। जैसा कि ईलियट ने कहा है—

> "काव्य प्रधान होने के कारण नाटक गीतिकाव्य की ओर झुक सकता है, ध्यान और विचारात्मक हो सकता है, दार्शनिकता की ओर झुक सकता है या जिस ओर झुकना चाहे वह झुक सकता है—बिना किसी तरफ अपनी जड़ को, जो नाटकीय तत्व में गहराई से घुसी हुई है, काटे।"

काव्य के होने से इसमें संदेह नहीं कि नाटक अपनी साधारण परिधि में प्रवर्त्तित नहीं होता। यह न केवल हमें कार्यकलाप से उत्तेजित करता है अपितु उस कार्यकलाप का वास्तविक महत्व हम तक पहुँचाता है। यह महत्व हम तब पकड़ सकते हैं जब हम काव्य के रसिक की दृष्टि से इसे देखें। निःसंदेह यह काव्य-नाटक का ही विशेषाधिकार है कि वह यथार्थ को भिन्न-भिन्न श्रेणियों और सतहों में प्रदर्शित करे।

काव्य-नाटक जिस यथार्थ के मर्म को प्रदर्शित करता है वह अपने वास्तविक संदर्भ से निचोड़ा जाकर वास्तविकता से दूरी अपनाता है जिसका परिरूप किसी किसी वास्तविक नाटक का परिरूप नहीं हो पाता। परन्तु काव्य-नाटक इस यथार्थ के मर्म को प्रदर्शित करने में जो स्वरूप प्राप्त करता है वह ऐसा नहीं है कि उस पर थोपा गया हो। वह इस नाटक के स्वत्व की मांग के परिणाम स्वरूप है। इस परिरूप के लक्षण, एक रूपरेखा, किस प्रकार वास्तविक नाटक के परिरूप से भिन्न हो सकती है? वास्तविक नाटक में कथोपकथन गद्य में होते हैं। कार्यकलाप ऊपर से दिखने वाली संक्रमण-संधि (Crisis of Situation) के द्वारा ही दर्शक में तनाव उत्पन्न करता है। अभिनेता अपने कथोपकथन तथा शारीरिक अभिनय के द्वारा वास्तविक कथानक के तत्व की रक्षा करता है। इस वास्तविक नाटक में गीत हो सकता है परन्तु वह ऐसा होता है कि मानों अलंकार के रूप में उसमें प्रवेश कर रहा हो। गीत के लय और छन्द वास्तविक नाटक के परिरूप से साम-ञ्जस्य नहीं कर पाते हैं और न ही कथानक के मर्म से विकसित होते हैं, वरन् अपने में ही पूर्ण होते हैं।

दूसरी ओर काव्य-नाटक में यथार्थ का मर्म उसके परिरूप में, अंग-प्रत्यंग में छाया होता है। कथोपकथन पद्य में होते हैं। वास्तविक घटनायें अपने कार्यकलाप से वह तनाव उत्पन्न नहीं कर पातीं जो शब्दों की व्यंजना के द्वारा अभिनेता उत्पन्न कर देता है। काव्य-नाटक के चित्रकल्प और प्रतीक ऐसे होते हैं कि उस यथार्थ के मर्म की अभिव्यंजना किसी न किसी रूप में करते हैं और इन प्रतीकों और चित्र-

कल्पों की अपनी एक सम्पूर्ण व्यवस्था होती है क्योंकि वह सब मर्म के केन्द्र से ही प्रेषणीयता प्राप्त करते हैं। काव्य-नाटक में लय और छन्द न केवल उनके गीतों में होते हैं, वरन् कथोपकथन की शैली में भी होते हैं जो नृत्यमय होते हैं और दर्शक पर उनका ऐसा प्रभाव होता है कि उसके रक्त में भी लय और छन्द की एक लहर दौड़ जाती है। अभिनेता काव्य-नाटक में अपनी कविता द्वारा ही अभिनय करता है। उसका शारीरिक अभिनय काव्य में कथोपकथन के अधीन होता है। वास्तविक नाटक में जहाँ अभिनेता सिर हिलाकर या हाथ के इशारे से ही किसी अर्थ को पूर्ण कर देता है वहाँ काव्य-नाटक में अभिनेता ऐसा नहीं कर पाता। उसकी समस्त शक्ति चित्रकल्पों की शक्ति है अथवा प्रतीकों की शक्ति है जिसके सहारे काव्य-नाटक जीवित है।

जब डबल्यू० बी० येट्स ने जापानी 'नोह' नाटकों के अनुरूप नाटक लिखे और प्रारम्भ में यह पाया कि दर्शक उसे न तो समझते हैं और न उसके प्रति संवेदनशील हैं तो उन्होंने अपने इन काव्य-नाटकों का प्रदर्शन बैठक के कमरे में करना आरम्भ कर दिया। वहाँ गिने-चुने ही श्रोता और दर्शक आते थे जिन्हें इस नाटकीय व्यंजना तथा इसमें निहित प्रतीकों का ज्ञान होता था। परन्तु इस प्रकार के काव्य-नाटक एक बहुत ही व्यक्तिगत प्रकार के होते थे और उनकी अपील बहुत ही संकुचित दायरे में रहती, इसलिए आधुनिक काव्य-नाटक के प्रणेता टी० एस० ईलियट ने इस अत्यन्त संकीर्ण मार्ग को प्रशस्त करना आरम्भ किया। उन्होंने जनभाषा की उस लय और छन्द को मौलिक स्वरूप देकर काव्य-नाटक लिखना आरम्भ किया जिससे जन-समुदाय, जिसमें निम्न वर्ग भी रह सकता है, उसे सुन सके और उसका रस ले सके। इसका अर्थ यह नहीं कि टी० एस० ईलियट ने काव्य-नाटक लिखते समय अपनी कला को जान बूझ कर इसलिए घटिया बना लिया कि उसे एक सस्ती लोकप्रियता प्राप्त हो जाय।

वस्तु-स्थिति इसके ठीक विपरीत है। टी० एस० ईलियट बहुधा यूरोपीय नृत्य-नाटकगृह (म्यूजिक हाल) जाया करते थे जहाँ लोकप्रिय अभिनेता या अभिनेत्री अपने अभिनयपूर्ण कथोपकथन से, जिसमें लय और छन्द निबद्ध होते हैं, श्रोताओं का मनोरंजन किया करते थे। श्रोता बहुत करके साधारण कोटि के लोग ही होते थे जिनमें कोई बनावटीपन या आडम्बर की भावना नहीं होती थी। ऐसी ही एक कलाकार अभिनेत्री थी, मेरी ल्यायड्स (Marie Loyds)। वह इंगलैंड के म्यूजिक हाल की अपने समय की विख्यात अभिनेत्री थीं। उसके संगीतमय कथोपकथन में साधारण श्रोतागण मग्न हो जाते थे। उसके पाठ के सस्वर छन्दों में वह झूम उठते थे। इस तरह श्रोता और अभिनेत्री में एक लयबद्ध मनोवैज्ञानिक

सम्बन्ध हो जाता था। टी० एस० ईलियट ने यह भी अवलोकन किया कि मेरी ल्यायड्स मध्यम वर्ग की कला से विपरीत कला को प्रश्रय दे रही हैं और वह है साधारण जन की कला। इन साधारण लोगों में आधुनिक जीवन के दुख और सुख बड़े थपेड़ों के बावजूद चल रही जीवन-नौका इस बात का द्योतक थी कि वह किस शानदार सहनशीलता के साथ जीवन-संघर्ष में खड़े हुए हैं। ऐसे लोगों के जीवन में "हाय-हाय" नहीं थी, वरन् एक दूसरे के सुख-दुख बाँटने की क्षमता थी। वह समष्टि का जीवन यापन करते थे जिसमें उनका व्यक्तित्व और व्यक्तिगत जीवन सुखी होता था। ऐसे लोगों का चित्रण टी० एस० ईलियट ने अपनी कविता 'द वेस्ट-लैंड' में भी किया है। उनकी यह अभिलाषा थी कि ऐसे काव्य-नाटक लिखें जिनमें साधारण जन की बोलियाँ, लय और छन्द उनके कथोपकथन में विद्यमान रहें और वह ऐसे खेले जायँ कि साधारण जनता उन्हें सुनकर अपने स्नायुओं में उसकी झंकार अनुभव करे। अपने रक्त में उसकी लय का स्पन्दन सुने। इस स्पन्दनशील अनुक्रिया से ही काव्य-नाटक के छन्द में अर्थ की सबलता नापी जा सकती है। टी० एस० ईलियट ने यह भी देखा कि उनके युग में जन साधारण रहस्यमय जासूसी उपन्यासों में बहुत रुचि लेता था। इसलिए उन्होंने अपने प्रारम्भिक काव्य-नाटक कुछ ऐसी घटनाओं को लेकर लिखे, जिससे उनके नाटक साधारण को अनायास ही आकृष्ट कर सके। इस प्रकार का उनका एक 'खण्ड काव्य-नाटक' है जिसका नाम उन्होंने 'स्वीनी अग्नोस्टिस' "Sweeney Agnostise" दिया है। इसके कथोपकथन में जिन लयपूर्ण शब्दों का चयन है वह लय बोलचाल की लय से भिन्न नहीं है। परन्तु इस बोलचाल की लय से मेल रखकर ये कथोपकथन इस प्रकार की आधुनिक कविता के उदाहरण हैं जिसमें कम से कम चित्रकल्प हों परन्तु व्यंग्य, बुद्धि-विलास और एक अस्तित्ववादी चेतना हो। कथानक में भी किसी हत्या का और उससे सम्बद्ध षड़यंत्र का उल्लेख तथा इसके अन्त में जो कोरस का कथोपकथन होता है, उसमें दैनिक बोलचाल के छन्द और लय तो हैं ही परन्तु एक गूढ़ प्रतीकवाद भी है—

"जब तुम रात्रि के मध्य अकेले होते हो और,
पसीने से लथपथ भयंकर रूप से आतंकित होते हो,
जब तुम बिस्तर में अकेले ही होते हो और,
जाग पड़ते हो मानों किसी ने तुम्हें सिर पर चोट दी है,
और तुम जानते हो कि तुमने किसी भयंकर दुःस्वप्न का केन्द्रीभूत रस पाया है,
और तुम्हें लगता है कि तुम पर आ पहुँचा, अब आ पहुँचा,
हू हा, हू हा, हू हा, हू हा, "

इसके आगे भी फिर कोरस कहता है—

तुम उस दस्तक के लिए ठहरे हो जो कोई तुम्हारे दरवाजे पर देता है,
और तुम जानते हो कि तुम्हारे लिए जल्लाद तैयार हैं,
और तुम शायद जीवित हो,
और तुम शायद मृत हो,
ठक, ठक, ठक, ठक, ठक....."

यह टी० एस० ईलियट के प्रारम्भिक खण्ड-काव्य-नाटक की एक रचना है जिसका कथानक किसी रहस्यमय हत्या पर आधारित है और चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस प्रकार है मानों वह किसी दुःस्वप्न से आतंकित हों। वे जीवित हैं अथवा मृत हैं—यह वे स्वयं भी नहीं जान सकते। केवल उस ठक-ठक की आवाज के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं जब उनके घुटन वाले कमरे का दरवाजा खुलेगा और उनकी मुक्ति होगी। परन्तु साथ ही वे यह भी जानते हैं कि उनके लिए जल्लाद तैयार है। इस खण्ड-काव्य-नाटक में दैनिक वार्तालाप की लय बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत की गई है परन्तु प्रतीकों का चमत्कार केवल रसिक ही देख सकते हैं। इसमें मानवमन की एक दुखान्त अनुभूति है, एक संवेदनशील स्पर्श है। जब वह कोई सांघातिक कार्य कर बैठता है तब उसमें इस तरह मृतशीलता आ जाती है कि वह नहीं जानता कि वह जीवित है अथवा मृत। यह अपने समय की सभ्यता पर भी लागू हो सकता है और इस दुःस्वप्न से आक्रान्त सभ्यता केवल तभी मुक्ति पा सकती है जब उसकी वर्तमान अवस्था, जो न जीवित होने की है न मृत होने की, समाप्त हो जाय। यहाँ मृत्यु मुक्तिदात्री है। एक साधारण लय और छन्द से युक्त कथोपकथन में जिसे सुनकर साधारण लोग भी अपने स्नायुओं से उसकी अनुक्रिया अनुभव करेंगे, ठीक रसिक ही इस प्रतीकात्मक रहस्य में प्रवेश कर उसके अर्थ को खोलने में सफल हो सकेंगे। इस प्रकार यह खण्ड-काव्य-नाटक दो स्तरों पर अपील रखता है।

टी० एस० ईलियट के काव्य-नाटक पर प्रचलित बैले पद्धति के नृत्य-नाटकों का प्रभाव तो है ही, साथ ही म्यूजिक हाल का भी है। बैले वह नृत्य-नाटिका है जो पश्चिमी संगीत का मुख्य अंग है। इसके छन्द और लय का शालीन व्यापार न केवल अभिनय कला की उत्कृष्टता लिए होता है, वरन् उसमें काव्य का मर्म भी होता है। अरस्तू ने कविता, संगीत और नृत्य को एक ही श्रेणी में रखा है क्योंकि तीनों ही लयबद्ध हैं। इस लयबद्ध वातावरण को नाटक में लाने के लिए टी० एस० ईलियट ने कविता का आश्रय लिया और उसे व्यक्तिगत न बनाकर जन-समुदाय के लिए बनाने की अभिलाषा रखकर, इसके कथोपकथन में दैनिक बोलचाल की

लय का समावेश किया। संगीत इसमें प्रत्यक्ष रूप से हो या न हो, यह कोई आवश्यक तत्व नहीं है परन्तु संगीत का जो तत्व इसमें विद्यमान है वह भिन्न ही प्रकार का है। यथार्थ के मर्म का जो परिरूप इसमें है, उसमें अन्दर भिदे हुए तत्व पर उनका ऐंसा विस्तार बतलाया जाता है जिससे एक दूसरे ही गूढ़ परिरूप का दर्शन हो सके। यहाँ संगीत कार्यशील होता है। नृत्य की लय कविता में आ जाती है। जिस प्रकार नृत्य रंगमंच पर देखकर हमारे स्नायुओं और रक्त में एक संवेदनशील अनुक्रिया उत्पन्न होती है और अपने हृदय के अन्तर में हम अभिनेता के साथ एक लयपूर्ण सामञ्जस्य का अनुभव करते हैं वैसे ही कविता में भी कथोपकथन होता है। हमारी स्पन्दनशील अनुक्रिया किसी तालमय दृश्य को देखकर होती है और यह एक प्रकार का विद्युतमय संवेदनशील सामञ्जस्य है जो श्रोता और अभिनेता के मध्य पैदा हो जाता है। टी० एस० ईलियट इसी प्रकार का तादात्म्य दर्शक और अभिनेता के बीच लाना चाहते हैं। इस एकात्म्य का यह अर्थ नहीं है कि श्रोता या दर्शक स्वयं अभिनेता के साथ अभिनय करने लगते हैं परन्तु अपने स्थान पर बैठे हुए भी वह संवेदना के आवेग में उस स्पन्दनशीलता के सहारे अभिनेता के निकट होते हैं जो अभिनय के कथोपकथन की लय के द्वारा उत्पन्न होती है।

ऊपर कोरस का उल्लेख आया है, अन्यत्र भी इस पर थोड़ी चर्चा हो चुकी है। कोरस ग्रीक नाटक का अभिन्न अंग था। ग्रीक नाटक में ग्रीक रंगमंच पर अभिनेता अभिनय करते थे और कोरस के व्यक्ति गीत द्वारा उस पर टीका। परन्तु ये कोरस के व्यक्ति, अभिनेता जो कर रहा है या कह रहा है उसकी अभिव्यक्ति या उतार-चढ़ाव अपने कथोपकथन या गीत में कभी प्रदर्शित नहीं करते थे। इस तरह ग्रीक नाटक का कोरस एक तटस्थ व्यक्तियों का समुदाय होता था जो नाटक के प्रारम्भ होने के पहले, गीत गाते हुए पहले प्रवेश करता है और उसके बाद अपना स्थान ग्रहण करता है। बीच-बीच में कुछ टीका करता है परन्तु अभिनेता क्या कह रहा है या कर रहा है उसकी वह कोई झलक अपने गीत में नहीं देता। दूसरी बार कोरस तब क्रियाशील होता है जब दुखान्त नाटक में करुण विलाप का समय आता है। कोरस की यह तीन अवस्थायें, ग्रीक भाषा में पैराडोस (Parados) (जब कोरस प्रवेश करता है), स्टेसिमौन (Stasimon) (जब कोरस अपना स्थान ले लेता है) और कोमोस (Commos) (जब करुण विलाप का समय आता है जो दुखान्त नाटक के लगभग अन्त में होता है) कहलाती हैं। इस तरह ग्रीक नाटक का कोरस एक तटस्थ अभिनेताओं का समूह है जो न तो कार्यकलाप को बढ़ाता है और न ही अभिनेताओं के कथोपकथन या क्रियाओं की झलक अपने में आने देता है।

परन्तु टी० एस० ईलियट ने इस ग्रीक प्रथा को परिवर्तित कर अपने अनुकूल बनाया। उनके नाटक में कोरस कोई तटस्थ अभिनेताओं का समुदाय नहीं है

यद्यपि इस कथोपकथन पर टीका करता है और कुछ दार्शनिक वाणी बोलता है फिर भी कार्यकलाप में वह लिप्त रहता है। वह अभिनेताओं के कथन को अपने कथोपकथन के द्वारा प्रदर्शित करता है और इस प्रकार अभिनय में एक प्रकार से लिप्त हो जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उनके काव्य नाटक 'Murder in the Cathedral' में मिलता है। इसमें कोरस उन निरीह—निर्दोष ग्रामीण वृद्धाओं का है जो अपने मन में धार्मिक भय और आशंका लिए हुए होती हैं। यह नाटक टामस बैकिट नामक एक ऐतिहासिक आर्क बिशप के सम्बन्ध में है जो राजसत्ता के सामने चर्च की सत्ता को ऊंचा मानते हैं और इस संघर्ष में शहीद हो जाते हैं। शहीद होने के पहले उनके सामने तरह-तरह के प्रलोभन आते हैं। इन प्रलोभनों की प्रतिक्रियास्वरूप नाटक में टामस बैकिट में जो मानसिक प्रतिक्रिया होती है उसकी अभिव्यंजना इन वृद्धाओं के कोरस में मिलती है। जब टामस बैकिट लगभग इस प्रलोभन में पड़ जाते हैं कि उन्हें शहीद इसलिए होना चाहिए क्योंकि इससे उनका नाम इतिहास में अमर हो जाएगा तब इन निरीह वृद्धाओं में एक बेचैनी-सी छा जाती है क्योंकि इस प्रकार के स्वार्थप्रेरित बलिदान से पवित्रता नष्ट हो जाएगी। कोरस को इस प्रकार अभिव्यक्त करके टी० एस० ईलियट ने उसे अभिनेताओं की श्रेणी में लाकर खड़ा किया जो कार्यकलाप में लिप्त हैं और सक्रिय हैं। इसका एक दुहरा प्रभाव भी रहा। श्रोतागण अभिनेताओं को तो देखते ही हैं, उनके कथोपकथन भी सुनते हैं, उनकी मानसिक क्रियाओं को समझते हैं परन्तु उनकी समझ-बूझ तब और भी पक्की हो जाती है जब चरित्र के मनोवैज्ञानिक व्यापार की प्रतिक्रिया कोरस में भी वह देख लेते हैं। कोरस कथानक का चरित्र नहीं है। उसके द्वारा घटनाएँ नहीं होती; परन्तु वह टी० एस० ईलियट के नाटकों में एक ऐसा माध्यम हो जाता है जिसके द्वारा दर्शक अभिनेता अथवा चरित्र के मानसिक व्यापार की झलक देख लेते हैं और इससे उनकी नाटक के अर्थ की पकड़ और भी मजबूत हो जाती है।

'मर्डर इन द कैथेड्रल' के बाद टी० एस० ईलियट के और भी काव्य-नाटक प्रसिद्ध हुए जिनमें 'फेमिली रियूनियन', 'काकटेल पार्टी' और 'ऐल्डर स्टेट्समैन' हैं। इन नाटकों में ग्रीक नाटक का परिरूप कुछ अंशों में विद्यमान है तथा वह 'काल' (टाइम) की विभिन्न अनुभूतियों को भी इसमें प्रदर्शित करते हैं। कुछ समीक्षकों के अनुसार इन नाटकों का ढाँचा शिथिल है तथापि इनके कथोपकथन का कार्य बहुत ऊँचे ढंग का है।

टी० एस० ईलियट के अतिरिक्त क्रिस्टोफर फ्राय एक उत्कृष्ट नाटककार हुए जिन्होंने काव्य-नाटक लिखकर बहुत ख्याति प्राप्त की। क्रिस्टोफर फ्राय मूलतः

कवि नहीं थे वरन् रंगमंच के ही प्राणी थे। रंगमंच की तकनीक की विशिष्ट चेतना उनके नाटकीय परिरूप में मिलती है तथा उनके सम्पूर्ण नाटक का वातावरण, पात्र, कथोपकथन एक ही रंग में रँगे होते थे। उन्होंने 'कामेडी आफ सीजन्स'— अर्थात् चार ऐसी कामेडी लिखीं जिनमें चार ऋतुओं की मुख्य वृत्तियों का प्रदर्शन है। उनमें ऋतु ही एक ऐसी पृष्ठभूमि है जिसमें चरित्र उसकी प्रमुख प्रवृत्ति से एकात्म पा लेता है। शैली, कथानक तथा चित्रकल्प उस ऋतु की मुख्य प्रवृत्ति को उचारते हैं और उसके साथ ही चरित्रों की अभिव्यंजना स्वाभाविक रूप से मुखरित हो जाती है। क्रिस्टोफर फ्राय में मृत्यु और जीवन सम्बन्धी असंगतियाँ और उससे उत्पन्न विडम्बनायें व्यक्त होती हैं। उनका एक नाटक 'ए फिनिक्स टू फ्रीक्वेन्ट' (A Phoenix to Frequent) में दो ऐसी स्त्रियों का चित्रण है जो एक मृत पुरुष के लिए विलाप करती हैं। यह पुरुष उन दोनों में से एक का पति था और दूसरी उनकी नौकरानी। उस सन्तप्त पत्नी के मन में मृत्यु अपनी पूरी विकरालता से छायी हुई थी; परन्तु इस बीच , जब कुछ समय बीतता है, वह एक सैनिक के प्रेम-पाश में बँध जाती है। अभी तक उसने अपने मृत पति के शव को सुरक्षित कर अपने लिए सान्त्वना का एक आलम्बन रख छोड़ा था परन्तु अब अन्य प्रेमी के कारण वह उसका भी त्याग कर देती है। इसमें आत्मोत्सर्ग के रोमांटिक विचार का मजाक बनाया गया है। मृत्यु और जीवन अपने व्यंग्य भरे सम्बन्धों में नाटकों में उपस्थित रहते हैं और अस्तित्व के रहस्य को और भी रहस्यमय बना देते हैं। जीवन का यह गूढ़ रहस्य क्रिस्टोफर फ्राय इस प्रकार पाठक तक संचारित करते हैं कि जिससे हमारा ध्यान जीवन की प्रच्छन्न विडम्बनाओं पर जाय, जो नाटकीय परिवेश में अपनी स्वयं की मोहकता लिए हुए होती हैं।

क्रिस्टोफर फ्राय और टी० एस० ईलियट के बाद काव्य-नाटक में स्टीफेन स्पेण्डर तथा औडन के नाम लिए जाते हैं। ये दोनों ही अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वामपन्थी विचारों के साथ उतरे। स्टीफेन स्पेण्डर का केवल एक ही नाटक प्रसिद्ध है; वह है 'द ट्रायल आफ द जज' औडन तथा ईशरवुड के सहयोग से दो काफी अच्छे नाटक लिखे गए—'डाग बिनीथ द स्किन' और 'ए सेन्ट आफ एफ सिक्स', जिनकी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। उनका 'डान्स आफ डेथ' एक ऐसा काव्य-नाटक है जिसमें पूँजीवादी समाज पर वर्तमान सभ्यता को रोगी बनाने का अपराध लगाया गया है। इन काव्य नाटकों में राजनैतिक और सामाजिक विचारों को वहन करने के कारण थोड़ी कलात्मक हीनता आ गई है। स्टीफेन स्पेण्डर और औडन ने बहुत पहले ही काव्य-नाटक लिखना बन्द कर दिया।

ईलियट और क्रिस्टोफर फ्राय, येट्स के बाद आधुनिक काव्य-नाटक के प्रमुख स्तम्भ थे। वास्तव में ईलियट ने इसकी नींव मजबूत की और इसकी परिपाटी को

पुनर्जीवन दिया। क्रिस्टोफर फ्राय ने इसे अपने तकनीकी अनुभवों से कलात्मक सम्पन्नता तथा शैली का वैभव दिया। परन्तु इन दोनों के बाद कुछ छुटपुट काव्य-नाटक लिखे गए जिनका कोई विशेष महत्व नहीं है। चार्ल्स विलियम और एन० रिडलर का नाम भी काव्य नाटकों में लिया जाता है। जब एक प्रकार के नए नाटक धीरे-धीरे नाट्य जगत में प्रवेश करने लगे तब इस काव्य-नाटक की शैली और परम्परा को यकायक धक्का लगा। उसे असंगतिपूर्ण नाटक अथवा 'ड्रामा आफ दि एब्सर्ड' कहा जाता है। इसकी कुछ चर्चा हम बैकिट के नाटक 'गोदो की प्रतीक्षा' (वेटिंग फार गोदो) में कर चुके हैं। विरूपों, असंगतियों आदि के साथ-साथ उदात्त और दार्शनिक भावनाओं का सम्मिश्रण इस प्रकार नाटक में मिलता है जो न तो दुखान्त है, न सुखान्त, वरन् इन तत्वों का एक अनोखा मिश्रण है। इस कोटि के नाटक काव्य-नाटक नहीं हैं, क्योंकि गद्य का पूर्ण रूप से उपयोग करते हैं। उनकी कोई निश्चित परम्परा भी नहीं जम पायी, किन्तु यह निर्विवाद है कि उन्होंने नाट्य जगत में एक विलक्षणता के साथ प्रवेश किया।

परिच्छेद—१९

# 'रोमांटिक' तथा 'क्लासिकल' : स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद

एक समय था जब पश्चिमी साहित्य-समीक्षा में 'स्वच्छन्दातावादी' (रोमांटिक) और 'रीतिवादी' (क्लासिकल) शब्दों का प्रचलन था और समीक्षक अपने सिद्धान्त बहुत कुछ इन पारिभाषिक शब्दों पर ही आधारित करता था। आज इनका वह महत्व नहीं है; परन्तु फिर भी आलोचक की मानसिक पृष्ठभूमि में इन दो शब्दों का अप्रत्यक्ष महत्व थोड़ा बहुत है ही। कुछ आलोचक तो इन दो शब्दों को वर्तमान साहित्य के सन्दर्भ में अर्थहीन समझते हैं। फिर भी यदा-कदा हम समीक्षा में कभी 'स्वच्छन्दतावाद-विरोधी' धारा के दर्शन करते हैं और कभी यह पाते हैं कि साहित्य और कला में एक प्रकार का रीतिवादी—(क्लासिकल) युग आरम्भ हो गया है। कुछ समीक्षक वर्तमान साहित्य के महान अंग्रेजी कवि टी० एस० ईलियट के युग को एक नवरीतिवादी (नव-क्लासिकल) युग कहते हैं तो दूसरी ओर कुछ समीक्षक उनकी कविता में स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) तत्व खोज निकालते हैं क्योंकि उनके काव्य में अतीत की चेतना सदैव ही विद्यमान रहती है। स्वच्छन्दतावाद तथा रीतिवाद (रोमांटिक और क्लासिकल) का आन्दोलन किसी समय इतना तीव्र था कि हजारों ग्रन्थ इन पर लिखे गए और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से आलोचकों ने इन्हें देखा है। इसके पहले कि इन शब्दों का विवेचन किया जाए, यह युक्तिसंगत होगा कि सबसे पहले कुछ प्रमुख समीक्षकों के मत उद्धृत कर अपरोक्ष रूप से इस पर प्रकाश डाला जाय।

अठारहवीं सदी और उसके पश्चात् 'स्वच्छन्दतावाद' '(रोमांटिक) शब्द साहित्यिक समीक्षा में प्रयुक्त होने लगा। पहले तो वह उन कथाओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता था जो रोमांस की भाषा में लिखी जाती थीं और जो मध्यकालीन साहसिक वृत्तान्तों से पूर्ण रहती थीं। जर्मनी के महान साहित्यिक गेटे और शिलर में इस विवाद को लेकर भी मतभेद हुआ था। उन्नीसवीं सदी के पूर्व में जर्मनी के विख्यात प्रोफेसर ए० डबल्यू० श्लैगल ने 'क्लासिकल' अर्थात् रीतिवाद पर आक्षेप

करते हुए यह कहा था कि अब एक सार्वभौमिक स्वतन्त्र समीक्षा की आवश्यकता है अर्थात् ऐसी समीक्षा की जो नियमों, विधियों और अन्य बन्धनों से मुक्त हो। उन्होंने कहा—

> "मानव स्वभाव में हमेशा एक ऐसे तत्व की शक्ति रहती है जो विभाजित होकर विरोधी दिशाओं में चल पड़ती है। इस जीवन्त गति में लय तथा भिन्नता दोनों ही विद्यमान हैं।"

इसलिए श्लैगल ने अपने समय की कला को, जो उनके मान से आधुनिक कला थी, स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) नाम दिया क्योंकि इसमें वह विविधता थी जो लय और भिन्नता के कारण होती है। इस प्रकार जर्मनी में स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) शब्द समीक्षा में एक ऐसी प्रवृत्ति का द्योतक था जो विविधता तथा भिन्नता के कारण सम्पूर्ण रहता था। यह एक स्वस्थ प्रवृत्ति मानी जाती है। वहीं दूसरी ओर जर्मन समीक्षक रीतिवादी (क्लासिकल) कला को एक सरल, परोक्ष, वस्तु-विषयक (Objective) सम्बन्ध मानते थे जो मानव हृदय प्रकृति के साथ स्थापित करता है। स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) प्रवृत्ति भी प्रकृति के साथ सम्बन्ध की एक व्यंजना थी परन्तु वह सम्बन्ध जटिल, उलझा हुआ और अत्यन्त आत्म-प्रधान (Subjective) था।

महाकवि गेटे स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के घोर विरोधी थे। उन्होंने इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) और रीतिवाद (क्लासिकल) की परिभाषा की जो उनके समय के अर्थात् मध्य उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय साहित्य में बहुचर्चित रही—

> "मैं रीतिवाद (क्लासिकल) शब्द से किसी स्वस्थ भावना की कल्पना करता हूँ और स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) से किसी रुग्ण भावना की। आधुनिक काल की रचनाओं में स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) अवश्य है परन्तु इसलिए नहीं कि वह नवीन है परन्तु इसलिए कि वह कमजोर, रुग्ण और विकृत है। प्राचीन साहित्य रीतिवादी (क्लासिकल) इसलिए नहीं है कि वह प्राचीन है वरन् इसलिए है कि वह सशक्त, उल्लासपूर्ण, स्वस्थ और ताजा है।"

प्राचीन साहित्य और कला से अभिप्राय था प्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य तथा कला से। जैसा कि खण्ड (अ) के आरम्भ में विवेचित अरस्तू, होरेस, लोंजाइनस आदि के समीक्षात्मक सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि उनमें सन्तुलन, नियमों

का अनुशासन, स्वरूप (Form) की दृढ़ता और कल्पना का बुद्धि के अंकुश में होना प्रधान लक्षण थे। इनसे विद्रोह कर जब साहित्यकार और समीक्षक नवीनता, विविधता और उल्लास की ओर बढ़े, जो स्वच्छन्दता और उन्मुक्तता में निहित है, तब स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिक) शब्द का उपयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जर्मनी में तो एक समय ऐसा आया जब 'स्वच्छन्दतावादी' (रोमांटिक) शब्द केवल रहस्यमयी, भयोत्पादक और भावातीत परिस्थितियों और उन पर हुई रचनाओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। फ्रेंच साहित्य के समीक्षक ने कहा—

> "स्वच्छन्दतावाद वह कला है जिससे रचनाएँ इस प्रकार किसी राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं कि वह राष्ट्र उनसे अधिकाधिक रस और आनन्द ले सके। इस प्रकार प्रस्तुत करने में कला यह है कि जो मान्यतायें और विश्वास उन साहित्यिक रचनाओं में विद्यमान हैं उनकी अभिव्यक्ति कर 'क्लासिकल' या रीतिवाद साहित्य को एक विशेष प्रकार प्रस्तुत करता है।"

फ्रेंच अकादमी के शब्दकोष में स्वच्छन्दतावाद की परिभाषा इस प्रकार है—

> "स्वच्छन्दतावाद केवल एक शिल्प सम्बन्धी व्यवस्था है जो 'क्लासिकल' या रीतिवाद के शरारतपूर्ण और चुभते हुए आक्षेपों का मुकाबिला करे। ऐसा रीतिवाद जो केवल नियमों के बन्धन में है।"

स्टेण्डहल के मत का पहले ही उद्धरण दिया जा चुका है। इस फ्रेंच समीक्षक के अनुसार स्वच्छन्दतावाद शब्द स्वतन्त्रता, मौलिकता, विकास और भविष्य के स्वत्व का प्रतीक है और दूसरी ओर 'क्लासिकल' अथवा रीतिवाद संकेत करता है परम्पराओं की सत्ता, अनुकरण और भूतकालीन सत्व का।

वाल्टल पेटर, अंग्रेजी समीक्षक, जो प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) के पूर्व के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, इस विषय में लिखते हैं—

> " 'क्लासिकल' या रीतिवाद का, चाहे कला में हो या साहित्य में, आकर्षण यह है कि मानो हम किसी कहानी को बार-बार सुनना चाहें। इसका कलात्मक स्वरूप का सौन्दर्य पूर्ण सौन्दर्य होता है और जिसमें परिचित वस्तुओं से प्राप्त होने वाला शान्त सम्मोहन भी मिश्रित होता है।"

स्वच्छन्दतावाद के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए वाल्टर पेटर कहते हैं—

"कला में स्वच्छन्दतावादी लक्षण तब होता है जब सौन्दर्य में अद्भुत तत्व का मिश्रण किया जाए।"

एक अन्य समीक्षक डबल्यू० डैण्टन स्वच्छन्दतावाद को इस तरह परिभाषा में निबद्ध करते हैं—

"स्वच्छन्दतावाद 'अद्भुत का पुनर्जागरण' (Reniassance) है।"

एक और समीक्षक स्टेडार्ड ने रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद की व्याख्या विस्तारपूर्वक इस प्रकार की है—

"शुद्ध रीतिवाद वह है जो स्वरूप, सम्बन्ध और मन्तव्य में निहित विधान को स्वयं में लयपूर्ण कर प्रदर्शित करता है। मानस की 'रीतिवादी' प्रवृत्ति वह है जो स्वरूप, मन्तव्य और सम्बन्ध के विधान को स्वीकार करे। रीतिवादी रचना के पीछे एक स्थित आदर्श रहता है। एक सन्तुलन, लय और शालीनता का परिचित आदर्श रहता है। रीतिवाद विधान से ही उत्पन्न होता है और विधान की सत्ता ही उसका पालन-पोषण करती है।"

"रीतिवादी सहित्य सनातनी (Orthodox) होता है जो नवीनता का विरोधी है। दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद का मूलभूत सिद्धान्त 'अस्वीकार' करने में है, 'स्वीकार' करने में नहीं। स्वच्छन्दतावाद शाब्दिक अर्थों को निरस्त करता है, और रूपक की तलाश में रहता है। वह दृश्य-जगत को छोड़कर अदृश्य-जगत की खोज में रहता है। वह अस्पष्ट का त्याग करता है और किसी गहरे चिन्तन का प्रतीक खोजता है। स्वच्छन्दतावाद सत्ता के नियमों से असन्तोष प्रकट करता है; परन्तु रीतिवाद की दृष्टि में एक स्वच्छन्दतावादी साहित्यकार की रचना सन्तुलन हीन, लयहीन और बिना किसी ऐक्य के प्रतीत होती है। रीतिवाद स्वीकृति का एक सुसंस्कृत उदाहरण है। स्वच्छन्दतावाद उन्मुक्त अभिलाषा है।"

उपर्युक्त मतों के सन्दर्भ में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रीतिवादी और स्वच्छन्दतावादी ये दो पारिभाषिक शब्द अत्यन्त विवादास्पद हैं। पश्चिमी साहित्य में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों के साहित्य में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ तथा आन्दोलन उठते हैं जिन्हें मोटे तौर पर रीतिवादी या स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है। रीतिवादी (क्लासिकल) शब्द से न केवल अरस्तू, होरेस आदि की काव्य-समीक्षा का आभास होता है, वरन् साहित्य के मूल लक्ष्य का, जो स्वरूप तथा विषय-वस्तु (Form and Matter) में एक स्थायी सन्तुलन देखना चाहता है। यह

सन्तुलन अपनी पराकाष्ठा के स्वरूप में भी हो तथा विषय-वस्तु में भी। दृष्टिकोण स्थायित्व का है। अब इस बात पर विचार करना है कि क्या केवल विषय-वस्तु और स्वरूप के सन्तुलन पूर्ण सम्मिश्रण को ही रीतिवादी (क्लासिकल) कहा जा सकता है। रीति, नियम, अनुशासन, इन सबकी उपेक्षा कोई भी साहित्य नहीं कर सकता। प्रश्न है केवल किसी पक्ष पर विशेष बल देने का, यही रीतिवादी (क्लासिकल) अथवा स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोणों को अलग करता है। विख्यात फ्रेंच समालोचक ब्रूनेटियर (Brunetiar) ने कहा है कि विषय-वस्तु और स्वरूप का यह सन्तुलन किसी राष्ट्र के इतिहास में कुछ समयों के लिए ही आता है और यह अवधि ऐसी रहती है जब यह सामञ्जस्य और सन्तुलन अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट होता है। उन्होंने यह भी कहा, कि यह सन्तुलित स्वरूप किसी प्रतिभाशाली लेखक की रचना के कारण ही नहीं होता अपितु सामाजिक और बौद्धिक परि-स्थितियाँ ही इसका निर्माण करती हैं। दूसरे फ्रेंच समालोचकों में भी इस पर चर्चा हुई है। उनके अनुसार कला का वास्तविक लक्ष्य प्रकृति का अनुकरण होना चाहिए। प्राचीन साहित्यकारों में इसी प्रकृति के अनुकरण का अवलोकन वह करना चाहते हैं और यह तभी सम्भव है जब शैली, विषय-वस्तु और स्वरूप का सच्चा सन्तुलन हो और उसकी खोज में वे हमेशा ही संलग्न रहते हों।

प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य किसी राष्ट्र में केवल एक ही बार किसी निश्चित अवधि में रचा जाता है। भाषाओं के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि जब भाषा किसी उत्कृष्टता को प्राप्त होती है और सम्पूर्ण लगने लगती है तब उसमें रचित साहित्य रीतिवाद (क्लासि-कल) का स्वरूप लेता है। इसके पहले कि इस भाषा का विघटन हो और सांस्कृतिक ह्रास आरम्भ हो, साहित्यकार इसकी सम्पूर्णता का उपयोग कर, अपने साहित्य को इसके द्वारा सम्पन्न करता है। परन्तु गहराई में जाने पर हमको यह भी मालूम होता है कि भाषायें किसी कीर्ति चिह्न पर तभी पहुँचती हैं जब उनके पीछे सबल साहित्यिक रचनायें होती हैं। यह समृद्धिशाली भाषा कुछ अवधि तक अपनी उत्कृष्टता बनाए रखती है परन्तु यह भी देखा गया है कि जब यह भाषा पतनोन्मुख नहीं रहती वरन् अपनी समृद्धि के कीर्ति-चिह्न पर पहुँच चुकी है (और वहाँ कुछ काल तक स्थित रहती है) यद्यपि उस भाषा में रचा जाने वाला साहित्य धीरे-धीरे पतनोन्मुख होता जाता है। अतः सबल साहित्य और समृद्ध भाषा यद्यपि दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं फिर भी ऐतिहासिक रूप से उनकी अवधि एक सी नहीं रहती। फ्रेंच समीक्षक ब्रूनेटियर के मत पर टिप्पणी करते हुए अंग्रेजी के विख्यात आलोचक प्रोफेसर हर्बर्ट ग्रियर्सन (Professor Herbert Grierson) कहते हैं—

"ब्रूनेटियर उन मुख्य परिस्थितियों का उल्लेख करते हैं जिनके अन्तर्गत कोई रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य रचा जाता है। यह साहित्य उस राष्ट्र की उपलब्धि है जिसने नैतिक, राजनैतिक और बौद्धिक उन्नति किसी विशिष्ट कोटि तक कर ली है। इसके साथ ही, वह राष्ट्र इस विश्वास से पूर्ण हो जाता है कि उसका जीवन-दर्शन अधिक स्वाभाविक है, अधिक मानवतापूर्ण है, अधिक सार्वभौम तथा विवेकपूर्ण है बनिस्बत उस युग के जो अभी-अभी समृद्ध हुआ है। यदि ऐसा राष्ट्र एक समन्वय स्थापित कर लेता है जिससे वह जीवन को उसकी सम्पूर्णता में देखता है, तब वह उसकी विविधता में ही इसके ऐक्य को पाता है। कलाकार का कार्य यह है कि वह इस सम्बन्ध की चेतना को साकार रूप दे और जब वह ऐसा करता है तब उसकी रचना में एक ठोसपन और एक निश्चयात्मक स्वरूप भी आ जाता है। महान कलाकारों के हाथ में यही सौन्दर्य की अभिव्यंजना बनकर उतरता है। इन परिस्थितियों में और इस अवधि में साहित्य व्यक्तिगत नहीं होता।"

इस सन्दर्भ में प्रोफेसर ग्रियर्सन रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य की परिभाषा को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य अपेक्षाकृत छोटे समाज में रचा हुआ साहित्य होता है जैसा कि प्राचीन एथेन्स, रोम, पेरिस, लन्दन आदि में। रीतिवादी (क्लासिकल) परम्परा के कलाकार के सामने समस्या रहती है कि किस प्रकार उस सर्वसाधारण द्वारा अपनाए गए विचारों, भावनाओं तथा अनुभूतियों को एक सामञ्जस्यपूर्ण सन्तुलन देकर भी व्यक्तिगत अभिव्यंजना दे। यहाँ रीतिवादी साहित्य अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति में व्यक्तिगत केवल उसी सीमा तक होता है जहाँ तक यह आवश्यक हो कि वह पूरे समाज द्वारा वहन की हुई धारणाओं और अनुभूतियों को एक तीक्ष्ण और ठोस अभिव्यक्ति दे सके। समाज की समष्टि में व्यक्ति लीन होता है, परम्परायें सुदृढ़ होती हैं, जीवन का ठोसपन रीतिवादी साहित्य में परिलक्षित होता है। व्यक्तिगत रूप से अभिव्यंजना केवल उसी सीमा तक न्यायसंगत है जहाँ तक वह कला के द्वारा यह प्रदर्शित करे कि उस समाज और उस युग की अभिव्यक्ति विचार और अनुभूति की सार्वभौमिकता लिए हुए हैं तथा उनका सत्य एक सार्वलौकिक सत्य है। यहाँ व्यक्तिगत अनुभूतियों, हृदय के व्यक्तिगत स्पन्दनों और भाँति-भाँति के प्रयोगों को स्थान नहीं है।

परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि क्या किसी भी समाज में यदि भाषा किसी उत्कृष्ट अवस्था को पहुँच गई हो तो रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य की रचना सम्भव

है। यह पर्याप्त नहीं है कि समाज का अपना एक निश्चित जीवन-दर्शन हो और तभी रीतिवादी साहित्य उससे उत्पन्न होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि इस छोटे से समाज में, जहाँ इकाइयाँ किसी व्यवस्था की बुनावट होती हैं, जीवन के प्रति केवल एक सामान्य दृष्टिकोण हो; उस छोटे से समाज में यह प्रबल और प्रच्छन्न निहित भावना हो कि इस समाज में ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन पर वह गर्व कर सकता है। इस प्रकार की उपलब्धियाँ उसके अतीत में भी हैं, जिन्हें देखकर वह अपने वर्तमान को उसका एक अंग मानता है। इन उपलब्धियों के द्वारा, इस समाज में जो एक सन्तोष अपने स्वयं के कार्यों पर होता है और उससे समाज में जो आत्म-विश्वास और आत्म-सन्तुष्टि उत्पन्न होती है वही, वह साहित्य में देखना चाहता है। कला और साहित्य में इसलिए उस छोटे परन्तु गर्वीले समाज की झलक मिलती है। इसका साहित्यिक और कलात्मक रूप होता है साथ ही उनका एक अनुपात में इस समाज के साथ एक लय होना भी महत्वपूर्ण है। ऐसे समाज का लक्ष्य जीवन का एक बँधा-सँवरा स्वरूप, हर वस्तु में सन्तुलन और अनुपात के अनुसार सम्यक ज्ञान होता है। यह सम्यक्वाद (Correctness) इस समाज के प्रचलित शील, शिष्टाचार, सामाजिक आचरण में प्रदर्शित होता है। रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य में इसकी कलात्मक झलक दिखनी चाहिए —यह साहित्यकार की चेष्टा होती है। इसलिए वह अपनी साहित्यिक रचना का स्वरूप निश्चित कर उसे ठोस और सँवरा हुआ रखना चाहता है। इसमें 'सम्यकता', शैली तथा शब्दों के प्रधान तत्व—अनुभूति की उपयुक्त व्यंजना को निर्देशित करती है। इस समाज की आस्थायें और विश्वास अपने ठोसपन और नुकीलेपन के साथ स्पष्ट और केन्द्रोन्मुख (Centripetal) विचारणा से एकता स्थापित कर साहित्य का सन्तुलन करते हैं। इसलिए रीतिवादी (क्लासिकल) साहित्य में सम्यक्वाद, स्पष्टता, प्रयोगों के लिए कुछ अनिच्छा तथा व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति उदासीनता रहती है; क्योंकि यह एक सचेत, बली और आत्म-विश्वास से परिपूर्ण समाज की अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्तिवादी प्रयोग और व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन को स्थान नहीं है।

दूसरी ओर स्वच्छन्दतावादी साहित्य वह साहित्य है जिसमें स्वरूपों की स्वतन्त्रता है, परिवर्तन की माँग है तथा एक यौवनोचित प्रवाह है। अठारहवीं सदी से ही स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) साहित्य इस तरह पहचाना जाने लगा। कल्पना अपने पूरे वेग से और शक्ति से इसमें अभिप्रेषण का केन्द्र-बिन्दु बन गई। पुराने स्वरूप भार लगने लगे और उनको बदलने की माँग हुई। कल्पना के सामने नए-नए क्षितिज आए। शब्दावली और छन्दों में नए प्रयोग हुए और प्रत्येक प्रयोग में साहित्यकार को और आविष्कारक को आनन्द आया। इसमें विद्रोह का स्थान

था; व्यक्ति की परम्पराओं को तोड़ने का साहस था क्योंकि समाज ऐसी अवस्था में आ गया था जहाँ प्राचीन व्यवस्था, परम्परा, सन्तुलन आदि हिल उठे थे, मानव अपने समाज की हीनताओं के प्रति सचेत हो गया था और उनमें वह सुधार करना चाहता था। रीतिवादी साहित्य के सम्यक्-सिद्धान्त, व्यक्ति का समष्टि में लीन होना, परम्परा के प्रति श्रद्धा आदि इस स्वच्छन्दतावादी साहित्य में अपना मूल्य खो देते हैं।

जब टी० ई० ह्यूम ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का विरोध किया, जिस पर पहले खण्ड में विवेचन किया जा चुका है, वह मूलतः ऐसी प्रवृत्ति के विरोध में था जो मानववादी, आशावादी थी और, इस कारण, व्यक्तिगत प्रयोगों को स्वतन्त्रता देने वाली थी। इन व्यक्तिगत प्रयोगों से कविता अस्पष्ट, झिलमिल, स्वरूपहीन हो चली थी और उसमें किसी स्वरूप का ठोसपन नहीं था। जब टी० एस० ईलियट ने स्वच्छन्दतावाद विरोधी कविता लिखी, तो यथार्थ में, उन्होंने 'जौर्जियन स्कूल आफ पोइट्री' नामक काव्य-सम्प्रदाय के विरुद्ध अभियान छेड़ा, जिसमें एक संकुचित दायरे की संकुचित अनुभूति, तथा प्रकृति और मानव के सम्बन्ध की अस्पष्ट कविताएँ लिखी जाती थीं।

पर यह कहना सत्य नहीं होगा कि वर्तमान अंग्रेजी साहित्य या पश्चिमी साहित्य स्वच्छन्दतावाद विरोधी होकर अब रीतिवादीयुग में आ गया है। अब न तो रीतिवाद का लेबिल और न स्वच्छन्दतावाद का ही, लेबिल ठीक बैठता है। प्रसिद्ध आलोचक और कला समीक्षक हर्बर्ट रीड (Herbert Read) ने अपने ग्रन्थ "आधुनिक कला का दर्शन" (Philosophy of Modern Art) में यह कहा है कि रीतिवादी और स्वच्छन्दतावादी आन्दोलनों का वर्तमान काल में लाभदायी समन्वय केवल एक कलात्मक धारा द्वारा ही हो सकता है; वह है अति यथार्थवाद (Surrealism)। अतियथार्थवाद बौद्धिकता विरोधी है (Anti-intellect); परन्तु साथ ही साथ यह भावना विरोधी है (Anti-emotion)। बौद्धिकता विरोधी होने के नाते यह स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के निकट है, क्योंकि यह बुद्धि को यहाँ वह सर्वोपरि स्थान नहीं देता है जैसा कि रीतिवादी साहित्य में दिया जाता है; साथ ही, यह भावना विरोधी है अतः यह रीतिवादी साहित्य के निकट है जिसमें भावनाओं पर अंकुश है। किन्तु परम्परा, सभ्यता और सामाजिक आचरण की सत्यता निभाते हुए कोई साहित्य बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता, उसमें प्रयोगों के लिए स्थान और नए क्षितिजों का प्रेरक आदर्श होना चाहिए। परन्तु साथ ही यदि वह भावात्मक और कल्पनात्मक अधिक हुआ, तो एक रुग्ण और अति व्यक्तिवादी साहित्य बन जाएगा।

प्रारम्भ में टी० एस० ईलियट के नव-रीतिवाद (New-Classicism) का उल्लेख हो चुका है। यह नव-रीतिवाद पोप और जान्सन के समय का रीतिवाद नहीं है; परन्तु, कुछ समीक्षकों के मत के अनुसार, इसमें दो प्रधान धाराओं का मिश्रण रहता है। पहली धारा है सत्रहवीं सदी के उन दार्शनिक कवियों की, जिन्हें 'मेटाफिजिकल' सम्प्रदाय का कहा जाता है और दूसरी धारा है फ्रेंच कविता के प्रतीकवाद की। "दार्शनिकता पूर्ण कविता" के केन्द्र में बुद्धि-विलास (विट) होता था और "प्रतीकवाद" में अधिभौतिक चेतना और भौतिक वस्तुओं का साम्य निहित था। सत्रहवीं सदी की काव्य-परम्परा का पुनरुत्थान करके टी० एस० ईलियट ने काव्य में एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का समावेश किया जिसके कारण साहित्य में सापेक्ष मूल्य उत्पन्न हो गए। काव्य की परम्परा यूरोप के साहित्य की एक निरन्तर धारा का ही प्रवाह है और जिसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग करके देखने पर केवल उच्छृंखल स्वच्छन्दतावादी कविताएँ ही लिखी जा सकती हैं। अतः टी० एस० ईलियट की कविता में स्वच्छन्दतावाद विरोधी तत्व प्रवेश पा चुका था; परन्तु दूसरी ओर प्रतीकवाद कोई रीतिवादी व्यवस्था नहीं है। यदि उसमें अधिभौतिक साम्य का उल्लेख नहीं होता तो यह भी एक हृदय-केन्द्रित कविताओं की स्फुरणा का स्रोत होता और इस तरह स्वच्छन्दतावादी होता। परन्तु सत्रहवीं सदी के एक विशेष काव्य-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान कर और प्रतीकों के नए प्रयोगों का उसमें योग देकर टी० एस० ईलियट ने एक नए ही प्रकार का अभियान आरम्भ किया जो वास्तव में स्वच्छन्दता विरोधी है फिर भी वह निडर प्रयोगों के बाद ही पनप सका, इसलिए 'प्रयोग' ईलियट की काव्य व्यवस्था में आवश्यक है। क्लासिकल अर्थात् रीतिवादी युग का विशिष्ट जीवन-दर्शन उसमें है और वह इस तरह परम्परागत रीतिवादी साहित्य के अधिक निकट है। परन्तु वादों से भी उठकर ईलियट की कला एक सार्वभौम स्वरूप लेकर समस्त पश्चिमी साहित्य पर छा गई। स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद के विवाद से वह परे हो गई।

स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद, इस तरह आलोचना में दो लेबिल की तरह हैं परन्तु साहित्य एक ऐसी रसवती धारा है जिसे किसी शीशी में बंद कर इस प्रकार का लेबिल नहीं लगाया जा सकता। इन दो पारिभाषिक शब्दों का महत्व केवल 'काव्य' और कला' में कुछ मूलभूत लक्षणों को अलग करना है ताकि इनके स्वरूपों का मूल्य स्पष्टतः आँका जा सके।

परिच्छेद–२०

# साहित्य समीक्षा की सीमायें

पश्चिमी की आधुनिक समीक्षा कभी-कभी पत्रकारिता की समीक्षा के साथ भी जोड़ी जाती है। नई पुस्तकों का मूल्यांकन पुस्तक-समीक्षा के द्वारा पत्रों में उसके गुण-दोषों पर विवेचन कर होता है। दूसरी ओर साहित्यकार किसी विशेष प्रकार की साहित्य-धारा की व्याख्या करने के लिए शब्दों तथा विचारणाओं का विवेचन करता है। इस प्रकार एक ओर साहित्यिक निर्णय शीघ्रता से दिया जाता है तो दूसरी ओर साहित्यकार व्याख्या के तर्क में उलझ कर केवल स्पष्टीकरण और शब्दों का प्रतिपादन ही कर पाता है और निर्णय (जजमेण्ट) स्थगित कर देता है। इस विषय में अंग्रेजी के महान आलोचक सैमुअल जान्सन का एक रूपक याद आता है। उन्होंने कहा कि समालोचना 'प्रकाश' और 'सत्य' की पुत्री है, जिसे विवेक के स्वर्गीय महल में पाला पोसा गया है। उसकी सखियाँ समस्त कलायें हैं। एक बार कलाओं ने यह सोचा कि हम पाताल लोक की यात्रा करें और साथ में वह आलोचना को भी ले गयीं। तब स्वर्ग के सबसे महान देवता ने 'न्याय' से कहा कि वह उसके हाथ में एक राजदण्ड दें जिससे वह किसी भी कलाकार या साहित्यकार को या तो अमरत्व प्रदान कर सके या उपेक्षा। आलोचना ने यह राजदण्ड अपने दाहिने हाथ में धारण किया और बाँये हाथ में एक जलती हुई मशाल। उस मशाल को स्वर्ग के देवताओं ने नहीं वरन् 'श्रम' और 'सत्य' ने निर्माण कर प्रदीप्त किया था। इस मशाल का चमत्कार यह था कि जिस पर इसका प्रकाश पड़ता, उसके सारे सम्बन्ध आन्तरिक और बाह्य—स्पष्ट रूप से दीख पड़ते थे। जब आलोचना पाताल लोक गई तब उसने उन साहित्यिक कृतियों को देखा जिनमें अच्छाइयाँ और बुराइयाँ पूरी तरह उलझी हुई थीं। उसके दाहिने हाथ में न्याय का राजदण्ड अवश्य था जिससे वह साहित्यकारों को अमरता या उपेक्षा प्रदान कर सकती थी; परन्तु वह इस उलझन में नहीं पड़ना चाहती थी; क्योंकि उसने यह अनुभव किया कि सम्भवतः वह भली-भाँति न्याय के राजदण्ड का उपयोग नहीं कर पाएगी, इसलिए साहित्य की अच्छाइयों और बुराइयों का निर्णय उसने स्वयं नहीं किया वरन् 'समय' के ऊपर उसका निर्धारण छोड़ दिया।

और आलोचना ने केवल मशाल से ही काम लिया जिसे श्रम और सत्य ने प्रदीप्त कर उसे दिया था। जब आलोचना कला के साथ स्वर्ग को वापिस लौटी, तब लौटने के पहले उसने अपने दाहिने हाथ वाला न्याय का राजदण्ड तोड़कर फेंक दिया। इस टूटे हुए राजदण्ड के दो भाग हुए, एक भाग 'द्रोह' ने पकड़ लिया और दूसरे को 'चाटुकारिता' ने। इस तरह साहित्य का निर्णय इस रूपक के अनुसार चाटुकार और द्रोही लोगों के पास पहुँच गया और आलोचना के हाथ में जलती रही केवल वह मशाल जिसके द्वारा साहित्य और कलाओं के आन्तरिक और बाह्य सम्बन्ध स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

इस अर्थ भरे रूपक में आलोचना का स्वरूप इंगित है। साहित्यिक आलोचक निर्णय करे अथवा व्याख्या करे या केवल कला में निहित रस को प्रकाश में लाये, यह एक समस्या है। इस पर कुछ सम्प्रदाय भी बने और कुछ महान लेखकों ने अपने विचार भी प्रकट किये। साहित्य का निर्णय, जो आलोचक का एक लक्ष्य होना चाहिए, व्यक्तिगत द्रोह अथवा प्रशंसा के द्वारा विकृत नहीं होना चाहिए। साथ ही, साहित्य की व्याख्या किसी शास्त्र की व्याख्या की तरह नहीं होनी चाहिए क्योंकि साहित्य अपने में स्वयं एक पूर्ण जगत है, जिसमें रस की सार्वभौमिकता, अनुभूतियों के इस सुन्दर ताने-बाने में ईरानी कालीन की तरह बुनी गई है। इसे बौद्धिक मानदण्ड से मापा नहीं जा सकता। अतः, साहित्य में व्याख्या कहाँ तक आलोचना के सिद्धान्त को पूर्ण करती है यह भी एक विवादास्पद विषय है। फिर, यदि श्रम और सत्य की जलायी हुई मशाल से ही आलोचक किसी साहित्य या कलात्मक कृति को उसके आन्तरिक और बाह्य सम्बन्धों में प्रकाशित करता है तो क्या इससे आलोचना का लक्ष्य पूरा हो सकता है—यह भी एक दूसरी समस्या है। ईलियट ने एक बार कहा था कि आलोचक का कार्य यह होना चाहिए कि वह पाठक को ऐसी क्षमता दे जिससे वह अच्छी बुरी कविता में भेद कर सके। यहाँ भी निर्णय का एक तत्व इसमें निहित है, निर्णय (जजमेण्ट) आलोचक के हाथ में एक इतना भयंकर अस्त्र है कि उसको सम्यक् रूप से चलाने के लिए तटस्थतापूर्ण शक्ति की सम्पन्नता उसमें होनी चाहिए। 'अच्छा साहित्य' और 'बुरा साहित्य' इस तरह दो विभागों में बाँट कर आलोचक कला के साथ न्याय नहीं कर सकता क्योंकि 'अच्छी कविताओं' को बुरी कविताओं से विलग करना उन रसिकों का काम है जो अपनी अभिरुचि के लिए प्रसिद्ध हैं, और शौकीनों (Comoissewr) की श्रेणी में आते हैं। शौकीन सूक्ष्म निरीक्षकों का ही काम है कि रुचि के अनुसार कला को प्रशंसनीय या अप्रशंसनीय, अच्छे या बुरे क्षेत्रों में बाँट दें, क्योंकि उनका लक्ष्य होता है निर्णय देना। बिना व्याख्या या विवेचन के निर्णय करने में, उन्हें बड़ी सावधानी से चयन करना होता है। परन्तु आलोचक

के हाथ में यदि यह सत्य और श्रम की प्रदीप्त की हुई मशाल है तो वह धीरता और गम्भीरता से कला को कला की तरह ही प्रस्तुत कर सकेगा। कला के अपने जगत के आन्तरिक सम्बन्ध, उसका वह केन्द्र, जिससे रस संचार होता है, उसका वह प्रतीक जो उसके समस्त वातावरण में तिरता है—इन सबकी एक मोहक सम्पूर्णता यदि आलोचक पाठकों तक सम्प्रेषित कर सके तो वह अपने एक लक्ष्य को पूरा कर पाएगा। किसी भी रचना की रसमयता पाठक तक पहुँचना, पाठक में रस के वे द्वार खोल देना जो अब तक बन्द थे, उसकी इस चेतना में ऐसी अभिवृद्धि करना कि जिससे कला की मार्मिकता का वह आभास पा सके, आलोचक के मुख्य उद्देश्य हैं। उसका कार्य उस धाय की तरह है जो बच्चे की उत्पत्ति में सहायक होती है; भले ही वह बच्चे की माँ नहीं है, परन्तु उसके द्वारा ही उत्पत्ति की सफलता सम्भव होती है। इस प्रकार आलोचक भी कला की सम्प्रेषण-व्यवस्था का प्राथमिक माध्यम होता है। यदि वह निर्णय करने बैठ जाय तो हो सकता है कि वह अन्याय कर बैठे, और जिस रस का प्लावन उस साहित्य में हो रहा है वह सूख जाय, भले ही वह निर्णय ठीक हो।

कला की कोई वस्तु कलाकार के दिमाग की उपज होती है, यह मानकर ही आलोचक को चलना पड़ता है। कला के प्रति उसका दृष्टिकोण पहले एक वस्तु-परक (Objective) होता है, वह इसे भाँति-भाँति टटोलता है और उसके भेद को समझता है। उसके आन्तरिक सम्बन्धों को देखने का प्रयत्न करता है, उसकी समस्त व्याख्या में निहित केन्द्रबिन्दु तक प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। यदि आलोचना का लक्ष्य साहित्य के स्वरूप और विषय-वस्तु के समन्वय को सम्प्रेषित करना है तो उसका आभास सम्प्रेषण के केवल पारिभाषिक शब्दों द्वारा नहीं हो सकता। उसके स्पर्श का वैभव और अनुभूतियों की विलक्षण तीव्रता, चित्रकल्पों का अपना जीवन पाठक तक उस सम्प्रेषण-व्यवस्था से पहुँचाया जा सकता है जिसमें एक वस्तु-परक दृष्टिकोण है और साथ ही साथ वह संवेदनशीलता भी है जो किसी विद्युत लहर के संवाहक (Transmitter) में होती है।

परन्तु आलोचना के उपरोक्त दृष्टिकोण से यह प्रतीत हो सकता है कि आलोचक मात्र एक माध्यम है, उसका अपना स्वयम् का कोई व्यक्तित्व नहीं है, वह न तो निर्णय दे सकता है और न व्याख्या ही कर सकता है, क्योंकि निर्णय गलत हो सकता है और व्याख्या जो बौद्धिक विचारणा से प्रेरित होती है रस को सुखा दे सकती है। आलोचना का क्षेत्र सचमुच ही एक अत्यन्त गहन विषय है। इस पर विवेचन करने के पहले हमें इसके सम्बन्ध की मूल धाराओं पर चर्चा कर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न करना होगा। आधुनिक ज्ञान में जो वृद्धि हुई है और जिसके

कारण आलोचक को मनोविज्ञान, राजनीति, समाज-शास्त्र, धर्म, नैतिकता आदि बौद्धिक बहुमूल्य रत्न उपलब्ध हुए हैं, क्या इनसे आलोचना समृद्ध नहीं हो सकती?

कुछ प्रतिनिधि समीक्षकों के मतानुसार साहित्य-समीक्षा में आलोचक का मुख्य उद्देश्य स्पष्टीकरण (Elucidation) होना चाहिए न कि व्याख्या (Interpretation) या निर्णय (Judgement) और श्रम और सत्य की मशाल में ही उस सम्भावना को जगाना और देखना चाहिए। यह किसी दशा में सम्भव नहीं है। किसी भी साहित्यिक रचना का भलीभाँति आस्वादन करने के पहले पाठक को उसके आन्तरिक विश्व की रूपरेखा पहचानना आवश्यक है। जो-जो व्यवधान इस रूपरेखा को प्रच्छन्न और अस्पष्ट किए होते हैं, आलोचक का काम है कि उन्हें हटाए और रूपरेखा को और भी अधिक जीवन्त करे। फिर उस साहित्यिक रचना को इस प्रकार उसके अपने युग से अलग कर, हटाकर, दूरी देकर, उसे आलोचना की पृष्ठभूमि में ऐसा सजाए कि जिससे उसके अपने युग में होने की जो स्वाभाविक न्यूनतायें हो सकती हैं, वे लोप हो जायें। यह तभी सम्भव है जब आलोचना पाठक को किसी विशेष मनोदशा में रख सके। यह मन की वह स्थिति होगी जिससे कला जगत में प्रवेश करना सरल और सम्भव हो सकेगा। संवेदनशीलता के अतिरिक्त आलोचक पाठक के उन द्वारों को खोल देगा जो उसके भौतिक ज्ञान के अथवा रसेन्द्रियों के ज्ञान के द्वार हैं, और जो अब तक अवरुद्ध थे।

इस मनोदशा में पहुँचने का प्रथम-चरण है 'विस्मय'। समीक्षक यदि पाठक को साहित्यिक रचना की उपस्थिति में इस प्रकार लाकर खड़ा करे कि उसकी ऊँचाई और गहराई से ही पाठक विस्मय से भर जाय; तब विस्मय के साथ उसमें एक जिज्ञासा उत्पन्न होगी; जिज्ञासा के साथ वह टटोलता हुआ कला के उस आन्तरिक विश्व में वह मार्ग खोजेगा जिससे निरन्तर प्रयासों के पश्चात् वह केन्द्र-बिन्दु तक पहुँच जाय। आलोचक उसके द्वारा किसी निर्देशक या मार्गदर्शक की भाँति नहीं चलेगा, वह केवल उसे प्रवेश दिलाकर मार्ग पर अपनी मशाल का प्रकाश करेगा। केवल अपने ही अध्यवसाय, अनुशासन, अभिरुचि, शालीनता की अनुभूति में ही पाठक उस साहित्यिक कृति का आस्वादन करने में सफल हो सकेगा। आलोचक तो उस आन्तरिक विश्व के इर्दगिर्द जो व्यवधान हैं, उन्हें हटाएगा, उसे अर्वाचीन काल से विलग कर व दूरी देते हुए एक ऐसे सन्दर्भ में प्रस्तुत करेगा जिससे वर्तमान न्यूनतायें या आकर्षण इसकी रूपरेखा और इसके अन्तर्जगत को धूमिल न कर दें।

अब तक के हुए विवेचन के अनुसार आलोचना का लक्ष्य उस मशाल की तरह है, जो सम्बन्धों को प्रकाशित कर उनका अवलोकन करने में सहायक होती है। यह समीक्षकों का एक मत है। इसको पूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें निहित अन्य तत्वों पर भी विचार हो। यदि समीक्षा का लक्ष्य केवल प्रकाशित करना, स्पष्टीकरण और पाठक को ऐसी सहायता प्रदान करना है जिससे वह रस का आस्वादन कर सके तब प्रश्न यह उठता है कि समीक्षक का अपना व्यक्तित्व किस अनुपात में समीक्षा में उतरता है।

जब समीक्षा के इस दृष्टिकोण में निर्णय (जजमेण्ट) निरस्त होता है तब आलोचक सम्बन्धित साहित्यिक रचना को पाठक तक पहुँचाने में उसके चारों ओर के न केवल व्यवधान हटाता है, वरन् उसकी अपनी रस क्षमता और जीवन के ज्ञान, उस रचना के माध्यम से, पाठक तक पहुँचा कर अभिरुचि को परिमार्जित करता है। यह परिमार्जन कोई निश्चित या पूर्व निर्धारित प्रक्रिया नहीं है। समीक्षा पढ़ते-पढ़ते ही पाठक को उसकी गहनता या ऊँचाई प्रतीत होने लगती है। समीक्षक का यह व्यक्तित्व कोई अपना आत्म-प्रधान (Subjective) व्यक्तित्व नहीं है। उसकी जीवन सम्बन्धी अनुभूतियाँ, ज्ञान की गहराई, जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, ऐसी देन है जो उस साहित्यिक रचना तक पहुँचा कर यह सम्भव कर देती है कि उस कलात्मक सृष्टि का रस श्रोता या पाठक उत्तरोत्तर रूप से आनन्दित होकर ले सके। रसास्वादन का आनन्द कभी पूर्ण आनन्द नहीं हो सकता। वह सापेक्ष है और या तो उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती है या ह्रास। आलोचक यदि अपने स्पष्टीकरण के लक्ष्य में दृढ़ रहे तो पाठक की इस आस्वादन क्षमता में भी वृद्धि कर सकता है।

कोई भी कला या कविता पाठक को भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों में और नाना प्रकार की अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न तरीकों से प्रभावित करती है। एक ही कविता किसी पाठक को, जब वह किसी रोग से अभी-अभी छुटकारा पाकर स्वस्थ हुआ है, इस तरह प्रभावित करती है जैसे वह उसे उसकी साधारण स्वस्थ अवस्था में नहीं कर सकती थी। वही पाठक जब सांसारिक ज्ञान और जीवन की संवेदन-शीलता में और अधिक परिपक्व होता है तब उस कविता में एक विलक्षण चमत्कार आ जाता है। इस प्रकार पाठक का अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध उस कविता के आस्वादन में होता है और यह सम्बन्ध बहुत कुछ सापेक्ष होता है। इस दृष्टिकोण में वह समस्या निहित है जिसके अनुसार आलोचक कहता है कि हमको किसी कविता की व्याख्या (Interpretation) करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु कविता की व्याख्या नहीं की जा सकती है जैसा कि वर्ड्सवर्थ ने

कहा था कि विश्लेषण करने में हम किसी वस्तु की हत्या कर डालते हैं (We murder to Dissect)। आलोचक का ध्येय तो रसास्वादन के आनन्द में, जैसे भी हो, वृद्धि करना है। यह आनन्द कलात्मक उत्कृष्टता के अनुपात में घटता-बढ़ता है, परन्तु यह आलोचक की अपनी क्षमता है कि वह किसी कलात्मक सृष्टि को उसके आनन्दप्रद रूप में प्रस्तुत करे। यह आस्वादन साहित्यिक समीक्षा का कोई विशेष अंग नहीं है। यह सौन्दर्य-शास्त्र का एक तत्व है जिसमें किसी कला की अपनी व्यवस्था को अपने अनुसार ही पाठक तक इस प्रकार सम्प्रेषित करना होता है कि वह इसके रस विशेष का आनन्द ले सके। साहित्यिक समीक्षक यहाँ एक सहायक सिद्ध हो सकता है यदि वह उस आन्तरिक रसास्वादन में जो सापेक्ष है, पाठक की सहायता करे।

इस समस्या के दूसरे पहलू पर अब हम प्रकाश डालेंगे और वह है किसी साहित्यिक रचना में एक ऐतिहासिक मूल्य का होना। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई साहित्यिक रचना आगे चलकर अमरत्व को प्राप्त कर ले और इतिहास में उसका नाम हो जाए। इसका अर्थ केवल यही है कि कोई भी कलाकृति अपने अतीत की परम्परा से विलग नहीं की जा सकती। परोक्ष या अपरोक्ष रूप से अतीत का प्रभाव उसमें अवश्य रहता है। इस सम्बन्ध में टी० एस० ईलियट के प्रसिद्ध प्रबन्ध—"परम्परा और व्यक्तिगत मेधा"—(Tradition and Individual Talent) उल्लेखनीय हैं। जिस पर आगामी अनुच्छेदों में विचार किया जाएगा। उपरोक्त विवेचन में यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि एक दृष्टिकोण से समीक्षक का लक्ष्य स्पष्टीकरण का है न कि निर्णय लेने का या व्याख्या करने का। इस तारतम्यता में हमें यह भी देखना है कि ऐसे कौनसे क्षेत्र हैं, जिनका उपरोक्त दृष्टिकोण उपयोग नहीं करता है और जिसे साहित्यिक आलोचना से विलग मानता है। यह दृष्टिकोण इन क्षेत्रों को कला के क्षेत्र से अलग मानता है और इसलिए अपने साहित्यिक स्पष्टीकरण में समीक्षक उनको कोई विशेष महत्व नहीं देता। कला कोई मनोवैज्ञानिक या समाज शास्त्रीय परिपत्र नहीं है। यह कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है।

साहित्य समीक्षा के विषय में जब आधुनिक धाराओं का उल्लेख होता है तब युग-प्रवर्तक टी० एस० ईलियट का नाम स्वभावतः लिया जाता है। उनकी प्रारंभिक कविताओं के साथ ही आलोचना संबंधी जो लेख उन्होंने लिखे, वे एक प्रकार से उन कविताओं के दार्शनिक स्पष्टीकरण का ही स्वरूप थे। इन आलोचनात्मक लेखों में "परम्परा तथा व्यक्तिगत मेधा" बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें व्यक्त विचारणायें आगामी काल तक आधुनिक कविता और आधुनिक

समीक्षा का मार्ग दर्शन करती रहीं। इसके पूर्व कि टी० एस० ईलियट की समीक्षात्मक विचारधारा का निरूपण किया जाये यह उचित है कि उनके इस प्रबंध का मुख्य तर्क प्रस्थापित हो।

"परम्परा तथा व्यक्तिगत मेधा" में टी० एस० ईलियट ने साहित्य में परम्परा का महत्व अतीत की चेतनता का वर्तमान में प्रभाव के रूप में स्थापित किया है। कलाकार के अपने दैनिक व्यक्तित्व का विघटन होकर एक अवैयक्तिक कला का उदय होना दूसरी महत्वपूर्ण उक्ति है। उन्होंने यह दर्शाया कि जब लेखक लिखता है तो उसकी मानस-भूमि में समस्त पश्चिमी यूरोप के साहित्य की निन्तरता इस प्रकार विद्यमान रहती है कि वह उसके संदर्भ में ही अपने वर्तमान साहित्य को देखता है; और न केवल देखता है, वरन् एक जीवन्त तारतम्य उसमें अनुभव करता है। इस अनुभूति के कारण ही वह अपनी साहित्यिक रचना में एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण का स्पर्श देखता है। साहित्य में किसी महत्वपूर्ण सभ्यता और संस्कृति की एक रसमयी व्यंजना है, अतीत की वह चेतना कोई स्वच्छंदतावादी (रोमांटिक) चेतना नहीं जो अतीत को केवल इसलिए स्मरण करती है कि वर्तमान दृष्टि से ओझल हो जाय और अतीत का सौंदर्य दूरी होने के कारण निकट आ जाय। ईलियट की परिभाषा में अतीत और वर्तमान की एक तारतम्यता में काल के क्षण-भंगुर स्पर्श को लाँघकर कोई कलाकार कालातीत दर्शन (Timeless Vision) का सर्जन कर सकता है। इस दशा में वह साहित्य को उसकी सम्पूर्णता में देख पाता है, और इस अवलोकन में वह निश्चल और विश्वस्त होता है। उसके पैर अपनी जमीन में जमे होते हैं। स्वछंदतावादी (रोमांटिक) कवियों की भाँति वह केवल बादलों में नहीं उड़ता। इस परम्परागत चेतना के होने के कारण उसमें उच्छृंखल प्रयोग अथवा व्यक्तिगत हृदय की अनुभूति परिष्कृत होकर उनका उन्नयन संभव हो जाता है। यहीं अवैयक्तिगत कला का जन्म होता है। साहित्य की संपूर्णता के बोध को संचारित करने में परम्परा ही वह मेरुदण्ड है जो समस्त सभ्यता, संस्कृति और उनसे फलित साहित्य के शरीर और मन को सम्बल देती है।

इस संदर्भ में हमें टी० ई० ह्यूम (T. E. Hume) का स्मरण होता है जिनकी स्वछंदतावाद (रोमांटिक) विरोधी विचारणा पर हम पूर्व में विचार कर चुके हैं। ह्यूम ने कहा था कि स्वछंदतावादी (रोमांटिक) प्रेरणा के मूल स्रोत में वह दम्भी मानववादी हैं, जो यह समझते हैं कि मानव मस्तिष्क अपरिमित संभावनाओं से पूर्ण है, और उसके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। दूसरी ओर ह्यूम ने यह भी कहा था कि आगामी काल में धर्म का अभ्युदय होने से साहित्य में कुछ

सुनिश्चित आस्थाओं का एक अस्पष्ट प्रभाव कविता अथवा साहित्य को एक सुनिश्चितस्वरूप और ठोसपन प्रदान कर सकेगा। उसके ही शब्दों में—

> "मानव असाधारण रूप से परिवर्तनशील और बहुत ही सीमित प्राणी है, जिसका स्वभाव सम्पूर्णतः एकसा रहता है। यह केवल परम्परा तथा संस्था से ही संभव है। तभी उस मानव से हम कुछ सौष्ठवपूर्ण कार्य करा सकते हैं।"

ह्यूम के प्रभाव में टी० एस० ईलियट कुछ अवधि तक रहे और दोनों ने ही पेरिस जाकर दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया था। क्योंकि ह्यूम स्वछंदतावाद विरोधी थे, और ईलियट ने भी उन्हीं की तरह परम्परा और संस्था पर बल दिया, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ईलियट की समीक्षा स्वछंदतावाद विरोधी प्रवृत्तियों को पनपने देना चाहती है और उसके ही माध्यम से एक अवैयक्तिक कला को निश्चित स्वरूप देना चाहती है। परम्परा, संस्था और अवैयक्तिक कला परस्पर संबद्ध हैं।

टी० एस० ईलियट ने इस आलोचनात्मक प्रबंध "परम्परा और व्यक्तिगत मेधा" में यह भी कहा—

> "कलाकार का विकास उसके निरन्तर आत्म-बलिदान में है—एक निरन्तर विघटन उसके स्वयं के व्यक्ति का।"

> "जितना ही अधिक कलाकार पूर्ण होता है उसी अनुपात में उसके सृजनात्मक मस्तिष्क में तथा उसके व्यक्तित्व के बीच एक अलगाव पैदा होता है, और तभी उतनी ही पूर्णता से वह मस्तिष्क उन भावों को पचा-कर तत्वान्तरण करने में सक्षम होता है जो उसकी रचना की वस्तु है।"

इन दो उद्धरणों में एक आन्तरिक सम्बन्ध है। टी० एस० ईलियट ने अपने उक्त प्रबन्ध में एक वैज्ञानिक उदाहरण के द्वारा यह बतलाया है कि कोई कलात्मक सर्जना, जैसे कविता, एक बिलकुल ही भिन्न वस्तु होती है। जब कवि का मस्तिष्क अपनी स्व-अर्जित अनुभूति पर क्रियाशील होता है और फिर भी उस पर स्वयं कोई प्रभाव नहीं होता। उन्होंने एक प्लेटीनम के टुकड़े का उदाहरण दिया जो उस ग्लास में प्रवेश कराया जाता है जिसमें आक्सीजन गैस तथा सल्फर डाय-आक्साइड होते हैं। इस प्लेटीनम की रासायनिक प्रक्रिया के कारण आक्सीजन और सल्फर डायआक्साइड मिश्रित हो जाते हैं और उनसे गन्धक का तेजाब

(सल्फ्यूरिक एसिड) वन जाता है। इस गन्धक के तेजाब में न तो आक्सीजन का गुण रहता है, न प्लेटीनम का और न ही सल्फरडायआक्साइड का। यह एक नितान्त रूप से सादा पदार्थ है जिसके सृजन में यद्यपि तीन रासायनिक क्रियाओं का योग रहता है। इस क्रिया में आक्सीजन और सल्फरडायआक्साइड घुल-मिलकर दूसरा ही पदार्थ बन गए और उनका अस्तित्व उस नए पदार्थ में लीन हो गया। परन्तु प्लेटीनम अपने रूप से स्वतन्त्र रहा। इस पर किसी प्रकार की रासायनिक क्रिया फलित नहीं हुई और न ही इससे कोई परिणाम निकला। उसी प्रकार कवि के मस्तिष्क की स्थिति उस प्लेटीनम के टुकड़े के समान है। वह उसकी स्वयं की अनुभूतियों पर आंशिक या सम्पूर्ण रूप से क्रियाशील हो सकता है परन्तु सर्जनात्मक क्रिया से जो परिणाम होगा वह कविता होगी। यह कविता उसकी अपनी अनुभूतियों और भावनाओं का मिश्रण होने से उत्पन्न होगी और यह मिश्रण एक अलग ही तत्व बन जायगा जिसमें उसकी स्वयं की अनुभूतियों का अस्तित्व मिट जायगा और भावनायें एक स्वरूप में बंध जायेगी। इस सृजनात्मक क्रिया-शीलता में कवि का मस्तिष्क (प्लेटीनम) क्रियाशील था परन्तु उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं रहा। उसकी अपनी स्वयं की हस्ती है, इसलिए उसका व्यक्तित्व, कवि की स्वयं की हस्ती, उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों का पुंज, कविता के सृजनात्मक क्रियाकलाप में निश्चय रूप से भाग लेता है परन्तु वह उसके परिणाम-स्वरूप होने वाली कविता से विलग रहता है और मस्तिष्क अछूता रहता है। जितना ही अधिक कवि का मस्तिष्क इस तटस्थता का पालन कर पाएगा, उतनी ही अधिक पूर्णता कला में आएगी। इस प्रकार काव्य की सृजनात्मक क्रिया में कवि का स्वयम् का व्यक्तित्व पृथक् रहता है। कविता में उसके मस्तिष्क को खोजना या उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों को खोजना एक व्यर्थ का प्रयास है। इसका कारण यह है कि कविता में जो तत्व मिलकर एक दूसरा ही परिणाम लाते हैं, उनका अपना ही एक मनोवैज्ञानिक महत्व है।

ईलियट ने कहा कि कवि के मस्तिष्क में, चाहे उसके सचेतन मन में, या अन्तश्चेतना में, ऐसी अनुभूतियाँ ऐसी स्मृतियाँ, ऐसे चित्रकल्प, विंधे होते हैं जो समय पाकर अपनी अभिव्यंजना के लिए व्याकुल हो जाते हैं। कवि की अनुभूति बहुत गहन होती है, उसकी गहनता का प्रमाण यह है कि जब वह क्रियाशील रहती है तब उसका मस्तिष्क अत्यन्त संवेदनशील रहता है। गुलाब के फूल की महक, टाइपराइटर की आवाज, किसी दार्शनिक का दर्शन-ग्रन्थ, किसी प्रेम-संगीत की तान अथवा किसी गीली मिट्टी की सोंधी महक, ये सब उसके मस्तिष्क में सुप्तावस्था में छिपी होती हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियों में, जिनमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता है, कवि एक ऐसा सामञ्जस्य पैदा कर देता है कि कविता के

रूप में वह एक नया परिणाम लेकर उत्पन्न होती है। इस सामञ्जस्य-मय मिश्रण में कवि का मस्तिष्क प्लेटीनम की तरह परिणाम लाने में क्रियाशील अवश्य रहता है परन्तु जब परिणाम प्राप्त हो गया तो वह उससे विलग रहता है। जब भिन्न-भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ इस प्रकार सामञ्जस्य पाकर एकाकार हो जाती हैं और अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था में कविता में उतर आती हैं, तभी उस कविता में वास्तविकता कला बन जाती है।

टी० एस० ईलियट की परम्परा सम्बन्धी विचारणा और अवैयक्तिक कला पर बल, आलोचना साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर आई। मुख्य रूप से उनके समय के विचार इस प्रकार व्यक्त किए जा सकते हैं—

**परम्परा सम्बन्धी विचार**

(१) किसी भी साहित्य में जीवित विचारों की धारा होना आवश्यक है।

(२) समीक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह इस धारा की निरन्तरता को स्थिर रखे।

(३) साहित्यकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देश के साहित्य के अतिरिक्त भी बाहर से सुविचारों को ग्रहण करने की तत्परता रखे।

(४) साहित्यिक और बौद्धिक अन्तरात्मा लेखकों में आवश्यक है, क्योंकि साहित्यिक और बौद्धिक क्षेत्रों के लिए बहुत ऊँचे स्तर की आवश्यकता है।

(५) इस स्तर को बनाए रखना लेखकों का कर्त्तव्य है, जिससे साहित्य में उत्कृष्ट लक्षण आ जायें और स्थित रहें। इन लक्षणों से ही क्लासिकल अर्थात् रीतिवादी साहित्य का जन्म होता है।

(६) ग्रीस और रोम का साहित्य बहुत अंशों तक लेखकों के लिए अनुकरणीय है।

समीक्षा सम्बन्धी लक्ष्यों का निरूपण करते हुए टी० एस० ईलियट ने कहा था कि समीक्षा का लक्ष्य स्पष्टीकरण (Elucidation) और साथ ही अभिरुचि का परिष्करण (Purification of Taste) भी हो। उन्होंने यह भी कहा था कि समीक्षक पाठकों में उस विवेक को जागृत करे जिसके अनुसार वे अच्छी और बुरी

कविता में भेद कर सकें। परन्तु आगे चलकर टी० एस० ईलियट ने अपने इस मत में कुछ परिवर्तन किए। आगामी समीक्षात्मक लेखों में उन्होंने यह प्रतिपादित किया—

"तीस साल पहले मैंने कहा था कि साहित्यिक समीक्षा का आवश्यक कार्य कला का स्पष्टीकरण और अभिरुचि का परिष्करण करना है। आज की अवस्था में यह पद कुछ आडम्बरयुक्त मालूम हो। शायद मैं इसे और सरल शब्दों में पुनः कहूँ जो वर्तमान काल में स्वीकार्य हो। मैं कहूँगा कि समीक्षा का लक्ष्य होना चाहिए बोध शक्ति और रसास्वादन की शक्ति को प्रोत्साहित करना (Understanding and Enjoyment)।

इस उद्धरण में उन्होंने आगे चल कर यह स्पष्ट कर दिया कि साहित्य का आस्वादन तथा उसका बोध (Enjoyment and Understanding) दो भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं क्योंकि भ्रान्तिवश कुछ लोग यह समझ सकते हैं कि आस्वादन भावनात्मक स्थिति है और बोध बौद्धिक; परन्तु समीक्षक का यह लक्ष्य होना चाहिए कि पाठक में आस्वादन के साथ ही साथ बोध को, जो दोनों एक ही प्रकार की क्रियायें हैं, प्रोत्साहित करें।

मोटे रूप से समीक्षक के निम्नलिखित कार्य टी० एस० ईलियट ने दर्शाये हैं—

(१) काव्य की प्रकृति और उसके स्वरूप के विषय में निरन्तर खोज।

(२) अच्छी कविता और बुरी कविताओं के बीच पहचान, जिसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हुआ कि जीवित और मृतशील साहित्य में भेद करने की क्षमता।

(३) साहित्य की जीवित परम्पराओं को स्थायी रखना।

(४) अभिरुचियों का परिष्करण।

(५) कला का स्पष्टीकरण।

(६) साहित्य के स्वरूपों का विवेक से अवलोकन कर उनका बोध तथा आस्वादन करना, इसलिए नहीं कि बौद्धिक विचारणायें उससे सबल हो सकें वरन् इसलिए कि रस की अनुभूति इससे अधिक तीव्र हो सके।

मुख्य तथ्य जिन पर ईलियट ने प्रकाश डाला और जो उनके अनुसार समीक्षा के तकनीकी अंग हैं—वह हैं तुलना तथा विश्लेषण (Comparison and Analysis)। उन्होंने कहा कि तुलना करते समय कोई भी साहित्यिक रचना अतीत के मानदण्ड से आँकी जाय; आँकी जाय न कि उनसे अंग-विच्छेद किए जायँ अर्थात् वह इस प्रकार निर्णीत न हो कि अतीत के मुकाबिले यह अच्छी है या बुरी है। अतीत के समीक्षकों के मानदण्ड से यह कभी न आँकी जाय। निर्णय करने के लिए जब तुलना की जाती है तब जिन दो वस्तुओं में तुलना की जाती है वे आपस में ही एक दूसरे के माप का आधार बनें।

महत्वपूर्ण प्रसंगों में समीक्षक अपनी राय कभी भी न थोपे और न 'अपेक्षाकृत अच्छी और अपेक्षाकृत बुरी' के अनुसार निर्णय दे। वह केवल स्पष्टीकरण करे। पाठक स्वयं इस पर अपना निर्णय दे देंगे।

स्वच्छन्दतावाद विरोधी तथा प्रभाववादी (Anti Romantic and Impressionstic Criticism) समीक्षा से अलग जिस आलोचनात्मक धारा का टी० एस० ईलियट ने प्रवर्त्तन किया, उसमें परम्परा के प्रति आस्था तथा अवैयक्तिक कला का स्वरूप, दो मुख्य लक्ष्य निर्धरित हुए।

प्रभाववादी समीक्षा (Impressionstic Criticism) के अन्तर्गत यह विशेष मनोदशा समीक्षक की होती है जिसमें कला की रसानुभूति उसके विषयगत (Subjective) पुलक, रोमांच अथवा अनिच्छा में ही व्यक्त होती है। यह व्याख्यात्मक समीक्षा (Interpretation) से भिन्न है और ऐतिहासिक समीक्षा (Historical Criticism) से भी। परन्तु साहित्यलोचन यदि इतना विषयगत हुआ तो कला का स्वत्व परीक्षक की व्यक्तिगत अनुक्रिया तक ही सीमित होगा।

दूसरी ओर ऐतिहासिक समीक्षा उन्नीसवीं सदी की भ्रान्तियों पर आधारितहै, जो राजनैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, प्रवृत्तियों का समावेश और मिश्रण साहित्य में अभीष्ट मानती है। इसमें सन्देह नहीं कि युग का प्रभाव तो साहित्य पर गम्भीर रूप से होता है, पर किसी अतीत काल के साहित्य को समीक्षा की कसौटी पर चढ़ा कर यदि उस युग विशेष का (जो बीत चुका है) चित्र पुनः स्थापित करना चाहें तो कल्पना का ही सहारा लेना होगा। स्पष्ट है कि यह कल्पना मात्र कल्पना तरंग (Fancy) होगी। किसी ऐतिहासिक युग की मनोदशाओं का सार अथवा उस समय के लोगों की रुचि या अरुचि, उनके श्रेयस्कर या अश्रेयस्कर के मानदण्ड केवल अभिलेखों के सहारे कल्पित नहीं हो सकते। अतः 'युग' और 'साहित्य' में गंभीर सम्बन्ध होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से किसी ऐतिहासिक युग अथवा

अतीत के निर्दिष्ट संदर्भ में उस युग के साहित्य को मापा नहीं जा सकता है। साहित्य की चिरन्तनता, उसके कलात्मक सर्जन के केन्द्र, उससे बहने वाली प्रच्छन्न रस धारा ही समीक्षक की अवलोकन परिधि में आने चाहिए।

फिर भी जब 'परम्परा' की विचारणा समीक्षा में इस तरह प्रवेश कर गई कि आलोचक उसे ही अपना प्रमुख प्रकाश मानने लगे तब यह अभीष्ट है कि इसका विवेचन हो कि किस प्रकार यह 'ऐतिहासिक समीक्षा' की विचारणा से भिन्न है। 'परम्परा' में 'इतिहास' निहित है। फिर भी टी० एस० ईलियट का समीक्षात्मक दृष्टिकोण जो परम्परा के विचार से परिपूर्ण है, ऐतिहासिक समीक्षा से अलग है। कारण यह है कि 'परम्परा' में जिस इतिहास की कल्पना टी० एस० ईलियट ने की है वह अभिलेखों का इतिहास नहीं है। 'इतिहास' का अर्थ 'परम्परा' के सन्दर्भ में वह अतीत की साहित्यिक धारा है जो अबाध गति से बहती है। और अर्वाचीन साहित्य अतीत के साहित्य का ही विकास है। 'विकास' शब्द से ही इसकी निरन्तरता का बोध हो जाता है। अतः जब समीक्षक वर्तमान साहित्य की आलोचना करने बैठता है तब उसे अतीत के इतिहास से विकसित हुआ एक अंग मानना चाहिए। जब समीक्षक में अतीत के अस्तित्व की चेतना छाया की भाँति उसकी रचना-शक्ति पर छाई होगी तब यही वह अपने आलोचनात्मक विषय को एक कड़ी समझकर ही उसका मूल्यांकन करेगा।

इस परिस्थिति में की गई समीक्षा किसी अतीत युग का चित्र कल्पित नहीं करती है, केवल अर्वाचीन साहित्य को उसके अतीत के साहित्य की निकटता और प्रभावशील सम्पर्क के सन्दर्भ में ही देखती है। यहाँ वह 'तुलना' (Comparision) का उपयोग करती है, अतीत के साहित्य का विमर्श अर्वाचीन साहित्य के सन्दर्भ में करती अवश्य है परन्तु तुलना नहीं करती। तुलना केवल दो साहित्यिक कृतियों में पारस्परिक रूप से होती है, इस प्रकार नहीं कि अतीत के मानदण्ड के अनुसार अर्वाचीन साहित्य का मूल्य यह होगा, अथवा प्राचीन साहित्य की तुलना में अर्वाचीन साहित्य श्रेष्ठ या निकृष्ट है। 'अतीत' की चेतना इसलिए आवश्यक है कि वह समीक्षक को न केवल साहित्य की चिरन्तनता का बोध कराती है वरन् 'परम्परा' की वह सहजबुद्धि प्रदान करती है जिससे उसकी समीक्षा मर्मस्पर्शी हो जाती है। जब समीक्षक अपनी समीक्षा-वस्तु को साहित्य के विकास का एक अंग मानकर अग्रसर होता है तो उसकी समीक्षा में साहित्य एक क्रमिक, मार्मिक सावयव स्वरूप में झलकता रहता है। समीक्षा इससे एक प्रकार की पूर्णता पा लेती है क्योंकि वह एक ऐसे अंग का परीक्षण कर रही है जिसे विच्छेद नहीं किया गया है परन्तु जो एक जीवित और स्वचालित प्रणाली द्वारा अनुप्राणित है।

# पारिभाषिक शब्द

## अंग्रेजी–हिन्दी

| | | |
|---|---|---|
| 1. | THREE UNITIES (Of time, place and action) | ऐक्यत्रयी |
| 2. | CONCEPT (General notion of a class of objects different from 'thought') | विचारणा |
| 3. | UNIVERSAL OR IDEA (Philosophical) | विश्वक |
| 4. | LITERARY FORM | स्वरूप |
| 5. | RECOGNITION (In tragedy) | प्रत्यभिज्ञान |
| 6. | REVERSAL (In tragedy) | विपरिणाम |
| 7. | HAMARTIA (Tragic flaw) | आंतरिक दोष |
| 8. | KATHARSIS (Purgation of emotions) | रेचन क्रिया |
| 9. | RHETORIC | अलंकार-शास्त्र |
| 10. | POETIC DRAMA | काव्य-नाटक |
| 11. | CORRECTNESS (Of form, manners in 18 Cent. Lit.) | सम्यक्वाद |
| 12. | OBJECTIVE | वस्तुपरक |
| 13. | SUBJECTIVE | आत्मगत |
| 14. | VERISIMILITUDE | सत्याभास |
| 15. | POETIC IMAGE | चित्र-कल्प |
| 16. | MYTH | कथा-कल्प |
| 17. | STREAM OF CONSCIOUSNESS (In novels) | चेतन सरिता |
| 18. | WIT (In poetry of Non-romantic school) | बुद्धि विलास |
| 19. | DISSOCIATION OF SENSIBILITY (Eliot's term) | भावनात्मक विघटन |
| 20. | SYMBOLISM | प्रतीकवाद |
| 21. | CONTENT | विषयवस्तु |
| 22. | IMPRESSIONISTIC CRITICISM | प्रभाववादी समीक्षा |
| 23. | INTERPRETATION (In criticism) | व्याख्या |
| 24. | IMPERSONAL ART | अवैयक्तिक कला |
| 25. | UNITY (In form) | अन्विति |
| 26. | TRANSCENDENTALISM (Philosophy) | भावातीत परमतत्ववाद |

# पारिभाषिक शब्द

## हिन्दी-अंग्रेजी

| | |
|---|---|
| अनुकरण | Imitation or Memesis |
| अनुक्रिया | Response |
| अभिहस्य | Ludicruous |
| असत्याभास | Paradox |
| अलंकार-शास्त्र | Rhetoric |
| अवैयक्तिक कला | Impersonal Art |
| आन्तरिक दोष | Hamartia |
| कथा-कल्प | Myth |
| कल्पनातरंग | Fancy |
| काव्य-नाटक | Poetic Drama |
| चित्रकल्प | Poetic Image |
| चेतना प्रवाह | Stream of Consciousness |
| दर्शन | Vision |
| द्वन्द्व | Conflict |
| प्रत्यभिज्ञान | Recognition |
| प्रतीकवाद | Symbolism |
| प्रभाव | Impression |
| भव्यता | Grandeur |
| भावनात्मक विघटन | Dissociation of Sensibility |
| भावातीत परमतत्ववाद | Transcendentalism |
| रीतिवाद | Classicism |
| व्याख्या | Interpretation |
| विचारणा | Concept |
| विपरिणाम | Reversal |
| विरेचन | Katharsis |
| विश्वक | Universal |
| संक्रमण | Transitional |
| सत्याभास | Verisimilitude |
| सम्यक्वाद | Correctness |

# संक्षिप्त सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची


1. POETICS —*Aristotle* (Tr. Butcher)
2. ARISTOTLE'S THEORY OF FINE ARTS —*Butcher*
3. ON THE SUBLIME —*Longinus*
4. ARS POETICA —*Horace*
5. LOCI CRITICI —*Saintsbury*
6. LITERARY CRITICISM—a short history —*Cleanth Brooks*
7. APOLOGY FOR POETRY —*Sir Phillip Sidney*
8. SEVENTEENTH CENTURY ENG. CRITICAL ESSAYS (World Classics)
9. EIGHTEENTH CENTURY ENG. CRITICISM (World Classics)
10. SEVENTEENTH CENTURY BACKGROUND—*Basil Willey*
11. COLERIDGE ON IMAGINATION —*I. A. Richards*
12. WORDSWORTH & LIT. CRITICISM —*J. A. Chapman* (World Classics)
13. ON THE SUBLIME & THE BEAUTIFUL —*Edmund Burke*
14. THE POETIC PRINCIPLE —*Edgar Allen Poe*
15. ESSAYS IN CRITICISM —*Mathew Arnold*
16. SPECULATIONS —*T. E. Hulme*
17. PRINCIPLES OF LIT. CRITICISM —*I. A. Richards*
18. PREFACES TO PLAYS —*G. B. Shaw*
19. THE PSYCHOLOGICAL NOVEL —*Leon Edel*
20. SELECTED ESSAYS —*T. S. Eliot*
21. TRADITION & INDIVIDUAL TALENT —*T. S. Eliot* (In Selected Essays)
22. THE USE OF POETRY & USE OF CRITICISM —*T. S. Eliot*
23. TO CRITICIS THE CRITIC —*T. S. Eliot*
24. NOTES ON SOME FIGURES BEHIND T. S. ELIOT —*H. Howarth*

25. THE INVISIBLE POET —*Hugh Kenner*
26. THE PLAYS OF T. S. ELIOT —*D. E. Jones*
27. A VISION —*W. B. Yeats*
28. THE IDENTITY OF YEATS —*Richard Ellman*
29. ON ARISTOTLE & GREEK TRAGEDY —*John Jones*
30. IN EXCITED REVERIE: A Centenary Volume on W. B. Yeats
31. NEW CRITICISM —*J. E. Spingarn*
32. THE BUSINESS OF CRITICISM —*Helen Gardner*
33. PREFACE TO THE POEMS OF BAUDLAIRE —*Enid Starkie*
34. PHANTASIA OF THE UNCONSCIOUS —*by D. H. Lawrence*
35. THE POETIC IMAGE —*by Cecil Day Lewis*